ऋग्वेदीय ब्राह्मणों के आधार पर वैदिक संस्कृति का एक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
(श्रीमती) सौभाग्यवती सिंह

निर्देशक
पं० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी
अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१९७३

प्राक्कथन

दयानन्द शताब्दी समारोह से लौटने पर मेरे पूज्य पिताजी ने अपनी अभिलाषा की कि उनकी कोई सन्तान संस्कृत पढ़े और वैदिक साहित्य का अध्ययन करे । फलस्वरूप बाल्यकाल से मुझे संस्कृत पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ और वैदिक साहित्य पढ़ने की ओर अभिरुचि हुई । शास्त्री की परीक्षा की तैयारी करते समय मुझे प्रथम बार वैदिक साहित्य के विस्तार तथा उसकी विभिन्न उर्मियों का आभास हुआ, किन्तु उससे सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य के अवलोकन से सन्तोष नहीं हुआ|यह साहित्य प्रधानतया पाश्चात्य विद्वानों के परिश्रम का प्रतिफल था । ऐसा प्रतीत हुआ कि अनेक पाश्चात्य विद्वान् अपने पूर्वाग्रहों के कारण उचित चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सके थे । इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रंथ विशेषरूप से समस्या बन गये । एक ओर वैदिक साहित्य की अतिशय प्रशंसा देखने को मिली तो दूसरी ओर उनके "दश पृष्ठ मात्र पढ़ने से क्षोभ होने" की प्रतिक्रिया के भी प्रमाण मिले ।

पूर्व वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल के निर्विवाद विभाजन में एक संधिकाल की आवश्यकता अनुभव होती है, क्योंकि परिवर्तन का धीरे-धीरे होते रहने पर भी उसमें एक सीमान्त अवस्था भी आती है । सीमान्त अवस्था के निकट पहिले तथा बाद का समय, विकास के स्वरूप को समझने में विशेष अर्थ रखता है । वैदिक समाज तथा संस्कृति में परिवर्तन के प्रसंग में ऋग्वेदीय ब्राह्मण कुछ इस प्रकार की भूमिका प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं । अत: जब शोध कार्य करने का अवसर मिला, तब विषय-चुनाव अनायास-सा हो गया । इस सम्बन्ध में मुझे अपने पति, श्री प्रभाकर सिंह तथा उनके मित्र, श्री श्यामनारायण जी से विशेष प्रोत्साहन एवं सहयोग उपलब्ध हुआ ।

तत्पश्चात् मेरे समक्ष वैदिक साहित्य में शोधकार्य हेतु निर्देशन की समस्या प्रस्तुत हुई । जिस उदारता, सौजन्य तथा वात्सल्यपूर्ण स्नेह से परम आदरणीय डा० सरस्वतीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने मुझे शिष्यत्व प्रदान किया, उसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं । उनके आशीर्वाद, प्रोत्साहन एवं समस्या-निवारण के बिना राजकीय सेवा-रत रहते हुए मेरे लिए शोधकार्य सम्पन्न कर पाना कितना सम्भव था,

यह तो स्वानुभव की ही बात है ।

मुझे शोधकार्य में श्रद्धेय डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र--अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से विभागीय सुविधाएं ही नहीं उपलब्ध हुई, वरन् समय-समय पर सत्परामर्श तथा प्रोत्साहन भी मिलता रहा है, जिससे मेरा शोधकार्य सुमार्ग पर चलता रहा । मैं उनके प्रति अत्यन्त अनुगृहीत हूं ।

मैं अपने पति के मित्र, डा० संकटाप्रसाद जी उपाध्याय के प्रति आभारी हूं, जिन्होंने शोधप्रबन्ध की भाषा तथा शैली पर अपने उपयोगी सुझाव दिये ।

शोधप्रबन्ध के टंकण कार्य को जिस सुरुचि से श्री रामस्वित त्रिपाठी, ने पूरा किया है, इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देती हूं ।

सौभाग्यवती सिंह

(सौभाग्यवती सिंह)

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

(च)

संकेत-सूची

अथर्व	-- अथर्व संहिता
आश्व०गृ०सू०	-- आश्वलायन गृह्यसूत्र
आप०गृ०सू०	-- आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप०परि०सू०	-- आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र
आप०श्रौ०सू०	-- आपस्तम्बीय श्रौत सूत्र
ऋ०	-- ऋग्वेद
ऋ०ब्रा०	-- ऋग्वेदीयब्राह्मण
ऐ०ब्रा०	-- ऐतरेय ब्राह्मणम्
ऐ०ब्रा०(क)	-- ऐतरेय ब्राह्मणम् -सायणाचार्य विरचिता टीका (आनन्दाश्रम)
ऐ०ब्रा०(ख)	-- ऐतरेय ब्राह्मणम् षड्गुरुशिष्यविरचित भाष्य-यूनिवर्सिटी आफ ट्रावनकोर
ऐ०आर०	-- ऐतरेय आरण्यक
कात्या०श्रौ०सू०	-- कात्यायन श्रौत सूत्र
कौ०गृ०सू०	-- कौषीतकिगृह्य सूत्रम्
खैलि०सू०	-- खैलिकानि सूक्तानि
गोभि०गृ०सू०	-- गोभिलगृह्यसूत्रम्
तै०सं०	-- तैत्तिरीय संहिता
पात०महा०	-- पातंजल महाभाष्य
बृ०दे०	-- बृहद्देवता
मनुस्मृ०	-- मनुस्मृति
वाज०सं०	--वाजसनेयी संहिता
वै०इं०हि०	--वैदिक इंडेक्स हिन्दी संस्करण
वैदि०पुरा०	-- वैदिक पुराकथा शास्त्र
वैया०सि०कौ०	-- वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
शत०ब्रा०	-- शतपथ ब्राह्मणम्
शांख०ब्रा०	--शांखायन ब्राह्मणम्

शांखा० आर० -- शांखायन आरण्यकम्
शां०गृ०सं० -- सांख्यायन गृह्य संग्रहम् ।
साम० सं० -- सामवेद संहिता

-०-

टंकण सम्बन्धी सूचना

(१) प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध रैमिंग्टन के पुराने माडल पर टंकित हुआ है । अतः निम्नलिखित टंकण यन्त्र में अभावों के प्रति ध्यान आकृष्ट किया जाता है--

(क) ङ्, ञ् आदि के न होने से इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया गया है ।

(ख) आधा "ळ" टाइप में उपलब्ध नहीं है अतः आधे "ळ" के स्थान पर आधा "ळ" प्रयुक्त किया गया है ।

(ग) अवग्रह टाइप में नहीं है ।

प्रथम अध्याय

-o-

भूमिका

-o-

प्रथम अध्याय

-0-

भूमिका

परिचय

ऋग्वेद संस्कृत वाङ्मय का प्राचीनतम निधि है । इससे संबंधित विविध प्रकार का साहित्य भी विकसित हुआ । इस साहित्य का अध्ययन करके तात्कालिक सामाजिक दशा का परिचय प्राप्त करने के अनेकानेक प्रयास हुए हैं और होते रहेंगे । साहित्य की विविधता के अनुसार उससे उपलब्ध सामग्री में भी विविधता स्वाभाविक है । विविध साहित्य की अपनी अपनी सीमाएं हैं, और इस तथ्य को मानकर उसे प्रयोग करना अपेक्षित है । ऋ०ब्रा० ग्रन्थ जो इस शोध-प्रबन्ध के विषय हैं, वैदिक साहित्य के एक प्रमुख अंग हैं ।

यह तो निर्विवाद है कि वेदकालीन समाज कर्मकाण्डप्रधान था । शनैः शनैः यज्ञ कार्य के सम्पादन पर पुरोहित वर्ग का एकाधिकार हो गया और इस प्रकार ब्राह्मण कहलाने वाले वर्ग विशेष द्वारा सम्पन्न होने लगा । ऐसी स्थिति में मन्त्रात्मक यज्ञविधान जनसामान्य के लिए दुर्बोध हो गया । फलतः यज्ञों के विधि विधान एवं प्रयोजन को समझने के लिए और निस्त्रुटि सम्पादनार्थ वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या की आवश्यकता हुई । फलतः ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई । ब्राह्मणग्रन्थों की चर्चा से पूर्व वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक होगा ।

वैदिक वाङ्मय

वेद शब्द ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[१] । ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में वेद शब्द का प्रयोग अक्षरात्मक

१ ऋ० ८.१९.५, तै०सं० १.५८, माध्य०सं० २.२१; १९.७८, अथर्व०सं० १९.६९.१; १९.७२.१; २०.५६.६ ।

मन्त्र संघ अथवा यज्ञादि कर्म विषयक ज्ञान संघात के लिए प्रयुक्त होता था। क्रमशः वेद शब्द का प्रयोग सामान्यज्ञान से लेकर वेदादि विशिष्ट ज्ञान के लिए प्रयोग किया जाने लगा। धीरे-धीरे गौणार्थ से इसका प्रयोग रूढ़ार्थ होता गया।

आरम्भ में वेद शब्द का प्रयोग 'वेदों' के अर्थ में संहि० में मिलता है, जो सामान्यतया ऋग्यजुसाम वेदत्रयी के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होता है[1]। श०ब्रा० में भी इसी अर्थ में ये प्रयोग हुआ है[2]। क्रमशः अथर्व संहिता की भी इसमें गणना की जाने लगी। कालान्तर में वेद शब्द और भी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। इसके अन्तर्गत न केवल चारों संहिता ही, अपितु ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि भी सम्मिलित कर लिए गए। इस प्रकार वेद शब्द वेदों के संकुचित और विपुल वाङ्मय के दोनों रूपों का द्योतक हो गया।

कुछ विद्वानों के अनुसार आरम्भ में मन्त्रों, सूक्तों आदि का केवल बहवृचक का संग्रह था। होता, उद्गाता, अध्वर्यु के कार्यों के आधार पर इसका विभाजन हो जाने पर पृथक् वेद हुए। षड्गुरुशिष्य कृत वेदार्थ भाष्यभूमिका से उद्धृत श्लोकों के आधार पर मैक्समूलर ने यह मत प्रकट किया है[3]। इसी के आधारभूत कीथ ने भी अपने 'ऋग्वेद ब्राह्मण' ग्रन्थ में यह मत व्यक्त किया है[4]। आरम्भ में जो भी स्थिति रही हो, बाद में चारों वेदों की विभिन्न संहिताएं उपलब्ध होती हैं।

वेदों के संहिता भाग के स्वतः प्रामाण्य (जिस भी सन्दर्भ में प्रयुक्त होता हो) में प्रायः किसी का विरोध नहीं है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के

---

१ तैत्ति०सं० ७.५.११.२, अथर्व सं० ७.५७.१; ४.३५.६, ऋ० ८.१९.५, सिल० २५.६, ३३.१८

२ ऐ०ब्रा० ५.२५७-शां०ब्रा० ६.१०-१२

३ मैक्समूलर - ए हिस्ट्री आफ एंशेण्ट संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी)', चौखम्बा संस्कृत सीरीज १५, सन १९६८।

४ कीथ -- 'ऋग्वेदब्राह्मणाज्', पृ० २२।

सम्बन्ध में विविध मत हैं, जिनमें कुछ मत मुख्य इस प्रकार हैं । प्रथम मत के अनुसार ब्राह्मण वेद नहीं है । उन्हें पुराण, इतिहास की कोटि में रखा गया है, क्योंकि वे 'ईश्वरोक्त' नहीं है, किन्तु महर्षियों द्वारा किए गए वेदों के व्याख्यान हैं[१] । दूसरा मत इनको वेद और स्मृतियों का सम्मिश्रण मानता है, क्योंकि इनमें स्वतन्त्र प्रमाण भी दिए गए, जिससे यह स्वतः प्रामाण्य भी बन गए । उदाहरणार्थ ऐ०ब्रा० में दिया गया है कि 'प्रजापति ने बहुत होने की कामना करके तप किया और तीनों लोकों, अग्नि, वायु, आदित्य, ऋग्यजुसाम वेदों तथा भू भुवः स्वः को उत्पन्न किया[२] । तीसरे मत के अनुसार ब्राह्मण वेदों के अंग हैं, केवल संहिता भाग ही वेद नहीं है । यह मत निरन्तर चला आ रहा है और बहु सम्मत है । इसके अनेक उदाहरणों में कुछ निम्नलिखित हैं । ऋग्भाष्यभूमिका में सायण ने मन्त्र ब्राह्मणरूप वेद का 'अदुष्ट' (दोष रहित) लक्षण बतलाया है[३] । पूर्वमीमांसाकार ने मन्त्रों को प्रेरणार्थक तथा शेषार्थ में ब्राह्मण शब्द कहा है[४] । आपस्तम्ब परिभाषासूत्र में मन्त्र ब्राह्मण को वेद नाम दिया गया है[५] । बौधा०श्रौ०सू० में भी मन्त्र ब्राह्मण को वेद ~~नाम दिया गया~~ कहा गया है[६] । सर्वानुक्रमणिका वृत्ति की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ने कहा है कि महर्षि लोग मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं[७] । अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र में मन्त्र और ब्राह्मण को आम्नाय (वेद)

---

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ०३५७- पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात् व्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वाद्... तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति ।

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.७ प्रजापतिरकामयत... इति सामवेदात्

३ ऋग्भाष्यभूमिका-मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावद्वेदस्य अदुष्टं लक्षणम् ।

४ पूर्वमीमांसा - २.१.३२ तच्चोदकेषु मन्त्राख्या
,, - २.१.३३ शेषे ब्राह्मणशब्दः

५ आप परि०सूत्र ३१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्

६ बौधा० श्रौ०सू० २.६.२ मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः

७ सर्वानु० वृत्ति की भूमिका- मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः

कहा है[१]। पूर्वमीमांसा के भाष्यकर्ता शबर स्वामी ने मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा है। कहा है कि मन्त्र का लक्षण कह देने पर परिशेष सिद्ध हो जाने से ब्राह्मण का लक्षण कहना आवश्यक नहीं[२]। महाभाष्य में पतंजलि द्वारा `तत्तुल्यं वेदशब्देन`[३] `लोकतो अर्थ प्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः`, यथा `लौकिक वैदिकेषु`[४], `अनुकरणं शिष्टाऽशिष्टाऽप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिक वैदिकेषु`[५] आदि अनेक स्थलों में दिए गए सम्पूर्ण उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धृत हैं और उन्हें वेद कथन कहा है। मनुस्मृति में `वैदिकी श्रुति` के लिए दिया गया उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थ का है[६]। वाचस्पत्यम् संस्कृतकोश तथा वामनशिवराम आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी कोश में भी मन्त्र व ब्राह्मण भाग को वेद कहा है।

वेद के विभिन्न अंगों का अनेक प्रकार वर्गीकरण किया गया है। कुछ लोग इसको दो भागों, प्रथम में मात्र संहिता तथा दूसरे में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सभी को रखते हैं। आरण्यक और उपनिषद् को अलग मानने पर वैदिक वाङ्मय के चार भाग भी किए जा सकते हैं।

१. संहिता भाग -- इसमें स्तुति, प्रार्थना, याचना आदि के मन्त्रों एवं सूक्तों आदि का संग्रह है।

२. ब्राह्मणभाग -- इसमें मन्त्रों के प्रयोग-विनियोग की चर्चा है।

३. आरण्यक भाग-- यह भाग कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों का अंश है, और कहीं स्वतंत्ररूप में निबद्ध है। इनमें अरण्य निवासी तपस्वियों के द्वारा ऐहिलौकिक तथा पारलौकिक विषयों पर चिन्तन एवं मनन है।

---

१ अथर्व० कौशिक सूत्र १.३ आम्नाय पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च

२ शबरस्वामीकृत पूर्वमीमांसा भाष्य- मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्र लक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्।

३ महाभाष्य १.१.१

४ तत्रैव

५ महाभाष्य १.१.२

६ मनुस्मृतिः २.१५...वैदिकी श्रुतिः

४. उपनिषद्भाग -- यह भाग भी कहीं ब्राह्मण और आरण्यक के साथ है तो कहीं स्वतन्त्र रूप से संकलित है । इनमें ईश्वर, जीवात्मा, संसार आदि विषयों पर चिन्तन एवं दर्शन समुपदिष्ट है ।

वेद के अन्तर्गत माने जाने वाले उपर्युक्त चार भागों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में वेदांग भी आते हैं । इनमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त हैं । कल्प शास्त्र के अन्तर्गत श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र शुल्व सूत्र हैं तथा धर्मसूत्र भी आ जाते हैं । शिक्षा में प्रातिशाख्य, अनुक्रमणी आदि की गणना की जाती है ।

एक अन्य प्रकार से इनका वर्गीकरण संहिताओं के आधार पर भी किया जाता है । प्रत्येक संहिता के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, प्रातिशाख्य, अनुक्रमणी आदि आदि भी होते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक संहिता की अपनी-अपनी शाखाओं के अनुसार (अथवा कहीं अनेक शाखाओं के सम्मिलित रूप से) वैदिक वाङ्मय के अपने-अपने उपर्युक्त ग्रन्थ थे । आज इन सभी परम्पराओं की सभी रचनाएं अब उपलब्ध नहीं हैं ।

उपर्युक्त वैदिक वाङ्मय में संहिता और ब्राह्मण भाग कर्मकाण्ड प्रधान हैं । इनको पूर्वमीमांसा भी कह देते हैं, क्योंकि यज्ञों में मन्त्रों का प्रयोग संहिताओं के द्वारा होता था और ब्राह्मणग्रन्थ उनका विधि अर्थवाद रूप में प्रयोग बतलाते थे ।

इनके विपरीत आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानप्रधान होने से ज्ञानकाण्ड कहे जाते हैं, और इनको 'उत्तर मीमांसा' भी कह दिया जाता है । मीमांसा दर्शन के 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तर मीमांसा' ये दो रूप कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के रूप में आगे चलकर उपलब्ध होते हैं । ये दोनों रूप कर्मप्रधानता और ज्ञान प्रधानता के आधार पर ही किए गए हैं ।

वैदिक वाङ्मय में वेद के अन्तर्गत माने जाने वाले संहिताभाग के मन्त्रों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन ही यहां अपेक्षित है ।

मन्त्र और ब्राह्मण शब्दों का परिचय

मन्त्र -- पूर्वोक्त `मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयः` के अन्तर्गत कहे गए मन्त्र और ब्राह्मण शब्द से क्या अभिप्रेत है, यही यहां विचारणीय है । निरुक्त में यास्क ने लिखा है --`मनन करने से मन्त्र हुए[१] । अपनी-अपनी टिप्पणी करते हुए दुर्गाचार्य ने ऊपर लिखा है कि मन्त्र मनन किए जाने से मन्त्र कहलाते हैं । मननकर्ता इनके द्वारा अध्यात्म अधिदैव तथा अधियज्ञ का मनन करते हैं, यही इनका मन्त्रत्व है । ये छन्दोमय होते हैं[२] ।

वै०इ० में मैकडोनल और कीथ ने तथा डा०सूर्यकांत ने वैदिक कोश में लिखा है, `मन` (विचारना,चिन्तन करना) धातु से मन्त्र शब्द निष्पन्न हुआ । मन्त्र शब्द ऋ० तथा परवर्ती काल में गायकों के सृजनात्मक विचारों के उत्पादन के रूप में `सूक्त` का द्योतक है । ब्राह्मणों में इस शब्द का ऋषियों की पद्यात्मक और गद्यात्मक उक्तियों के लिए नियमित रूप से प्रयोग किया गया है[३] । वैदिक कान्कार्डेन्स की भूमिका में ब्लूमफील्ड[४] ने तथा ऐत० आर० में कीथ[५] ने भी यही विचार व्यक्त किया है । मैकडोनल ने अपनी `वैदिक-ग्रामर` में पद्य अथवा गद्य दोनों ही प्रकार की संहिताओं की समस्त मन्त्र सामग्री को इसके अन्तर्गत रखा है ।

---

१ निरुक्त ७.१२ मन्त्राः मननात्

२ तत्र - मन्त्रा|मननात्|रम्यो छन्दाध्यात्मा... वागुच्चरति

३ मैकडोनल एवं कीथ: वै०इ० (हि०)

४ ब्लूमफील्ड: वैदिक कान्कार्डेन्स भूमिका भाग पृ०८

५ कीथ : ऐतरेयारण्यक पृ० २६८

अवेस्ता में मन्त्र शब्द के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि इण्डो-ईरानी शाखा के पृथक् होने से पूर्व इसका प्रयोग किया जाता था । अतः यह शब्द जेन्द-अवेस्ता तथा ऋ० दोनों में ही मिलता है । डा० मार्टिन हॉग ने ऐ०ब्रा० के अनुवाद की भूमिका में इस पर विचार किया है । डा० मार्टिन हॉग का कहना है कि यह शब्द बहुत पहले से प्रचलित है,क्योंकि जेन्द-अवेस्ता में मन्थ्र (mañthra) रूप में मिलता है । जेन्द अवेस्ता में इसका अर्थ पवित्रप्रार्थना या सूत्र है,जो वैदिक मन्त्रों के समान अभिचारीय प्रभावयुक्त होता है । डा० मार्टिन हॉग का कहना है कि वह भाग, जिसमें देवताओं की स्तुतियां, यज्ञ मन्त्र, आवाहन प्रार्थना आदि है, मन्त्र कहलाता है[1] ।

फरक्युहर तथा ग्रिसवोल्ड ने वैदिक और अवेस्ता के समान शब्दों की एक तालिका दी है और अर्थ भी दिया है । इसमें वैदिक मन्त्र शब्द को अवेस्ता के मन्थ्र (m a ñ t h r a) शब्द के समान रखा है और इसका अर्थ अभिचार मंत्र (spell) दिया है[2] । इससे ज्ञात होता है कि मन्त्र शब्द इण्डो-ईरानी शाखा के साथ रहने के समय से प्रयुक्त होता था । ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त `ब्राह्मणम्` शब्द उस समय अज्ञात प्रतीत होता है ।[3] जेन्द-अवेस्ता में कहीं भी यह शब्द या इसका समानार्थक कोई शब्द नहीं मिलता ।

ब्राह्मणम्

ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों की पूर्व उपस्थिति को स्वीकार करते हैं- । बिना मन्त्रों के ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई अर्थ और अस्तित्व नहीं है, क्योंकि `ब्राह्मणम्` शब्द से सर्वदा वेद के उस भागकी प्रतीति होती है, जो वेद के मन्त्रों की व्याख्या करता है ।

---

१ मार्टिन हॉग -- ऐतरेय ब्राह्मण (भूमिका) भाग१,पृ०२

२ फरक्युहर तथा ग्रिसवोल्ड--`दि रिलीजन आफ ऋग्वेद`, पृ०२०,२१ ।

३ मार्टिन हॉग -- ऐ०ब्रा० की (भूमिका) भाग१,पृ० २-३ ।

'ब्राह्मणम्' शब्द की व्युत्पत्ति पर अनेक विद्वानों द्वारा अपना मत व्यक्त किया गया है । मैकडोनल और कीथ द्वारा वैदिक इण्डेक्स[1] में डा० सूर्यकान्त द्वारा वैदिक कोश[2] में मोनेर विलियम्स के संस्कृत अंग्रेजी कोश,[3] मार्टिन हाग द्वारा ऐ०ब्रा० के अनुवाद की भूमिका[4] में इसके विषय में अपने मत व्यक्त किए हैं । इनके अनुसार वृद्धि अर्थवाली 'बृह' या 'बृंहि' धातु से अथवा प्राधान्य अर्थवाली वर्ह धातु से बने ब्रह्मन् शब्द से 'ब्राह्मण' शब्द बना है । ब्रह्मन् शब्द को अनेक स्थानों पर वेद,मन्त्र,यज्ञ आदि का पर्याय कहा गया है[5] । ब्रह्मन् शब्द से ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति मानते हुए मार्टिन हाग ने ऐ०ब्रा० के अनुवाद की भूमिका में इसके अर्थ के प्रसंग में लिखा है कि जो ब्रह्म पुरोहित को प्रदर्शित करता है,जिसे सभी वेदों का ज्ञान होना चाहिए और यज्ञ के सभी विधि-विधानों से भली प्रकार परिचित होना चाहिए, जो यज्ञ का पूर्ण निरीक्षण कर सकें और त्रुटियों का निराकरण तथा प्रायश्चित विधान आदि कराते हुए यजमान और पुरोहित दोनों की सुखसमृद्धि और स्वर्ग आदि कामनाओं का निष्पादन कर सके, उस ब्रह्म पुरोहित द्वारा प्रयुक्त विधिविधान और आदेश आदि ही ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाए।[6]

ब्राह्मणग्रन्थों का कार्य

ब्राह्मण ग्रन्थों के कार्यों के विषय में अनेक विद्वानों के मतों का उल्लेख है । न्यायसूत्र में वात्स्यायन ऋषि ने ब्राह्मणों की त्रिविध

---

१ वै०इ०डि० भाग २,पृ०८४-१०२

२ डा०सूर्यकान्त : वैदिक कोश,पृ०३४८,बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी,१९६३।

३ मोनेर विलियम कृत संस्कृत अंग्रेजी कोष,पृ०७३७(ब्रह्मन्),पृ०७४१(ब्राह्मण)

४ मार्टिन हाग - ऐतरेय ब्राह्मण (भूमिका)भाग१,पृ०३-६ ।

५(क) ऋ० २.३९.८, २.३७.६, २.४१.१८
(ख)मार्टिन हाग -ऐतरेय ब्राह्मण(भूमिका),भाग१,पृ०४टिप्पणी
(ग)पाणिनी सूत्र-'चरणे ब्रह्मचारिणि'-सिद्धा०कौ० समासाश्रय प्रकरण में सूत्र वृत्ति--ब्रह्मवेद:,तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म ।
(घ)पातंजलमहाभाष्य १.१.१ कैयट तथा नागेशभट्ट की टीका,पृ०३४,३५ वेदाख्ये ब्रह्मणि' एषां पाचि... वेदाख्ये ब्रह्मणि',सर्वोऽपि वेदस्तेषां

(अगले पृष्ठ पर)...

6 प्रयोग विधि, अर्थवाद और अनुवाद बतलाया है[1]। विधान नियम को विधि, स्तुति, निन्दा, प्रशंसा, परकृति, पुराकल्प को अर्थवाद तथा विधिविहित का अनुवचन अनुवाद कहा गया है[2]। वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मणों का प्रयोजन मन्त्रों का नैरुक्त्य, विनियोग और विधि का प्रतिष्ठान बतलाया है[3]। यह न्यायसूत्र गत उपर्युक्त कार्यों के ही समान है। आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मों की प्रेरणा करने वाले (कर्मचोदनाब्राह्मणानि) कहे गये हैं[4]। उसके आगे आपस्तम्ब ने ब्राह्मण ग्रन्थों के विधि, अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा पुराकल्प और परकृति छः कार्य स्पष्ट किए हैं[5]। शाबर भाष्य में हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण कल्पना और उपमान ये दस ब्राह्मणों के प्रयोजन कहे गये हैं[6]। ये प्रयोजन भी उपर्युक्त अन्य प्रयोजनों के समान ही कहे जा सकते हैं। यज्ञों की विधि ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय है। अन्य सभी निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना, उपमान आदि सब अवान्तर रूप से विधि के ही पोषक और निर्वाहक हैं, जिनको मीमांसक आख्या 'अर्थवाद' कहा जा सकता है, जैसा कि न्यायसूत्र में कहा गया है। 'अर्थवाद' में

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
ब्रह्मपरो ऽय ऐषा दुर्गो मार्गो ब्रह्मपः... ।
(द०) शतपथ ब्राह्मण ७.१.२.५
६ मार्टिन हाग - ऐ०ब्रा० (भूमिका), भाग१, पृ०४-६ ।

---

१ न्यायसूत्र ६२ 'विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्
२ न्यायसूत्र ६३ 'विधिर्विधायकः
न्यायसूत्र ६४ स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ।'
न्यायसूत्र ६५ विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ।
३ वाचस्पति मिश्र - नैरुक्त्यं यस्यमन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते ।
४ आपस्तम्बपरिभाषासूत्र ३१.३२ कर्मचोदना ब्राह्मणानि । ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः ।
५ आप०परि०सूत्र ३३
६ शाबरभाष्य २.१.८ हेतुर्निर्वचनं निन्दाप्रशंसा संशयो विधीः
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु

याग निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा और यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा, सहेतुक विधान, प्राचीन आख्यानों द्वारा उनकी पुष्टि, निर्वचन द्वारा स्पष्टीकरण आता है । वेदों के कथन का अनुवचन ही अनुवाद है । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के भाष्यरूप (वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानि) हैं ।

वेदों की विविध शाखाएं तथा उनके उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ

पठन-पाठन की दृष्टि से संकलित संहिताओं की अनेक परम्परायें प्रचलित हो जाना स्वाभाविक था । यह परम्परायें ऋषि विशेष के नाम पर जानी जाती थीं, जिन्हें शाखायें कहा जाता था । किसी वेद विशेष की शाखाओं में आपस में उच्चारण अथवा मन्त्रों के क्रमादि में थोड़ा-बहुत हेर-फेर मात्र ही होता है । सिद्धान्ततः जितनी शाखाएं होंगी, उतनी ही संहितायें उतने ही ब्राह्मण, उपारण्यक आदि होने चाहिए । पातंजल महाभाष्य के अनुसार ऋ० की २१ शाखायें, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखायें थीं । सभी शाखाओं की संहिता, ब्राह्मण आदि अब उपलब्ध नहीं हैं ।

ऋ० की शाकल और बाष्कल दो संहितायें तथा ऐतरेय एवं शांखायन दो ब्राह्मण ही उपलब्ध हैं । यजुर्वेद के कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयी संहिता की काण्व और माध्यन्दिन शाखाओं की दो संहितायें और उन दोनों के पृथक्-पृथक् (किन्तु लगभग समान शतपथ ब्राह्मण उपलब्ध हैं । सामवेद की कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय संहितायें और अनेक ब्राह्मण (ताण्ड्य महाब्राह्मण (पंचविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण), षड्विंश (अद्भुत ब्राह्मण) जैमिनीय, छान्दोग्य, सामविधान, आर्षेय, मंत्र, दैवताध्याय, वंश, (संहितोपनिषद्) उपलब्ध हैं । अथर्ववेद की पिप्पलाद और शौनक दो संहितायें तथा एक गोपथ ब्राह्मण ही उपलब्ध है ।

ऋग्वेद की शाखायें

शांखायनगृह्यसंग्रह, कौषीतकि गृह्यसूत्रम् तथा आश्वलायन-गृह्यसूत्र के तर्पण प्रकरण में आचार्यों के तर्पण हेतु उनका नामोल्लेख किया गया है[1]। इनमें ऋग्वेद के मण्डलों और सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम तथा शाखाओं से सम्बन्धित आचार्यों के नाम तथा दृष्टिगत होते हैं। उदाहरणार्थ शांखायन-गृह्यसंग्रह के तर्पण प्रकरण में निम्नलिखित उल्लेख है :

`अथ प्राचीनावीती पित्र्यां दिशमीक्षमाण: शतर्चिन: माध्यमा: गृत्समद: विश्वामित्र: जमदग्नि: वामदेव:, अत्रि: , भारद्वाज: वसिष्ठ: प्रगाथा: पावमाना: क्षुद्रसूक्त महासूक्ता: सुमन्तु जैमिनी वैशम्पायन: पैल सूत्रभाष्यकृता: गार्ग्यं बभ्रु बाभ्रव्य मण्डु माण्डव्या गार्गी वाचक्नवी वडवा प्रातिथेयी सुलभा मैत्रेयी कहोलं कौषीतकिं महाकौषीतकिं सुयज्ञं शांखायनं आश्वलायनं ऐतरेयं महैतरेयं भारद्वाजं [illegible] जातूकर्ण्यं पैंग्यं महापैंग्यं बाष्कलं गार्ग्यं शाकल्यं माण्डूकेयं महादमत्रम् औदवाहिं महौदवाहिं सौजामिं शौनकिं शाकपूणिं गौतमं ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्त्विति प्रतिपूरुषं पितर: पितृवंशस्तृप्यतु मातृवंशस्तृप्यतु ।`

ऋ० की सर्वानुक्रमणी[2] में कात्यायन ने तथा षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की वेदार्थदीपिका[3] में स्पष्ट किया है कि ऋ० के ऋषियों को तीन भागों में बांटा गया। वी०एस०घाटे ने भी अपने अध्ययन के आधार पर इसकी पुष्टि की है[4]। प्रथम `शतर्चिन:` हैं जो प्रथम मण्डल के ऋषि हैं और जिन्होंने

---

१ शांखा०गृ०संग्रह उदकतर्पण प्रकरणम्;कौषी०गृ०सूत्रम्-४.१०तर्पण प्रकरणम् , कौषी०गृ०सूत्रम्- ६.१ स्वाध्यायारण्यक प्रकरण, आश्व०गृ०सूत्रम् ३.४.२-४, ३.३.३-५।

२ ए० ए० मैकडौनल --कात्यायनस् सर्वानुक्रमणी आफ ऋग्वेद,पृ०१आक्सफोर्ड१८८६ अथ ऋषय:।।१।। [illegible] शतर्चिन: आद्ये मण्डले ऽन्त्यैक्षुद्रसूक्त महासूक्ता: मध्यमेषु मध्यमा: ।

३ तत्रैव पृष्ठ ५६ `आद्यमण्डलस्था ... माध्यमनामान ऋषय: ।

४ वी०एस०घाटे -- लैक्चर्स आन ऋग्वेद,पृ०१३

लगभग १०० ऋचाओं की रचना की । दूसरे `माध्यमा:` कहे गए हैं, जो द्वितीय मण्डल से सातवें मण्डल तक के ऋषि हैं,और जो रचित ऋचाओं की संख्या के अनुसार भी कदाचित् मध्यमकोटि के हैं । तृतीय`क्षुद्रसूक्ताः` और `महासूक्ताः` बताये गये हैं,जिन्होंने ८ वें मण्डल से १० वें मण्डल तक के अपेक्षाकृत छोटे-बड़े सूक्तों की रचना की । इनके अतिरिक्त सूत्र और भाष्यकर्ता ऋषियों का भी उल्लेख प्रतीत होता है, जो `सूत्रभाष्यकृत` से प्रकट होता है । इनमें ऋ० की शाखा कृत ऋषियों का भी निम्नलिखित उल्लेख प्रतीत होता है :

`कहोल कौषीतकि, महाकौषीतकि, सुयज्ञ शांखायन, आश्वलायन, ऐतरेय, महैतरेय,भारद्वाजः, जातूकर्ण्यः, पैंगय, महापैंगय,बाष्कल, गार्ग्यः, शाकल्यः, माण्डूकेयः महादमत्र, औदवाहि,महौदवाहि,सौजामि,शौनक, शाकपूणि गौतमि आदि ।` इनमें कहोल कौषीतकि तथा सुयज्ञ शांखायन नामों के एक होने न होने के विषय में सन्देह है । यदि इनको एक मान लिया जाय जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र(३.४.५-६) सांख्यायन गृह्यसंग्रह तर्पण प्रकरण, शांखायन आरण्यक (१५.१), कौषीतकिगृह्यसूत्र (६.१),बृहदारण्यकोपनिषद् ३.५ आदि में एक साथ पढ़े गये प्रतीत होते हैं तो २१ शाखाओं की संख्या पूर्ण हो जाती है । शांखायन आरण्यक (१५.१) में `वंश` को प्रणाम करने के प्रसंग में सुयज्ञशांखायन न पढ़ा जाकर गुणाख्य शांखायन पढ़ा गया है तथा कहोल कौषीतकि एकसाथ पढ़ा गया है ।

शांखा० गृह्यसंग्रह के तर्पणप्रकरण में उल्लिखित उपर्युक्त नामों से अन्य पुस्तकों में कहीं-कहीं अन्तर भी है । अतः ऋ० की २१शाखाओं के नामों के विषय में अनुमान तो लगाया जा सकता है किन्तु सुनिश्चित प्रकार से नहीं कहा जा सकता है ।

ऋ० की २१ कही जाने वाली शाखाओं में आजकल शाकल और बाष्कल शाखा की संहिता तथा ऐतरेय और शांखायन शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । ऋ० की शाकल,बाष्कल शाखायें दोनों पृथक्-पृथक् हैं, यद्यपि यह दोनों काफी मिलती जुलती हैं । दोनों के अध्याय विभाजन में

अन्तर है ।

शांखायन और कौषीतकि पृथक् ब्राह्मण -- ऋग्वेद की २१ शाखाओं के उल्लेख जिन-जिन पूर्वोचित ग्रन्थों में आये हैं, सभी में शांखायन और कौषीतकि का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख है । आश्वलायन गृह्यसूत्र (३.४.२-४, ३.३.३-५) में तीन प्रमुख गणों का उल्लेख है, माण्डूकेय, शांखायन और आश्वलायन । माण्डूकेय के अन्तर्गत जानन्ति, बाहवि, गार्ग्य, गौतम, शाकल्य, बाभ्रव्य, माण्डव्य, माण्डूकेय,आचार्यों का उल्लेख है । शांखायन गण के अन्तर्गत कहोल कौषीतकि, पैंगय,महापैंगय,सुयज्ञशांखायन आदि आचार्यों का उल्लेख है । आश्वलायन गण के अन्तर्गत ऐतरेय, महैतरेय, शाकल,बाष्कल, सुजातवक्त्र, औदवाहि, महौदवाहि, सौजामि, शौनक, आश्वलायन आचार्यों का उल्लेख है । इन सभी में शांखायन तथा कौषीतकि नाम पृथक्-पृथक् हैं,किन्तु दोनों नाम एक ही गण के अन्तर्गत हैं । अतः दोनों समान प्रतीत होते हैं । शांखायन ब्राह्मण आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित हुआ और उपलब्ध है, किन्तु कौषीतकि ब्राह्मण पुस्तक रूप में उपलब्ध नहीं हो सका ।कीथ ने कौषीतकि का अनुवाद किया है,किन्तु उसके देखने से इसका शांखायन से कोई विशेष भेद दृष्टिगत नहीं होता है । हो सकता है कि कहीं-कहीं ही पाठान्तर हो । साथ ही शांखायन ब्राह्मण नाम से प्रकाशित ग्रन्थ में अनेक स्थान पर कौषीतकि का कथन कहकर पुष्टि की गई है। फलतः इन दोनों में समानता स्वाभाविक है । मैक्डानल[१] तथा विन्टरनित्ज़[२] दोनों ही ने शांखायन तथा कौषीतकि को एक ही ग्रन्थ माना है । केवल मार्टिन हाग का भी ऐसा ही मत है[३] । ऐसा प्रतीत होता है कि यह दोनों ग्रन्थ होंगे तो पृथक् किन्तु अत्यधिक एक समान । कीथ का भी मत इसकी पुष्टि करता है[४] ।

---

१ मैक्डौनल-- ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी रूपान्तर द्वारा चारुचन्द्र शास्त्री),पृ० १६१ ।

२ विन्टरनित्ज-- इण्डियन लिटरेचर(हिन्दी रूपान्तर द्वारा लाजपतराय),पृ० १५६।

३ मार्टिन हाग -- ऐ०ब्रा० (भूमिका),भाग१,पृ० ५३-५४ ।

४ कीथ -- ऋग्वेद ब्राह्मणाज़,पृ० ३७ ।

आश्वलायन,शांखायन,ऐतरेय आदि शाखायें दक्षिण में अब भी प्रचलित हैं । थ्योडोर आफ्रेच ने अपने `वैदिक कैटेलोग` के प्रारम्भ में लिखा है कि ऋग्वेद की शांखायन शाखा गुजरात में और आश्वलायन शाखा कोंकण ब्राह्मणों द्वारा अब भी प्रचलित है[१] । मार्टिन हॉग ने ऐत०ब्रा० की भूमिका में स्पष्ट किया है कि यह ब्राह्मण कार्य रूप में और कण्ठगत रूप में गुजरात महाराष्ट्र के ब्राह्मणों में अब भी प्रचलित है[२], जहाँ इसके सम्पादन किये जाते हुए प्रवर्ग्यादि[३] विविध इष्टियों को मार्टिन हॉग महोदय लिखते हैं कि उन्होंने स्वयं देखा है[३] ।

ऐ०ब्रा० ऐतरेय शाखा का है और शांखा०ब्रा० शांखायन शाखा का है । ऐ०ब्रा० शाकल,आश्वलायन आदि से अधिक मिलता जुलता प्रतीत होता है, तथा शांखा० ब्रा० कौषीतकि, पैंगय आदि शाखाओं से अधिक मिलता जुलता है, प्रतीत होता है । शां०ब्रा० में कौषीतकि, पैंग्य आदि के मत का ही अधिकांशतया उल्लेख किया गया है[४] ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र(३.४.२-४; ३.३.३-५) में माण्डूकेय, शांखायन तथा आश्वलायन तीन प्रमुख गण कहे गये हैं । चरणव्यूह (१.७-८) में वेद पारायणों के अनुसार ऋ० की ५ शाखायें, `आश्वलायनी, शांखायनी, शाकला, बाष्कला माण्डूकायना चेति` हैं । इनमें पूर्वोक्त आश्वलायन गृह्यसूत्र में ऐतरेय का उल्लेख आश्वलायन गण के अन्तर्गत किया गया है तथा शांखायन का उल्लेख शांखायन गण के अन्तर्गत किया गया है।~~तथा शांखायन का~~ ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ० की २१ शाखाओं का समावेश उपर्युक्त आश्व०गृ०सूत्र के तीन गणों या

---

१ थ्योडोर आफ्रेच – कैटेलोगस कैटेलोगोरम आफ संस्कृत मेनस्क्रिप्ट भाग १
वैदिक कैटेलोग प्राक्कथन पृ०५, १८६६ ।

२ मार्टिन हॉग -- ऐ०ब्रा० की भूमिका भाग

३ मार्टिन हॉग -- ऐ०ब्रा० भाग २ पृ०४१-४३ टिप्पणी सं०१

४ शां०ब्रा० २.६; ३.१; ७.४,(लगभग २० बार पैंग्य तथा कौषीतकि का मत उद्धृत किया गया है ।)

चरणव्यूह के ५ गणों के अन्तर्गत है । ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० को देखने से ज्ञात होता है कि इन गणों में पारस्परिक विषयवस्तु के साम्य होते हुए भी वर्णन के ढंग, अध्यायों का न्यूनाधिक्य, पंचिका और अध्याय का विभाजनक्रम, राजसूय का ऐ०ब्रा० में आधिक्य, आदि के रूप में वैषम्य भी है । यह वैषम्य सम्भवत: एक गण से सम्बन्धित सभी शाखाओं में रहा होगा, क्योंकि एक गण के अन्तर्गत शाखा वाले मतों का भी इनमें अधिकांशत: उल्लेख दृष्टिगत होता है । आजकल केवल दो ही ब्राह्मणग्रन्थों के उपलब्ध होने से इस विषय में निश्चितरूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है ।

उपर्युक्त आश्वलायन गृह्यसूत्र के गणों के अन्तर्गत आचार्यों के नामोल्लेख को देखने से ज्ञात होता है कि ऋ० की शाकल और बाष्कल दोनों शाखायें आश्वलायन गण से सम्बन्धित हैं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आनन्दाश्रम, पूना द्वारा प्रकाशित ऐतरेय ब्राह्मण (सम्पा० विनायक गणेश आप्टे) तथा शांखायन ब्राह्मण (सम्पा० हरिनारायण आप्टे) को आधारभूत मूलग्रन्थों के रूप में प्रयोग किया गया है । अत: इन दोनों ग्रन्थों का विशेष परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है ।

ऋग्वेद के उपलब्ध दोनों ब्राह्मणों का परिचय

ऐतरेय ब्राह्मण

ऐ०ब्रा० महिदास ऐतरेय की रचना है । महर्षि ऐतरेय को ऐ०ब्रा० तथा ऐ०आर० के पृथ्वी देवता के द्वारा प्रतिभासन होने के सम्बन्ध में आख्यायिका कही गई है । आचार्य सायण ने[1] लिखा है कि ऐतरेय ब्राह्मण के

---

१ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१ (भूमिका) प्रकृतस्य तु ब्राह्मणस्यैतरेयकत्वे ...तस्या इतराया: पुत्रो महिदासाख्य: कुमार: .... तदनुग्रहाच्च महिदासस्य मनसा ऽग्निर्वैदेवानामवम... ब्राह्मणमाविरभूदिति ।

आविर्भाव के विषय में सम्प्रदायविद इस आख्यायिका को कहते हैं कि किसी महर्षि की इतरा नामिका पत्नी के पुत्र यह महिदास थे । पिता का अन्य पत्नियों के पुत्रों में स्नेह होने के कारण एक बार यज्ञसभा में उनको गोदी में न बैठाकर अन्य पुत्रों को बैठा लेने से खिन्न मन महिदास को जानकर उनकी माता ने अपनी कुलदेवता पृथ्वी को याद किया । पृथ्वी देवता ने यज्ञ सभा में प्रकट होकर महिदास को दिव्य सिंहासन प्रदान कर उस पर बैठाकर उसे विद्वान् समझकर इस `ब्राह्मण` के प्रतिभासन का वरदान दिया । उसके अनुग्रह से महिदास ने ऐ०ब्रा० एवं ऐ०आर० की रचना की ।

ऐतरेय ब्राह्मणारण्यक कोष में केवलानन्द सरस्वती लिखते हैं कि आजकल कुछ विद्वान् इस कथा में परिवर्तन मानते हैं । उनके अनुसार इतरा त्रिवर्णों से भिन्न शूद्रवर्णीया थी । शूद्र कृषक आदि भूमि को ही देवता मानते हैं,इसलिए इतरा का पितृकुल देवता भी ही अपना देवता था[1] ।

श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि कथानक के अनुसार ये किसी शूद्रा इतरा के पुत्र थे, परन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्य थोड़ा सा भी प्रतीत नहीं होता । अवेस्ता में ऋत्विज अर्थ में व्यवहृत `रथ्रेय` शब्द उपलब्ध होता है । विद्वानों का अनुमान है कि `ऐतरेय` शब्द भी इसी रथ्रेय से साम्य रखता है तथा इसका भी अर्थ ऋत्विज ही है[2] ।

मैसूर विश्वविद्यालय में `मैसूर प्राच्य[3] कोशागारस्थ लिखित

---

१ केवलानन्द सरस्वती - ऐतरेय ब्राह्मण- अरण्यक कोष: प्रस्ताव: पृ०४

२ बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य व संस्कृति,पृ० २०५(द्रष्टव्य--डा० तारापुर वाला का लेख प्रथम ओरियण्टल कान्फ्रेन्स की लेखमाला,भाग१,पूना १९१८)

३ यूनीवर्सिटी आफ मैसूर,ओरियण्टल लाइब्रेरी पब्लिकेशन्स । `ए डिस्क्रिप्टिव केटेलोग आफ दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट इन दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मैसूर, बाई एम०एस० बासवलिंगम् एण्ड विद्वान् टी०टी०निवास गोपालाचार भाग १ वेदान्त--ऐतरेय ब्राह्मणम्,नं०७६(सी ४६०)एज् आफ मैनुस्क्रिप्ट, `ओल्ड` प्रिंटेड बाई असिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेण्ड,गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस, मैसूर । १९३७ई०।

संस्कृत ग्रन्थ सूची सविवरण प्रथम सम्पुटम् वेदाः` में हस्तलिखित पुस्तक विवरण में श्री एम०एस० कसवलिंगम् तथा विद्वान् टी०टी०श्रीनिवासगोपालाचर ने हस्तलिखित `ऐतरेय ब्राह्मणम्` पर टिप्पणी लिखते हुए महिदास ऐतरेय के शूद्रत्व के विषय में लिखा है कि कुछ आधुनिक महिदास को यज्ञ सभा में दूर कर देने से तथा दासान्त नाम होने तथा ऋषि आदि पद न होकर विद्वान् कहने से महिदास को दासीपुत्र मानते हैं, किन्तु यह कौतुकपूर्ण ही प्रतीत होता है, क्योंकि पिता की गोद से दूर कर देने से दासीपुत्र माना जाय तो उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के विषय में भी ऐसा ही है, परन्तु उसे तो कोई दासीपुत्र नहीं कहता तथा अनेक पत्नियां होने पर किसी पत्नी तथा उसके बच्चों के प्रति स्नेहातिशय अथवा न्यूनस्नेह होने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। दास शब्द के अन्त में होने के कारण यदि उसे दासीपुत्र कहा जाय तो यह भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दिवोदास, सुदास आदि श्रेष्ठ क्षत्रिय भी दासीपुत्र हो जायं। माता को `इतरा` नाम होना जो उसके द्विजातियों से इतर होने का बोधक माना जाय, उसके भी प्रमाण नहीं प्राप्त होते। इसका `इतरा` नाम पतिस्नेह के अभाव का कारण हो सकता है।

पृथ्वी की कृपा से दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के उपर्युक्त उल्लेख के कारण `मह्याः भूमेः दासः मानवः इत्यर्थः महिदासः` कहा जा सकता है। नाम की व्याख्या करने से महिदास ऐतरेय का अलौकिक होना भी प्रतीत होता है` मह्याः भूमे इतरा द्यौ स्वर्गो लोको वा तस्या अयम् ऐतरेयः आध्यात्मिकयः दिव्यज्ञानमयः पुरुषो[1] वा कश्चित् इत्यर्थः।

श्री वी०एस० घाटे ने अपने लेक्चर्स में `इतरा` शब्द से तात्पर्य `पिता की विवाहिता स्त्रियों से इतर स्त्री` लिया है तथा इसी कारण महिदास की अवमानना होना माना है। किन्तु यह तथ्य कुछ विशेष प्रकाश नहीं डालता, क्योंकि `इतरा` शब्द को यदि अभिधान मात्र माना जाय तो तब तो

---

१ श्री वी०एस०घाटे : लेक्चर्स आन ऋग्वेद, पृ०३४ (श्री वी०एस०सुक्थंकर द्वारा सम्पादित)।

कोई और प्रश्न ही नहीं उठता । यदि अभिधान न माना जाय, तो सार्थकता के अनुसार और भी अर्थ हो सकते हैं यथा मुझे: 'इतरा' 'दिव्या' प्रियासु स्त्रीषु 'इतरा' 'अप्रिया' इत्यादि । टिप्पणी में उपर्युक्त उद्धरण को स्पष्ट करते हुए वी०एस० घाटे ने लिखा है कि भारतीय ऐतरेय को अवेस्तन 'एओरा' से कदाचित् सम्बन्धित किया जा सके ।

उपर्युक्त विद्वानों के कथनानुसार यदि महिदास को शूद्रा माता का पुत्र माना भी जाय तो भी ऐतरेय ब्राह्मण में आये हुए कवष ऐलूष कथा के अनुसार शूद्रा पुत्र को ज्ञान के आधार पर ऋषित्व प्राप्त हो जाता था[१] ।

विषय-वस्तुविभाजन

ऐ०ब्रा० में ८ पंचिका ४० अध्याय तथा २८६ खण्ड हैं । प्रत्येक पंचिका में ५ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में खण्ड हैं, जिनकी पृथक्-पृथक् संख्या है ।

ऐ०ब्रा० में आरम्भ के सोलह अध्यायों में सोमयाग की प्रकृति अग्निष्टोम का वर्णन किया गया है । यज्ञों की प्रकृति विकृति के विषय में सांस्कृतिक अध्याय में यज्ञ के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा । प्रारम्भ में १४ अध्यायों में दीक्षणीयेष्टि, प्रायणीयेष्टि, सोमक्रयण, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्येष्टि, उपसद, अग्निसोमप्रणयन, हविर्धानप्रणयन, पशुयाग, प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीयसवन, उदयनीय अवभृथ आदि का उल्लेख है । १५ से १७ अध्याय तक सोमयज्ञ की विकृति उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, तथा आश्विनशस्त्र का वर्णन है । १७ वें अध्याय के छठे खण्ड से १८ वें अध्याय तक दीर्घ समय तक चलने वाले सत्रों का वर्णन है । सत्रों में ३६१ दिन (संभवतः तात्कालिक एक वर्ष) तक चलने वाले गवामयन का वर्णन किया गया है, जो सत्रों की प्रकृति माना जाता था । १९ से २४ वें अध्याय तक द्वादशाह का वर्णन किया गया है।

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.१

२५ वें अध्याय में अग्निहोत्री, अग्निहोत्री गौ तथा प्रायश्चित्तों का वर्णन है। २६ से ३० अध्याय तक ग्रावस्तुत, सुब्रह्मण्य, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसि, अच्छावाक नामक अन्य होता ऋत्विजों के कार्य तथा पृष्ठ्यषडह सोमयज्ञ में पढ़े जाने वाले सूक्तों का उल्लेख है। ३१ वें अध्याय में पशु के ३६ विभाजन तथा उसमें पुरोहित आदि सबके भागों का वर्णन है। ३२ वें अध्याय में आहिताग्नि पर आपत्तियों के समय अग्निहोत्रविधान का उल्लेख है। यह २५ वें अध्याय का सातत्य प्रतीत होता है। ३३ वें अध्याय से राजसूय यज्ञ का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। इस अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप आख्यान है, जो अभिषेक के बाद राजा को सुनाया जाता था। ३४ से ३६ अध्याय तक पुनरभिषेक ऐन्द्र महाभिषेक, पौरोहित्य कार्य व उसके महत्त्व का उल्लेख है। ४० वें अध्याय में 'ब्रह्मपरिमर' नामक शत्रुओं को नष्ट करने के लिए आभिचारिक कृत्य का वर्णन है। राजसूय यज्ञ के वर्णन से युक्त अध्याय ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है।

शांखायन ब्राह्मण

शां०ब्रा० शांखायन ऋषि द्वारा प्रोक्त है। महिदास ऐतरेय के समान शांखायन के विषय में न तो कोई कथा और न उद्धरण प्राप्त होते हैं। इस ब्राह्मण के अन्तर्गत कौषीतकि के मत को अनेक स्थानों पर चर्चा हुई है, किन्तु इन ऋषि के बारे में भी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

शांखायन ब्राह्मण में ३० अध्याय हैं और २७६ खण्ड हैं। प्रत्येक अध्याय में खण्डों की संख्या पृथक् है। शां०ब्रा० में ७वें अध्याय से सोमयाग का वर्णन प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व इष्टियों आदि का वर्णन है। पहले अध्याय में अग्न्याधान, दूसरे अध्याय में अग्निहोत्र, तीसरे में दर्श पौर्णमास इष्टि, चौथे में आग्रयण आदि नवान्नेष्टि तथा अन्य इष्टियां, पांचवें में चातुर्मास्य यज्ञ, छठे में ब्रह्मा पुरोहित के कार्य, अग्न्याधान से चातुर्मास्य इष्टिपर्यन्त सब हविर्यज्ञों की प्रशंसा तथा महादेव के विविध रूपों का वर्णन है। सातवें से सोलहवें तक दीक्षणीयेष्टि, प्रायणीयेष्टि, सोमक्रय, आतिथ्येष्टि, अग्निमन्थन,

बलिपशुप्रशंसा, प्रवर्ग्येष्टि, उपसद्, अग्निप्रणयन, हविर्धानप्रवर्तन, सोमप्रणयन, यूपनिर्माण, पशु याग, द्विदेवत्य ग्रह आदि का वर्णन है । सोलह तथा सत्रह अध्याय में सौत्रामणि उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, आदि सोमयाग के विकृतियागों का उल्लेख है । अठारहवें से पुनः सोमयाग सम्बन्धी आश्विनशस्त्र, अवभृथ, पशुपुरोडाश, देविकाओं की हवि, अभिप्लव षडह, पृष्ठ्यषडह, अभिजित, विषुवन्तदिवस, विश्वजित आदि का वर्णन है । छब्बीसवें में दीर्घसमय तक चलने वाले सत्रों में व उनकी प्रकृति गवामयन यज्ञ का उल्लेख है । सत्ताइस से तीस तक पुनः सोमयाग सम्बन्धी वर्णन है ।

दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों में साम्य-वैषम्य

दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु एक ही मूल से सम्बन्धित दृष्टिगोचर होती है । दोनों में सोमयागों का प्रमुख वर्णन है । ऐ०ब्रा० में क्षत्रियों द्वारा किए जाने वाले राजसूययज्ञ, ऐन्द्रमहाभिषेक, ब्रह्मपरिमर आदि का विशिष्ट वर्णन है । शां०ब्रा० में चातुर्मास्य तथा नवान्न सम्बन्धित अन्य इष्टियों आदि का भी उल्लेख है । ऐ०ब्रा० में अग्निहोत्र से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों आदि का उल्लेख है, जो शां०ब्रा० में दृष्टिगोचर ह नहीं होता ।

ऐ०ब्रा० में विषय-वस्तु अधिक विस्तृत रूप से एवं व्याख्यानात्मक ढंग से कही गई है । शां०ब्रा० की विषय-वस्तु अपेक्षाकृत अधिक सघन व संक्षिप्त और क्रमानुसार नियोजित है ।

ऐ०ब्रा० में राजसूय के प्रसंग में पुरोहित की आभिचारिक शक्ति का विशद् रूप से वर्णन किया गया है । शां०ब्रा० में ऐसा वर्णन नहीं है । शां०ब्रा० में स्थान-स्थान पर पैंग्य और कौषीतकि आदि के मतों का उल्लेख है । ऐ०ब्रा० में आश्वलायन और शाकल्य के मत का उल्लेख है, किन्तु वह भी बहुत ही कम है । पैंगय और कौषीतकि के मतों का दो-एक बार उल्लेख है । किन्तु ऐ० ब्रा० में शांख्यान का और शां०ब्रा० में ऐतरेय के मतों का कोई उल्लेख नहीं है ।

शां०ब्रा० में महादेव का आविर्भाव और उसके विविध नामों का उल्लेख है । ऐ०ब्रा० में महादेव का उल्लेख नहीं आता है, किन्तु 'भूतपति'

(ऐ०ब्रा० ३.१३.६) का आविर्भाव होता है और उसे `पशुमत` संज्ञा भी दी गई है, जो बाद में महादेव के पर्यायों के रूप में मानी गयी है। `रुद्र` का उल्लेख तो दोनों ब्राह्मणों में है, जो ११ रुद्र माने जाते थे, किन्तु यह उस समय महादेव का वाचक नहीं प्रतीत होता। अन्य देवताओं के अन्तर्गत ११ रुद्र देवों के समान हैं। ऐ०ब्रा० में नामानिर्दिष्ट आख्यान में एक `कृष्णवासस` का उल्लेख है, जिसे सायण ने रुद्र स्पष्ट किया है। इन उल्लेखों से महादेव का आविर्भाव तो ऋ०ब्रा०काल में हो गया प्रतीत होता है, किन्तु ऐ०ब्रा० की अपेक्षा शां०ब्रा० में महादेव के रूप का अधिक विकास प्रतीत होता है।

ऋग्वेद-ब्राह्मणों का रचनाकाल

ह्विटनी ने अपनी संस्कृत व्याकरण में ठीक ही लिखा है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय की तिथियाँ ऐसी ही हैं, जैसे हम कुछ दिन खड़ी करके एक योजना को रूप देना चाहें, किन्तु बार-बार हमें नक्शा बदलना पड़े[1]। इस प्रकार के शब्द कितने विद्वानों ने कितनी ही तरह दुहराये हैं, और कोई समाधान अब तक नहीं हो सका है। वैदिक वाङ्मय की तिथियों को निश्चित करने में विद्वानों में काफी मतभेद है, जिसके अनेक कारण हैं।

प्रथम, तो प्राचीन भारत में मिस्र की भाँति कोई सन-संवत की परम्परा नहीं मिलती। राज्यकाल तथा अन्य घटनाओं में कोई क्रमबद्धता के प्रमाण नहीं हैं। फलतः इस युग को इतिहास से परे प्रागैतिहासिक कहना पड़ता है। दूसरे, वैदिक साहित्य में आन्तरिक प्रमाणों का भी अभाव है। यह

---

१ विंटरनित्ज़ : इण्डियन लिटरेचर का हिन्दी रूपान्तर `प्राचीन भारतीय साहित्य` अनुवादक लाजपतराय (मोतीलाल बनारसीदास), प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० २०।

(ह्विटनी : इण्ट्रोडक्शन टु हिज़ संस्कृत ग्रामर)

आन्तरिक प्रमाण सामान्यतया रचयिताओं के जीवन चरित्र,घटनाओं के विशद् विवरण आदि के रूप में साधारण रूप से उपलब्ध हुआ करते हैं । अन्य वैदिक ग्रन्थों की तरह ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इनका अभाव है । भाषा के आधार पर रचनाकाल सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष निकालने के प्रयास किए गए हैं,किन्तु यह भी अधिक सफल नहीं है । कुछ विद्वानों ने ज्योतिष सम्बन्धी सूचना का विश्लेषण करके समय को निर्धारण करने के प्रयास किए हैं, जिनमें बालगंगाधर तिलक तथा प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् याकोबी के नाम उल्लेखनीय हैं ।

तीसरे, वैदिक साहित्य धार्मिक कर्मकाण्डों[1] तथा आध्यात्मिक रहस्यों की चर्चा से भरा हुआ है,और जब वेद को यज्ञपुरुष[2], प्रजापति और स्वतः[3] आविर्भूत ज्ञान से जोड़ दिया गया, तो फिर उसमें समय निर्धारण की बात ही कहां उठती है ।

चौथे,पुरातत्व अन्वेषणों के आधार पर रचना-काल निर्धारण किए जाते हैं,किन्तु वैदिक सभ्यता के आदि स्रोत से संबंधित इस प्रकार के निर्णायकप्रमाणों का भी अभावहै । यदि मोहेनजोदड़ों से प्राप्त लिखित मुहरों पर अंकित सूचना का अनावरण हो जाता तो एक बहुत बड़ा पर्दा सामने से हट पाता । आर्य सभ्यता से सम्बन्धित भारत से बाहर भी खुदाइयों के आधार पर अधिक सूचना नहीं मिली है । एशिया माइनर में बोगाजकोई की खुदाई से मिले प्रमाणों पर वेदों का काल निर्धारण १४००ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है । कहने का सारांश है कि रचनाकाल के बारे में तिथि निर्धारण अभी भी अंधकार में है ।

इतना अवश्य है कि वैदिक वाङ्मय के विभिन्न अंगों के आपस में अपेक्षाकृत कालक्रम के बारे में कुछ मत बहुत कुछ निश्चितरूपसे रखे जा

---

१ ऋ० १०.९०.६

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.७; शां०ब्रा० ६.१०

३ निरुक्त १.२०

सकते हैं । इसमें इन ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाण ही सहायक होते हैं, जैसे विषयवस्तु,भाषा, तथा रचयिताओं के नाम आदि की सूचना । इन आधारों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि ऋ०ब्रा० ऋग्वेद के बाद की रचना तो है ही, अर्थात् ऋग्वेद आदि इस समय तक संहिता रूप ले चुके थे । हो सकता है कि इससे पूर्व भी ब्राह्मण ग्रन्थों जैसी कर्मकाण्ड के निर्देशार्थ कुछ सामग्री रही होगी,किन्तु उसको सुनियोजितपाठ में इसे किया गया ।

कुछ विद्वानों ने रचनाकाल से सम्बन्धित तिथियां निश्चित करने के प्रयास किए हैं । मैक्समूलर ने ब्राह्मणकाल ८००-६००ई०पू०माना है[१] । ज्योतिष गणना के आधार पर बालगंगाधर तिलक और याकोबी के अनुसार ब्राह्मणों का काल २५००-४५००ई०पू० तक जाता है । ब्राह्मण युग में कृत्तिकाओं की स्थिति उत्तरायण में वर्णित है,जब कि कुछ वैदिक स्थलों में उत्तरायण का योग मृगशिरा के साथ बताया गया है । कृत्तिकाओं का यह दो प्रारम्भिक स्थितियां २५००ई०पू० तथा ४५००ई०पू० स्थिर होती हैं । शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपनी पुस्तक `भारतीय ज्योति-शास्त्र` में शत०ब्रा० का उद्धरण दिया है,जिसमें शत०ब्रा० का समय कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय होने का वर्णन मिलता है । बालकृष्ण दीक्षित की गणनानुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३०००वि०पू० में रही होगी[२] । शत०ब्रा० की रचना ऋ०ब्रा० के बाद है । अत: इनके अनुसार ऋ०ब्रा० का ३०००वि०पू० से पहले रचा जाना सिद्ध होता है ।

काल निर्णय के यह सब प्रयास अपने में पूर्ण प्रतीत नहीं होते । यदि बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव,जिसके विषय में कोई प्रागैतिहासिकता नहीं है,ईसा से पूर्व छठी शताब्दी (ई०पू०५६३ बुद्ध जन्म तथा ई०पू०४८३निर्वाण) है,तो

---

१ विंटरनित्ज़ : `इण्डियनलिटरेचर` का हिन्दी रूपान्तर `प्राचीन भारतीय साहित्य`,पृ०२२६ ।

२ बलदेव प्रसाद उपाध्याय : वैदिक साहित्य`,पृ०८१-८२ पर उद्धृत (शंकर बालकृष्ण दीक्षित: भारतीय ज्योति:शास्त्र पूना,१८६६ई०,पृ०१३६-१४०।

वैदिक कर्मकाण्ड का सुगठित किया जाना इससे पूर्व का समय तो होना ही चाहिए, और कम से कम इतने पूर्व का कि उस काल तक उसके अनुयायी ऋत्विजों में एक प्रबल प्रतिक्रिया हो चली हो, उस अतिप्राचीनसमय में ऐसे परिवर्तन की मांग के लिए कई सौ वर्षों का अन्तर होना चाहिए । इस आधार पर मैक्समूलर महोदय का विचार तो किसी प्रकार ग्राह्य प्रतीत नहीं होता ।

विद्वानों का मत है कि ऐ०ब्रा०शां०ब्रा० की अपेक्षा पहले का है । इसके लिए कुछ प्रमाण मिलते हैं, किन्तु ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिसके कारण इसके कुछ अंश शां०ब्रा० के बाद के रचित प्रतीत होते हैं । ऐ०ब्रा० की शैली ऐसी सुगठित नहीं है, कि उसे एक ही समय की सुनियोजित रचना कहा जा सके । शां०ब्रा० की विषयवस्तु ऐ०ब्रा० की अपेक्षा क्रमशः अधिक सुनियोजित है ।

ऐ०ब्रा० में सोमयज्ञ के साथ-साथ राजसूय यज्ञ का भी विवरण है । किन्तु इसके आधार पर भी कोई निश्चित मत नहीं हो सकता है । यह भी हो सकता है कि ऐ०ब्रा० की कुछ रचना पुरानी हो और उसका संकलन बाद में किया गया हो । इसका सन्देह इसलिए होता है कि राजसूय यज्ञ का विवरण इस बात का द्योतक है, कि इस समय तक कुछ बड़े बड़े राज्यों की स्थापना हो चली होगी और आर्यजन केवल पशुचारण और जनबस्तियों के स्तर से आगे निकल चुके होंगे ।

शां०ब्रा० में सोम का चन्द्रमा के रूप में उल्लेख है, ऐ०ब्रा० में नहीं है । ऐसा प्रकट होता है कि सोम जब चन्द्रमा के रूप में भी माने जाने लगा होगा तब शां०ब्रा० की रचना हुई होगी । ऐ०ब्रा० में सोम का काफी वर्णन है, शां०ब्रा० में इतना नहीं है ।

ऐ०ब्रा०तथा शां०ब्रा० में चारों वर्णों का उल्लेख है, किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र के पूर्ण विकसित रूप का उल्लेख पुरुषक्रम के अन्तर्गत ऐ०ब्रा० में उपलब्ध होता है, शां०ब्रा० में नहीं । शां०ब्रा० में 'शूद्र' शब्द का उल्लेख केवल एक बार आया है । ऐ०ब्रा० में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में कई बार आया है । शां०ब्रा० में 'दास' शब्द का उल्लेख है, किन्तु ऐ०ब्रा० में नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है

कि ऐ०ब्रा० के अंश उस समय जुड़े हों जब वर्ण समाज में अपनी स्थिति प्राप्त कर चुका होगा ।

इन तथ्यों से किसी निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं प्रतीत होता । ऐ०ब्रा० शां०ब्रा० से पूर्व की रचना तो प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा प्रकट होता है कि इसमें बाद तक समायोजन होता रहा ।

ऋग्वेद ब्राह्मणों की भाषा एवं शैली

भाषा

ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों की भाषा अधिकांशतया गद्य है और प्राय: मिलती-जुलती है । भाषाप्रवाह क्रम में इनकी भाषा ऋ० की भाषा के पश्चात् और पाणिनी द्वारा नियमबद्ध लौकिक संस्कृत से पूर्व की है । ऋ० के मन्त्रों के थोड़े-थोड़े अंशों का प्रतीकरूप में पूर्ण ग्रन्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है । उदाहरणार्थ, ऐ०ब्रा० के निम्नलिखित उद्धरणों में से एक में दो मन्त्रों के अंशों को उद्धृत कर उनका विनियोग बतलाया गया है[1] तथा दूसरे में २१ मन्त्रांश उद्धृत हैं[2] । इसी प्रकार शां०ब्रा० के निम्न उद्धरण में ९ ऋचाओं के प्रतीकों का संकेत किया गया है[3] । कहीं-कहीं पूरे मन्त्र भी उद्धृत हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् अंश लेकर उनको विधि, अर्थवाद के अनुसार स्पष्ट किया गया है[4] ।

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.४ `त्वमग्ने सप्रथा असि``सोमयास्ते मयोभुव` इत्याज्यभागयो: पुरोनुवाक्ये अनुब्रूयात् ।

२ ऐ०ब्रा० १.४.५ उपाह्वये सुदुघां धेनुमेतां... इत्येकविंशतिरभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम् ।

३ शां०ब्रा० १.४ अग्न आयाहि वीतये ऽ ग्निदूतं वृणीमहे... मत्यों दुव इत्येतासामृचां प्रतीकानि विभक्तय:... ।

४ ऐ०ब्रा० २.७.२

मन्त्रांशों को स्पष्ट करते समय मन्त्र के उन अंशों को दुहराते हुए गद्य में स्पष्ट किया गया है । दोनों ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों के प्रसंग में उद्धृत मन्त्रों के विनियोग को बतलाया गया है । अतः इन स्थलों पर क० की भाषा है तथा स्पष्टीकरण की भाषा मिश्रित है ।

क०ब्रा० में मन्त्रांशों के अतिरिक्त छन्दोबद्ध गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है । ऐ०ब्रा० में गाथाओं का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है । राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत और शुनःशेप आख्यान में विशेषरूप से इनका प्रयोग हुआ है[1] । यह गाथाएं अनुपम और असाधारण है तथा गद्य रचना से पूर्ववर्ती प्रतीत होती हैं । शां०ब्रा० में छन्दोबद्ध रचनाओं का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम है और जो कुछ हैं भी, वह भी पुस्तक के सम्पादन तथा मुद्रण के कारण गद्य के साथ ही छाप दिए जाने के कारण गद्यरूप ही प्रतीत होते हैं । निर्णयसागर प्रेस से मूल रूप में छपे ऐ० ब्रा० में गाथाओं को विरामों से पृथक् कर दिया गया है[2] । किन्तु शां०ब्रा० में ऐसा कुछ नहीं है[3] ।

क०ब्रा० में छन्द मन्त्रों के अतिरिक्त गद्य मन्त्रों का प्रयोग भी किया गया है । किन्तु उनका प्रयोग अधिक नहीं है । पशु विशसन के सम्बन्ध में गद्य मन्त्रों का प्रयोग हुआ है । शां०ब्रा० की अपेक्षा ऐ०ब्रा० में उल्लिखित पशु विशसन सम्बन्धी गद्यात्मक मन्त्रों की भाषा अधिक विशिष्टतापूर्ण है[4] ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.१-६; ८.३६.७-६ ।

२ ,, (मूल) पाण्डुरंग जावजी द्वारा प्रकाशित, निर्णयसागर प्रेस, २६-स्कैलमाट लेन बम्बई, शके १८४७, सन् १६२५ई०। पंक्ति ७.८ में गाथायें ।

३ शां०ब्रा० (मूल) हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना सन १६११, अध्याय २७.१- शुद्रान्नो एनान्प्रसृदाणि ... अयनं मे अस्तीति ।

४ ऐ०ब्रा० २.६.६-७; शां०ब्रा० १०.४-६

इन दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों में आये हुए मन्त्र या मन्त्रांशों में उच्चारण स्वरों के प्रयोग के लिए स्वर विन्यास नहीं किया गया है । यह समीचीन भी है, क्योंकि यहां उनका प्रयोग केवल उन मन्त्रांशों के यज्ञ में यथोचित स्थान पर प्रयोग को बतलाने के लिए ही किया गया है ।

ऐ०ब्रा० में शां०ब्रा० की अपेक्षा विषयवस्तु को आख्यानात्मकरूप से अधिक समझाने के कारण भाषा कुछ मनोवैज्ञानिक रूप से अधिक सहजावबोध प्रतीत होती है । उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग जो दोनों में उल्लिखित हैं, जैसे नाभानेदिष्ठ[1] कवषऐलूष[2], पशुविशसन[3] इत्यादि ऐ०ब्रा० में कुछ अधिक विस्तृत रूप से वर्णित होने के कारण सहज और सुबोध प्रतीत होते हैं ।

दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से कठोरता से आबद्ध है । उनमें वैदिक-लौकिक व्याकरण सम्मत शब्दों और वाक्यों का प्रयोग हुआ है । ऐ०ब्रा० की भाषा ऋ० की भाषा से अधिक समीप कही जा सकती है[4] और शां०ब्रा० की भाषा पाणिनी की भाषा के अधिक समीप कही जा सकती है[5] । अनेक स्थलों से यह प्रकट होता है ।

शैली

ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० इ दोनों की शैली में कुछ अन्तर है । शां०ब्रा० में विषयवस्तु का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक गठित, संश्लिष्ट और लाघवता

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२२.६, शां०ब्रा० २८.४

२ ,, २.८.१, शां०ब्रा० १२.३

३ ,, २.६.६-७, ,, १०.४-६

४ ,, १.१.६ ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा ... ।तस्माद् विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत् सत्योत्तरा हैवास्यवांगुदिता भवति ।

,, १.३.२ अयं वाव लोकोऽभ्द: ... गमयति ।

५ शां०ब्रा० ४.२ अथातोऽभ्युदितायाः ... स एवास्मै यज्ञं प्रयच्छति । शां०ब्रा० १.१ अस्मिन्वै लोके ... मासस्तस्याप्त्यै ।

से किया गया है । ऐ०ब्रा० में विषयवस्तु को आख्यानों,गाथाओं आदि के द्वारा समझा- समझा कर लिखा गया है । शां०ब्रा० में कहीं बड़ी सरल शैली और स्पष्ट भाषा में लिखा है,[1] किन्तु कहीं-कहीं संश्लिष्टता और लाघवता के कारण अर्थ का समझना भी कठिन होता है[2] ।

ऐसे भी उद्धरण हैं,जिनका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता जैसे (शां०ब्रा० ३.६; ७.१०; २६.३) `आ चतुरं वै द्वन्द्वं मिथुनं प्रजात्यै` तथा (शां०ब्रा० ७.४)` स ह स आसीलौवा वार्ष्णिवृद्ध इटन्धा काव्यः शिखण्डी वा याज्ञसेनो यो वा` आदि । ऐसा प्रतीत होता है कि कण्ठस्थ करने की दृष्टि से संश्लिष्टता और लाघवता का प्रयोग किया गया है ।

दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐ०ब्रा० की शैली अपेक्षाकृत सरल और सुबोध है । शां०ब्रा० की रचना एक जैसी ही हुई है और एक व्यक्ति द्वारा की गई प्रतीत होती है । इसके विपरीत ऐ०ब्रा० की रचना एक साथ और एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई प्रतीत होती है । ऐसा मालूम होता है कि ऐ०ब्रा० की ७वीं पंचिका का प्रायश्चित विधान और ७ वीं तथा ८वीं पंचिका का राजसूय यज्ञ विधान बाद का संयोजित किया हुआ है । यह विषयवस्तु शां०ब्रा० में नहीं मिलती है और ऐ०ब्रा० की अपनी विशेषता है । सोम यज्ञ दोनों ब्राह्मणों का समान वर्णित विषय है ।

इनकी वाक्य-रचना अत्यधिक उबाने वाली है । विविध वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध, वाक्य में ही परिवर्तित विषयों के कथन का प्रारम्भ, विविध वाक्यों का आदि और अन्त इत्यादि सरलता से समझ में न

---

१ शां०ब्रा० १.१,२

२ शां०ब्रा० २१.५; २२.५,६

आ पाने के कारण यह जन साधारण के लिए रुचिकर नहीं है । ऐ०ब्रा० (५.२२.३) में लिखे गद्य के समान वाक्य होने पर कुछ सरलता से समझ में भी आ सकता है, जिसमें छोटे-छोटे अनेक वाक्य हैं, किन्तु सब एक समान हैं, जो अलग-अलग पता लगते हैं ।

ब्रा० जैसी भाषा, शैली तथा वर्ण्य विषय में अलंकरण के लिए अधिक स्थान नहीं होता । अतः रोचक अलंकार और मुहावरे आदि किसी ब्रा० में प्रयुक्त नहीं हुए हैं । कहीं-कहीं समता के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं, जो साधारण जीवन से सम्बन्धित हैं, जैसे तपे लोहे के नम्र होने के समान वाणी का विनम्रतायुक्त होना,[1] यज्ञ और देवरथ की समता,[2] दर्प और अभिमान से युक्त वाणी राक्षसी वाणी[3] आदि ।

ऐ०ब्रा० में कुछ अंश रोचक हैं, जैसे शुनःशेप आख्यान । शुनःशेप आख्यान की शैली का कोई विशेष स्वरूप नहीं है, तथापि वह एक पूर्णता युक्त रचना प्रतीत होती है और पढ़ने व समझने में सरल एवं सुगम है । इसका श्रेय उसमें आयी हुई गाथाओं तथा दृष्टान्तों को भी है । उदाहरणार्थ मनुष्य को जीवन में संचरणशील रहने के लिए निरन्तर संचरणशील सूर्य से समता करते हुए कहा गया है । संचरणशील व्यक्ति ही मधु, उदुम्बर आदि स्वादिष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है, अतः संचरण करें ।[4] बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य बैठा रहता है, खड़े होने वाले का खड़ा होता है, सोने वाले का सोता रहता है और संचरण करने वाले का भाग्य भी उन्नति की ओर बढ़ता है । अतः संचरण करें ।[5] ऐसी

---

१ शां०ब्रा० २२.४ यथायस्तप्तं विनयेदेवं तद्वाचो

२ ,, ७.७ देवरथो वा एष यदयज्ञः

३ ऐ०ब्रा० २.६.७ यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक् ।

४ ,, ७.३३.३ चरन्वै मधुविन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् सूर्यस्य पश्य च श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ।

५ वही -- आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः

शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगश्चरैवेति ।

गाथायें ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए अस्वाभाविक-सी ही प्रतीत होती हैं । यह सुभाषितों वाली मुहावरेदार भाषा और शैली से युक्त साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गहन विषयों से युक्त सौन्दर्यविहीन तथा जटिल भाषा और शैली के अन्तर को स्पष्ट करती है ।

भौगोलिक पृष्ठभूमि

वातावरण की जानकारी तथा उसके कठोर नियंत्रण से त्राण पाना मानव का स्वभाव रहा है । वह वातावरण की असुविधाओं को सुविधाओं में बदलने का निरन्तर प्रयास करता है । इस प्रकार की मानव-वातावरण प्रतिक्रिया की कहानी दूसरे शब्दों में सभ्यता के विकास की कहानी बन जाती है । सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों, यज्ञ-अनुष्ठानों की कार्य-विधि में उनकी झलक मिलती है-- कुछ स्पष्ट, कुछ प्रच्छन्न । कहीं-कहीं तो ऐसे प्रतीकों या संकेतों का रूप धारण कर लेती है कि उनके वास्तविक अर्थों तक पहुंचना कठिन हो जाता है । उदाहरणार्थ, ऐ०ब्रा० में प्रातः सवन के प्रसंग में विधान किया गया है, कि प्राची दिशा में धीरे-धीरे चला जाय (शांत्वसमाणाश्चरन्ति) क्योंकि इस ओर घनी बस्तियां (प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्टा) हैं[1] । यह एक भौगोलिक तथ्य का स्पष्ट प्रतीक है । ऋग्वेदीय आर्यों की बस्तियों के पश्चिम में सरस्वती नदी के निचले भाग में शुष्क मरुभूमि थी, दक्षिण में वनीय प्रदेश तथा उत्तर में पर्वत प्राचीर । पूर्व की बस्तियों की संकुलता का धार्मिक कृत्यों के प्रसंग में चर्चा आना उचित ही है । दैविक परिस्थितियों को सीधे-सीधे स्वीकारने के स्थान पर उन्हें रहस्यात्मक बनाना कोई नई बात नहीं है ।

इसी प्रकार वातावरण का रहस्योद्घाटन एक प्रमुख मानवीय प्रयास की दिशा रही है । इस सम्बन्ध में तात्कालिक ज्ञान का प्रयोग करके अनेकानेक अवधारणाएं प्रस्तुत होती रही हैं । ऐ०ब्रा० में प्रजापति द्वारा

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१४.६

सृष्टिरचना के प्रसंग में[1] वर्णित तथ्य उस समय के सृष्टिशास्त्र अथवा सभी लेख को प्रतिबिम्बित करते हैं । इसकी ऋग्वेदीय हिरण्यगर्भ और विराट् पुरुष (ऋ०१०.८२; १०.९०; १०.१२१) से तुलना करके विचार वैचित्र्य के बारे में भी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ।

भौगोलिक पृष्ठभूमि के अनेक पक्ष हो सकते हैं । इनमें निवास क्षेत्र की स्थिति एवं विस्तार, धरातलीय दशा, जलवायु, जलराशि, बस्तियाँ आदि प्रमुख हैं । इनके विषय में आगे चर्चा की जायगी ।

क्षेत्रीय स्थिति एवं विस्तार

यह तो सर्वमान्य है कि ऋग्वेदीय कर्मस्थली गंगा के मैदानी प्रवाह क्षेत्र के पश्चिमी भाग से बहुत आगे तक प्रसारित नहीं हो पायी थी । दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर में भी भौतिक सीमायें थीं । उत्तर में हिमालय की पर्वत प्राचीर (ऐ०ब्रा० ८.३८.३ उदीच्यां दिशि... हिमवन्तं) पश्चिम में शुष्क मरुस्थल (ऐ०ब्रा० २.८.१ बहिर्धन्वोदूहन्) तथा दक्षिण में वनीय प्रदेश थे । ऋ० में जिन नदियों की चर्चा की गई है[2], वह इस क्षेत्र से परे नहीं है । ऋ० ब्रा० में भी किसी आगे की नदी का प्रसंग नहीं आया है, किन्तु इस समय तक ऋग्वेदीय परिसर के आगे आर्यों के समाज का प्रसार हो चुका था । ऐ०ब्रा० में भौगोलिक परिसर के पांच प्रधान विभागों की संकल्पना की गई है-- पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा मध्य । यह विभाग आर्य जनपदों के आधार पर विभक्त है ।

पांच भौगोलिक विभाग

मध्यदेश -- बहु चर्चित 'मध्यदेश' की संकल्पना वैदिक दृष्टिगत नहीं होती है । इसका प्रयोग एवं स्पष्टीकरण मानवधर्मशास्त्र (मनु०२.२१) में मिलता है । किन्तु

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.७; ३.१३.६,१०

२ ऋ० १०.७५.१-६

प्र सप्त सप्तत्रेधा हि चक्रमुः ... सिन्धुरोजसा इमं मे गंगे यमुने सरस्वति ... शुतुद्रि ... परुष्णया ... असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये ... सुषोमया ... सुषोमया ... अनु मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ऊर्णावती ... सुभगा मधुवृधम् ।

ऐ०ब्रा० का मध्यभाग (८.३८.३ ध्रुव मध्यमा प्रतिष्ठा दिक्) में इस संकल्पना का सूत्रपात अवश्य दृष्टिगोचर होता है । कहा गया है कि इस क्षेत्र में कुरुओं,पांचालों, वशों,और उशीनरों का निवास था । मनु० में 'मध्यदेश' की सीमा भी हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच पश्चिम में सरस्वती नदी के लोपस्थान (विनशन) से लेकर पूर्व में प्रयाग तक बताई गई है[1] । मध्यदेश की राजनैतिक ईकाई का नाम ऐ०ब्रा० में 'राज्य' बताया गया है[2] । इसी क्षेत्र में संहिताओं का संकलन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई होगी[3] । यह भाग वास्तव में भारतीय आर्य परिसर का तात्कालिक केन्द्र स्थल रहा होगा । इस केन्द्रस्थल में जो शक्तिशाली राजा होता था,उसको पूरे आर्य परिसर में सबसे अधिक प्रभावशाली माना जाना कोई अनोखी बात नहीं है । प्रतापी सुदास, दिवोदास,भरत दौष्यन्ति,परीक्षित,जनमेजय आदि इसी क्षेत्र की विभूतियां बताई गई हैं । केन्द्रस्थली को यह मेरुदण्डीय महत्व मिलना कोई अनोखी बात नहीं है,क्योंकि यह सिद्धान्त पुराने समय से आज तक भी बहुत कुछ सत्य माना जाता रहा है[4] ।

<u>पश्चिम भाग</u>-- पश्चिम में सरस्वती से दूर धन्व देश(मरुभूमि)[5] तथा दीर्घ अरण्य[6] स्थित बताये गये हैं । मरुभूमि में निर्वासित कवष ऐलूष की चर्चा आई है ,जो

१मनु०२.२१ हिमवद् विन्ध्ययो मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।

२ ऐ०ब्रा० ८.३८.३

३ वै०इं०हि०,पृ०१३६-१४०

४ मैकिण्डर का केन्द्रस्थली (हार्टलैण्ड) का सिद्धान्त (२० वीं शताब्दी का प्रथम दशक) जिसमें कहा गया है कि जिसका हार्टलैण्ड पर प्रभुत्व होगा उसका महाद्वीप पुंज पर (वर्ल्ड आइलैण्ड) पर भी प्रभुत्व होगा, आदि-आदि ।

५ ऐ०ब्रा० २.८.१

६ ऐ०ब्रा० ३.१४.६ प्रत्यंचि दीर्घारण्यानि भवन्ति ।

आर्ष कुलों द्वारा बहिष्कृत हुआ था । जब सरस्वती का जल उग और प्रवाहित हुआ और 'परिसारक' नामक बस्ती का उदय हुआ तो आर्यों ने कवष स्लूष को बुलाया और अपने में सम्मिलित किया[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि इस बाहरी स्थान में जहां सरस्वती का अन्त होता था, अनार्य अथवा निम्नवर्गीय आर्य रहने लगे होंगे, जिन्हें सम्पन्न आर्यों ने अमान्य घोषित किया व होगा । इन व्यक्तियों ने सरस्वती के जल का सिंचन कार्य हेतु दिशा परिवर्तन किया होगा, जिसके कारण आर्ष कुलों में चिन्ता उत्पन्न हुई होगी ।

आधुनिक स्थिति को देखते हुए मरुभूमि वाला भाग 'मध्यभाग' के दक्षिण पश्चिम दिशा में निश्चित है । 'मध्यभाग' के पश्चिमोत्तर भाग में वनों का पाया जाना भी स्वाभाविक है । सिन्धु तथा झेलम के बीच का क्षेत्र (आधुनिक पोतवार पठार तथा नमक की पहाड़ियां) तथा उसके परे सुलेमान पर्वत श्रेणियों के भाग अधिक को हुए नहीं होंगे । यह आजकल के भौगोलिक वातावरण से भी सिद्ध होता है ।

इस पश्चिम भाग की राजनीतिक इकाई को 'स्वाराज्य' कहा गया है, और राज्य पद को 'स्वराट्'[2] । ये नीच्य और अपाच्य लोगों के राजा होते थे[3] । चूंकि इस दिशा से नई-नई जातियों का आगमन होता रहता होगा, इन्हें सभ्यता की दृष्टि से हेय माना जाना भी स्वाभाविक है । यह बात भी आज तक वैसी की वैसी बनी हुई है । बलूचिस्तान तथा अफगानिस्तान के कबायली लोगों के बारे में अब भी लोगों की बहुत कुछ ऐसी धारणाएं हैं । उत्तर भाग-- उत्तर दिशा में हिमवन्त से पहिले आने वाला भाग इंगित है । (ऐ०ब्रा० ८.३८.३ परेण हिवन्तं) यहां हिमवन्त से आशय हिमाच्छादित

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.१

२ ,, ८.३८.३

३ तत्रैव -- नीच्यां राजानो ये ऽ पाच्यानां ।

हिमालय पर्वत और उसके पहले का सभी भाग होगा । इस तरह यह भाग धौलाधर शिवालक आदि पर्वत श्रेणियों के पहाड़ीप्रदेश और उनके नीचे के तराई तथा भावरी इलाके का पर्याय कहा जा सकता है । आधुनिक जम्मू के आस पास स्थित `उत्तर मद्र` तथा सतलज और विपाशा के पर्वतीय काटों में (आधुनिक हिमालय में स्थित) `उत्तर-कुरु` की चर्चा आई है । इसी क्षेत्र में बाद के साहित्य में वर्णित कैकय, बाल्हीक और कुलूत इत्यादि जनपद भी रहे होंगे । यहां के राजाओं को `विराट` कहा गया है[1] । सम्भवत: यह छोटे-छोटे तथा अस्थिर राज्य होते होंगे, जिसके कारण विशेष राजा `विराट` कहलाते होंगे । पर्वतीय तथा उनके नीचे के पाद-क्षेत्र (पीडमौण्ट) में ऐसी राजनैतिक स्थिति का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । ऐसी दशा बहुत कुछ तो १८ वीं शताब्दी तक रही है ।

दक्षिण भाग -- दक्षिण दिशा में विन्ध्य पर्वत से आगे गर्मी के कारण धान्यादि ओषधियां शीघ्र पक जाने का उल्लेख है[2] । यह भौगोलिक तथ्य है । विषवत रेखा से अपेक्षाकृत समीप होने से दक्षिण भारत में गर्मी अधिक पड़ती है । यहां धान की फसल अधिक होती है, जिसको अधिक गर्मी चाहिए । इसके विपरीत उत्तरभारत में गेहूं, जौ, चना आदि फसलें जाड़ों में होती हैं[3] । यह उद्धरण विन्ध्य पर्वत से दक्षिण भाग में भी ऋग्वेदीय ब्राह्मणकालीन आर्य परिसर को प्रकट करता है तथा वहां के जलवायु तथा उत्पादन आदि का भी ऋग्वेद ब्राह्मणकालीन आर्यों को भली प्रकार ज्ञान था, ऐसा स्पष्ट होता है ।

दक्षिण दिशा में सात्वतों (यादवों) का प्रभुत्व बताया गया है[4] । यदु आर्यों की प्राचीनतम शाखा में कहे जाते हैं[5] । भरतों के दबाव के

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.३

२ ,, १.२.१ दक्षिणतोऽग्र ओषधय: पच्यमाना आयन्ति आग्नेय्यो ह्योषधय:।

३ ,,(क) १.२.१ पृष्ठ ३५

~~४--,,-४.२८.६-इत्येष-वन-अन्जन-अद्म्यौ-वन-एष-प्रानतरु-देति-वय:-सनवं-प्रविशति-।~~

~~५-शां०ब्रा०--२४-४-उभयतो-ह्यमुष्मादित्यमनपो--वरुताच्चोपरिष्ठाच्च-।~~

४ ऐ०ब्रा० ८.३८.३

५ ऋ० १.५४.६; १.१७४.६

कारण उनका दक्षिण की ओर जाना स्वाभाविक है । जैसा कि ऋ० में सुदास की मंगल कामना करने वाले वशिष्ठ के द्वारा यदु और तुर्वसु को पराजित करने की प्रार्थना करने से प्रकट होता है[1] । जैसा कि बाद के साहित्य से ज्ञात होता है यदुगणों में सात्वत कुल का काफी समय तक महत्व रहा । इनके राज्य 'भौज्य' कहे गये हैं, और राजाओं की पदवी 'भोज' कहलाती थी[2] ।

पूर्व भाग -- ऐ०ब्रा० में वर्णित मध्यभाग के पूर्व में स्थित प्रदेश में घनी बस्तियों[3] के बारे में संकेत किया जा चुका है (प्राच्यों ग्रामता बहुलाविष्टा) । इस भाग के राज्य को 'साम्राज्य' और शासक को 'सम्राट' कहा गया है[4] । ऐसा प्रतीत होता है कि ऐ०ब्रा०काल में पूर्व दिशा में आर्य बस्तियों का विशेष प्रसार हुआ होगा । यहां पर उन्होंने पूर्वकालिक निवासियों के ऊपर अपना आधिपत्य जमाया होगा। साथ ही साथ उनकी सभ्यता का कुछ लोहा भी मानना होगा, क्योंकि इनके लिए किसी प्रकार के निन्दनीय शब्दों का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता है ।

समुद्र -- ऐ०ब्रा० में पूर्व के जलों से प्रातः उदित होने वाला 'अव्या' और सायंकाल जल में प्रवेश करने वाला कहा गया है[5] । शां०ब्रा० में आदित्य के नीचे ऊपर दोनों ओर जल कहा गया है[6] । इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भारत के पूर्व पश्चिम दोनों ओर समुद्र के विषय में उस समय भी ज्ञान था । यद्यपि यह तथ्य सीधे शब्दों में स्पष्ट नहीं किया गया है तथापि इससे दोनों ओर समुद्र का होना स्पष्ट होता है ।

नदियां -- ऐ०ब्रा० में कुछ ही नदियों के नाम आये हैं । यह अधिकांश नदियां मध्य भाग (मध्यमा प्रतिष्ठा दिग्) से ही सम्बन्धित है । इन्हीं भागों में यज्ञ-

---

१ ऋ० ७.१९.८

२ ऐ०ब्रा० ८.१४.३

३ ,, ३.४४.६

४ ,, ८.१४.३

५ ,, ४.२८.६ इत्येष वा अव्या अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेति अपः सायं प्रविशति ।

६ शां०ब्रा० २४.४ उभयतो ह्यमुमादित्यमापोऽवस्ताच्चोपरिष्टाच्च ।

अनुष्ठान यहाँ अर्थों में सम्पन्न भी किये जाते होंगे । सरस्वती नदी के किनारे ऋषियों द्वारा यज्ञ किये जाने का उल्लेख है[1]। गंगा,यमुना के किनारे भरत दौष्यन्ति द्वारा अनेक अश्वमेध किये जाने का भी उल्लेख ऐ०ब्रा० में आया है[2]। नदियों की चर्चा में केवल गंगा,यमुना,सरस्वती का ही उल्लेख है । सिन्धु शब्द का प्रयोग है, किन्तु वह समुद्र के अर्थ में प्रयुक्त है,सिन्धु नदी के अर्थ में नहीं है[3]।

पर्वत -- हिमवन्त प्रदेश का ऐ०ब्रा० में उल्लेख है, जिसका भारत की उत्तरी सीमा पर होने का संकेत है[4]। विन्ध्य पर्वत का दक्षिण में होने का उल्लेख है[5]।पश्चिम में पर्वत श्रेणियों के होने का पता चलता है । सम्भवत: इसी के समीप दीर्घारण्य होने का उल्लेख है[6]। यह आजकल के सुलेमान पर्वत तथा उसके वन प्रदेश का द्योतक माना जा सकता है ।

मरुस्थल -- पश्चिम में मरुभूमि होने का उल्लेख है, जिसमें कवष ऐलूष को प्यासा मर जाने के लिए छोड़ दिया गया था[7]। इस उद्धरण से यह मरुस्थल काफी बड़ा प्रतीत होता है । यह आधुनिक सिंध,राजस्थान का थार मरुस्थल का द्योतक हो सकता है ।

नगर -- ऐ०ब्रा० व ग्रन्थों में कतिपय नगरों के नाम आये हैं । अधिकांश नगर अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में वर्णित हैं । इनमें अधिकांशतया मध्यभाग में स्थित हैं । इन नगरों के नाम, उनकी स्थिति और प्रसंग नीचे दिये गये हैं :-

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.१; शां०ब्रा० १२.३

२ ,, ८.३६.६

३ ,, १.४.४; २.६.६

४ ,, ८.३८.३

५ ,, १.२.१

६ ,, ३.२४.६

७ ,, २.८.१-२

नगर का नाम	स्थिति	प्रसंग
आसन्दीवान[1]	मध्यदेश	जनमेजय ने इसमें अश्वमेध यज्ञ किया ।
अवचत्नुक[2]	,,	इस नगर में अंग राजा के पुरोहित द्वारा यज्ञ करके सैकड़ों हाथी दान में दिये गये ।
मष्णार[3]	,,	भरत ने यहां अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् हाथियों आदि का दान दिया ।
साचीगुण[4]	,,	इस नगर में यज्ञ करके भरत ने ब्राह्मणों को गौयें दान में दीं ।
वृत्रघ्ने[5]	,, गंगा किनारे	इस नगर में भरत ने ५५ अश्वमेध यज्ञ किये ।
परिसारक[6]	सरस्वती नदी के किनारे मरुस्थल में ।	ऋषियों द्वारा यज्ञ से निर्वासित कवष ऐलूष के मरुस्थल में ठहरने का स्थान, जो सरस्वती की धारा प्रवाहित होने पर उदय हुआ ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऋ०ब्रा० काल प्रागैतिहासिक कहा जाता है । इसमें अनेक राजाओं तथा ऋषियों की चर्चा आई है, जिनको किसी कम-विशेष में रखना अत्यन्त कठिन है । कथानक इतने उलझे हुए हैं कि पिता-पुत्र के अतिरिक्त कालक्रम में पिरोना सम्भव नहीं । यह कार्य अकेले ऋ०ब्रा० के आधार पर नहीं हो सकता है ।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३९.७

२ ,, ८.३९.८

३ ,, ८.३९.९

४ तत्रैव

५ तत्रैव

६ ऐ०ब्रा० २.८.१

इन प्राचीन पुरा कथाओं से कुछ ही निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं, जिनपर आगे विचार किया जायगा ।

ऋ० में विश्वामित्र, वसिष्ठ, जमदग्नि तथा अगास्त्य के नाम विशेष रूप से आये हैं । इनमें विश्वामित्र से सम्बन्धित सबसे अधिक आख्यान हैं । ऐ०ब्रा० में वह होता के रूप में प्रतिष्ठित भी हुए हैं[1] । विश्वामित्र, वसिष्ठ तथा जमदग्नि ये तीन ऋषि बहुचर्चित हैं । ऋ० में तो यह सब सूक्त द्रष्टा ऋषि के रूप में उल्लिखित हैं । शुनः शेप सम्बन्धी यज्ञ में इनको अपनी ख्याति के अनुसार कार्य भी दिये गये दृष्टिगत होते हैं । विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, अगास्त्य उद्गाता तथा वसिष्ठ ब्रह्मा के पद पर प्रतिष्ठित थे[2] । यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि यह सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि समकालीन हों और इस प्रकार एक ही यज्ञ में भाग लें । ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऋषिकुलों के नाम होंगे ।

ऐ०ब्रा० में ऐन्द्र महाभिषेक से वसिष्ठ द्वारा सुदास पैजवन का अभिषेक करने का उल्लेख है, जिससे अभिषिक्त होकर सुदास ने सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर फिर अश्वमेध यज्ञ किया[3] । इसके विपरीत शां०ब्रा० में `वसिष्ठयज्ञ` के द्वारा पुत्र और पशुओं को प्राप्त करके वसिष्ठ द्वारा सौदासों को हराने का उल्लेख है[4] । इससे भी वसिष्ठ एक पुरोहित का नाम न होकर एक ऋषिकुल का नाम प्रतीत होता है ।

ऋ० ३.५३ में विश्वामित्र पुरोहित सुदास के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं और ऋ० ७.१८,१९,३३ में पुरोहित वसिष्ठ सुदास के लिए इन्द्र से मंगलकामना करते हैं ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.१६

२ तत्रैव

३ ऐ०ब्रा० ७.३५.८; ८.३९.८

४ शां०ब्रा० ४.८

५ ऐ०ब्रा० ७.३३.५,६

विश्वामित्र का शुन:शेप को पुत्ररूप में ग्रहण करने के[1] प्रसंग से ऐ०ब्रा०काल को उत्तर वैदिक काल की रूढ़ियों में बंधे समाज से पूर्व का मानना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा व्यवहार उत्तर वैदिक तथा उसके बाद के समय में इतनी निर्भीकता से सम्पन्न होना आशातीत है ।

ऐ०ब्रा० में राज्याभिषेक के प्रसंग में वर्णित भारत के दक्षिणभाग में सत्वतों (यादवों या यदुवंशियों) का राज्य, मध्यदेश में कुरु, पांचाल, वश और उशीनरों के राज्य का उल्लेख है । इनके अतिरिक्त राजसूय यज्ञ के प्रसंग में अनेक प्रमुख राजाओं और उनके पुरोहितों के नाम आये हैं, जिनको नीचे सूचीबद्ध रूप में दिया गया है :-

राजाओं के नाम

क्रम सं०	राजाओं के नाम	ब्राह्मणग्रन्थों के प्रसंग	ऋग्वेद प्रसंग	ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण।
१	अंग	ऐ०ब्रा०८.३६.८	--	ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त राजाओं की प्रशंसा की नामावली में उल्लेख ।
२	अत्यराति जानंतपि	ऐ०ब्रा०८.३६.६	--	ऐन्द्र महाभिषेक के ज्ञान से युक्त ब्राह्मण होकर भी उत्तर के देशों (देवक्षेत्र) पर विजय प्राप्त करने गया, किन्तु गुरु के आदेश के विपरीत देवक्षेत्र को जीतने जाने के कारण गुरु के द्वारा उसकी सामर्थ्य का अपहरण कर लिए जाने पर किसी शैब्य नामक राजा के द्वारा मार डाला गया ।
३	आम्बष्ठ्य	ऐ०ब्रा०८.३६.७	--	ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त राजाओं की प्रशंसा की नामावली में उल्लेख ।
४	दुर्मुख पांचाल	ऐ०ब्रा०८.३६.६	--	,, ,, ,,
५	पारिक्षित जन्मेजय	ऐ०ब्रा०७.३५.१, ८,८.३७.७, ८.३६.७	--	सोम भक्षण निषेध, फलों के रस भक्षण के विधान तथा ऐन्द्र महाभिषेक की प्रशंसा के प्रसंगों में ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.५,६

क्रम सं०	राजाओं के नाम	ब्राह्मणग्रन्थों के प्रसंग	ऋग्वेद प्रसंग	ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण ।
६	भरत दौष्षान्ति	ऐ०ब्रा०८.३९.८ ९	ऋ०६.१६.४	ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त तथा अनेक अश्वमेध करने वाले राजाओं की प्रशंसा की नामावली में उल्लेख ।
७	मरुत्तआविक्षित	ऐ०ब्रा०८.३९.७	--	,, ,, ,,
८	युधांश्रौष्टि औग्रसैन्य	,,	--	,, ,, ,,
९	रोहित(हरिश्चंद्र का पुत्र)	ऐ०ब्रा०७.३३.बर	ऋ०में रोहित कई स्थानों पर आया है किन्तु लाल वर्ण के लिए आया है ।	अपुत्र हरिश्चन्द्र के वरुण की कृपा से उत्पन्न हु पुत्र ।
१०	विश्वकर्म भौवन	ऐ०ब्रा०८.३९.७	--	ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त राजाओं की प्रशंसा की नामावली में ।
११	विश्वन्तर सौषद्मन	ऐ०ब्रा०७.३५.१ ७.३५.८	--	विश्वन्तर राजा तथा श्यापर्ण ब्राह्मणों की कथा के प्रसंग में तथा राजाओं द्वारा सोमभक्षण निषेध और अश्वत्थ आदि फलों के रसों के भक्षण के प्रसंग में उल्लिखित है ।
१२	शतानीक	ऐ०ब्रा०८.३९.७	ऋ०८.४६.२ तथा ८.५०.२ में सैकड़ों सेना के अर्थ में उल्लेख ।	ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त राजाओं की प्रशंसा की नामावली में उल्लेख ।
१३	शार्यातमानव	ऐ०ब्रा०८.३९.७, ४.२० शां०ब्रा० १९.९, २२.२	ऋ०१.५१.१२	ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त राजाओं के पौरुष पराक्रम और अश्वमेध यज्ञानुष्ठान की प्रशंसा में उल्लेख तथा शार्यात मानव नामक ऋत्विक के प्रसंग में उल्लेख ।

क्रम सं०	राजाओं के नाम	ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रसंग	ऋग्वेद प्रसंग	ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण ।
१४	शैव्य राजा	ऐ०ब्रा०८.३६.८	--	भारत के उत्तर देशों का राजा, जिसने ब्राह्मण होकर राज्य चाहने वाले अत्यराति जानंतपि को मारा ।
१५	सुदास पैजवन	ऐ०ब्रा० ७.३५.८ ८.३६.८ ५.२१.१ ५.२२.७ ५.२४.१	ऋ०७.१६.२२ २३,२५ ।	फलसम्पादन प्रशंसा में, ऐन्द्रमहाभिषेक द्वारा अभिषेक प्रशंसा में तथा ऋ० के सूक्तों में उल्लेख है ।
१६-२७	सोमक, साहदेव्य, सहदेव, सार्जय बभ्रु, देववृध, भीम वैदर्भ, नग्नजित् गान्धार, क्रतुविद सनश्रुत अरिंदम, जानकि ।	ऐ०ब्रा० ७.३५.८	--	राजसूययज्ञ में राजा द्वारा फलसम्पादन की प्रशंसा में इनका एकसाथ उल्लेख है ।
२८	हरिश्चन्द्र वैधस ऐक्ष्वाक:	ऐ०ब्रा० ७.३३.१	ऋ०६.६६. २६ में हरिश्चन्द्र है किन्तु सायणने हरित वर्ण के लिए अर्थ किया है ।	वैधस के पुत्र इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र ।

ऋषियों एवं पुरोहितों के नाम

क्रम सं०	ऋषियों एवं पुरोहितों के नाम	ऐ०ब्रा० के प्रसंग ।	ऋ० के प्रसंग	ऐ०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण
१	अग्नि	ऐ०ब्रा०७.३४.८	--	सनश्रुतजानकि के पुरोहित
२	अजीगर्त सौयवसि	ऐ०ब्रा० ७.३३.३	--	शुन:शेप का पिता । भोजन का अभाव होने के कारण १००,१००गायों के बदले शुन:शेप को बेचने यूप से बांधने तथा मारने के लिए तैयार होने वाला ।
३	अयास्य	ऐ०ब्रा० ७.३३.४ शां०ब्रा०३०.६	ऋ०१०.६७-६८;६.४४-४६	शुन:शेप बलियज्ञ में उद्गाता ऋत्विक थे ।शां०ब्रा० में भी उद्गाता के रूप में चर्चित है ।
४	उद्दालक आरुणि	ऐ०ब्रा० ८.३७.३	--	राजसूय के प्रसंग में इनका मत उद्धृत ।
५	उदमय आत्रेय	ऐ०ब्रा० ८.३६.८	--	अंग राजा के पुरोहित
६	कवष ऐलूष	ऐ०ब्रा०२.८.१ शां०ब्रा०१२.३	ऋ०१०.३०.३४	अपोनप्त्रीय सूक्त का द्रष्टा । ऋषियों द्वारा यज्ञ से दासीपुत्र अब्राह्मण कितव कहकर यज्ञ से निर्वासित ।
७	कश्यप	ऐ०ब्रा०८.३६.७	--	विश्वकर्मा भौवन का अभिषेक्ता पुरोहित ।
८	च्यवनभार्गव	ऐ०ब्रा०८.३६.७	--	शार्यात मानव का अभिषेकता पुरोहित ।
९	जमदग्नि	ऐ०ब्रा०४.१९.४ ७.३३.४	ऋ०८.१०१; ९.६२	शुन:शेप बलि यज्ञ में अध्वर्यु ऋत्विक् थे, तथा जमदग्नि द्वारा दृष्ट जामदग्न्य ऋचाओं के सम्बन्ध उल्लेख है ।
१०	तुर:कावषेय	ऐ०ब्रा०७.३४.८; ८.३९.७	--	जनमेय पारिक्षित के अभिषेक के प्रसंग में उल्लेख

क्रम सं०	ऋषियों एवं पुरोहितों के नाम ।	ऐ०ब्रा० केप्रसंग	ऋ० के प्रसंग	ऐ०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण
११	दीर्घतमा मामतेय	ऐ०ब्रा०८.३९.९	ऋ०१.१४०-१६४ सूक्तों के द्रष्टा	भरत दौष्यन्ति के अभिषेक्ता
१२	नाभानेदिष्ठ मानव	ऐ०ब्रा०५.२२.७, ९-१०;६.३०.१, ५,१० शां०ब्रा०२८.४	ऋ०१०.६१-६२	नाभानेदिष्ट सूक्त के द्रष्टा
१३ १४	पर्वत एवं नारद	ऐ०ब्रा०७.३३.१; ७.३५.८;८.३९.८	ऋ०८.१२पर्वत काण्व ऋ०८.१३ नारद काण्व का उल्लेख	अपुत्र राजा हरिश्चन्द्र के घर में रहने वाले । नारद राजा हरिश्चन्द्र को पुत्रमहिमा और पुत्र प्राप्ति के विषय में बताने वाले ।
१५	प्रियमेधा	ऐ०ब्रा०८.३९.८	--	उद्मय का यज्ञ कराने वाले
१६	बृहदुक्थ	ऐ०ब्रा०८.३९.९	--	दुर्मुख पांचाल के पुरोहित
१७	भारद्वाज	ऐ०ब्रा०१.४.४, ३.१६.६;६.२९.२;शां०ब्रा०१५.१; २९.३;३०.९	ऋ० ४.१-४१; ४.४५-५८	विविध सूक्तों के द्रष्टा के रूप में
१८	मधुच्छन्दा	ऐ०ब्रा०७.३३.५, ६ शां०ब्रा०२८.२	ऋ०९.१	विश्वामित्र के पुत्र तथा सूक्त के द्रष्टा
१९	रामो मार्गवेय	ऐ०ब्रा०७.३५.१,८	--	विश्वन्तर सौषद्मन के पुरोहित के रूप में ।
२०	वसिष्ठ ब्रह्मा	ऐ०ब्रा० १.४.४; १.५.२;६.२९.२; ७.३३.४; ७.३५.८;८.३९.८ शां०ब्रा० ४.८; २५.२; २६.१४-१५, २९.२; ३०.३	ऋ०७.१-१०४	शुनःशेप बलि यज्ञ में ब्रह्मा ऋत्विक् का कार्य किया । इनके अतिरिक्त विभिन्न सूक्तों के द्रष्टा तथा 'वसिष्ठ यज्ञ' आदि इष्टि यज्ञ के द्रष्टा । ऐन्द्र महाभिषेक से सुदास पैजवन का अभिषेक्ता।
२१	वसिष्ठसातहव्य	ऐ०ब्रा०८.३९.९	--	आत्यराति जानंतपि ब्राह्मण के गुरु ।
२२	वामदेव	ऐ०ब्रा०६.२९.२; ४.२०.२,शां०ब्रा० २८.२;२९.३;३०.१	ऋ०४.१-४१ ४.४५-५८	विविध सूक्तों के द्रष्टा के रूप में ।

क्रम सं०	ऋषियों एवं पुरोहितों के नाम	ऐ०ब्रा० के प्रसंग	ऋ० के प्रसंग	ऐ०ब्रा० में उल्लिखित प्रसंगों का विवरण
२३	विश्वामित्र	ऐ०ब्रा० ६.२६.२;५; ७.३३.४,५,६, शां०ब्रा० १०.५;१५.१;२६.२४; २८.१,२; २६.३	ऋ०३.१-६२; ६.६७	शुन:शेप के वलि यज्ञ में होता ऋत्विक थे । शुन:शेप के बच जाने पर उसे पुत्र रूप में स्वीकार किया । तथा सूक्तों के द्रष्टा के रूप में उल्लेख है ।
२४	शुन:शेप वैश्वामित्रदेवरात	ऐ०ब्रा० ७.३३.३-६	ऋ०१.२४-३०	भूख से पीड़ित अजीगर्त सौयवरि ऋषि का पुत्र । बलि यज्ञ में देवों की प्रार्थना करके उनकी कृपा से छूटकर यज्ञ में ऋत्विक रूप में यज्ञ कार्य सम्पन्न किया । बाद में विश्वामित्र ने उसे पुत्र रूप में स्वीकार किया तथा वैश्वामित्र देवरात भी कहलाया ।
२५	सत्यकामजाबाल	ऐ०ब्रा०८.३७.३	--	राजसूय यज्ञ के प्रसंग में मत उद्धृत ।
२६	सोमशुष्म वाजरत्नायन	ऐ०ब्रा० ८.३६.७	--	शतानीक सात्राजित के अभिषेक्ता पुरोहित ।
२७	संवर्त आंगिरस	ऐ०ब्रा० ८.३६.७	--	मरुत्त आविक्षित के अभिषेक्ता पुरोहित ।

प्राचीन संस्कृति पर आधारित शोध कार्य

प्राचीन साहित्य के आधार पर समाज तथा संस्कृति के बारे में निष्कर्ष निकालते हुए तत्सम्बन्धित शोधकार्य के कुछ उदाहरण हमारे समक्ष हैं, उदाहरणार्थ, नरेन्द्र वर्मा : 'सोशल कण्डीशन इन इण्डिया एज रिवील्ड इन संस्कृत एपिक्स', बलदेव बागची : सोशल कण्डीशन एजडेपिक्टेड इन संस्कृत ड्रामाज़, वासुदेवशरण अग्रवाल : इण्डिया एज नोन टु पाणिनी, चन्द्रबली पाण्डेय : कालिदास के समय का भारत इत्यादि । परन्तु ऐ०ब्रा० पर अभी उपर्युक्त प्रकार

की विस्तृत एवं सुव्यवस्थित छानबीन नहीं हुई है, जिसकी आवश्यकता है ।

ऋग्वेद-ब्राह्मणों से सम्बन्धित शोधकार्य

ऋ० और ऋ०ब्रा० अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों के ज्ञान-पिपासा की तुष्टि के विषय वस्तु रहे हैं । ऋ० सम्बन्धी कार्यों की चर्चा तो यहां का विषय नहीं है, अतः ऋ०ब्रा० पर जो प्रशंसनीय कार्य अब तक हो चुके हैं, उन्हीं का उल्लेख यहां प्रसंगतः आवश्यक होगा । ऋ०ब्रा० ग्रन्थ प्रधानतः यज्ञ कर्मों से ही सम्बन्धित हैं । अतः निम्नलिखित प्रयास एवं शोध-कार्य प्रमुखतः उन्हीं से सम्बन्धित हैं । उनके विषय में संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं :

ए०बी० कीथ : `ऋग्वेद ब्राह्मणाज्` । इसमें कीथ महोदय ने ऋग्वेद के मार्टिन हॉग के मूल ऐतरेय ब्राह्मण तथा लिण्डर के मूल कौषीतकि ब्राह्मण का अंग्रेजी में अनुवाद किया है । इसके भूमिका भाग में दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषयवस्तु की तुलना, दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल, सोमयाग, भाषा, शैली, छन्द आदि की विवेचना की है ।

मार्टिन हॉग : `ऐतरेय ब्राह्मण आफ दी ऋग्वेद`
इसमें मार्टिन हॉग ने ऐ०ब्रा० का अंग्रेजी में अनुवाद किया है तथा ऐ०ब्रा० का मूलरूप भी दिया है । भूमिका भाग में सोमयज्ञ सम्बन्धी विस्तृत विवेचना तथा पुस्तक की भाषा, शैली, आदि के विषय में विचार प्रस्तुत किए हैं ।

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमि : ऐतरेयालोचनम् । इसमें आचार्य जी ने ऐ०ब्रा० के रचयिता, उनका दासी पुत्रत्व, जन्मस्थान, आविर्भावकाल, ऐ०ब्रा० की शाखा सम्बन्धी विवेचना, रचना का प्रयोजन, आदि पर विचार किया है। इनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक तथ्यों यथा जातिनिरूपण, ब्राह्मणों का महत्व, बहुविवाह, स्त्री की लज्जाशीलता, पत्नीप्राधान्य, पुत्रों का दायभाग, वाणिज्य, ज्योतिष आदि-आदि का भी निरूपण किया है, किन्तु वह अति संक्षेप में है,

तथा उनका भी केवल ऐ०ब्रा० के आधार पर ही उल्लेख है ।

ए०सी०बनर्जी : स्टडीज़ इन दि ब्राह्मणाज़ोइसमें 'अरि' 'जन' आदि शब्द तथा 'जामि' मातृत्व आदि कुछ पारिवारिक शब्द तथा 'व्रात्य' समस्या आदि पर विचार किया गया है ।

नाथूलाल पाठक : 'ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन।' इसमें ऐ०ब्रा० के यज्ञ सम्बन्धी रूपसमृद्धि, पर्यायविधान निर्वचन, छन्द, आख्यान, ऋषि, दवव देवता, पुरोहित आदि विषयवस्तु को सूचीबद्ध किया गया है ।

शान्ता शर्मा : 'ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का समीक्षात्मक अध्ययन' । इसमें सभी वेदों के उपलब्ध सम्पूर्ण ब्राह्मणों का अध्ययन किया गया है । सभी के साथ ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० का भी अध्ययन हुआ है, किन्तु शत०ब्रा० जैसे बृहद् ब्राह्मणों के साथ ऋ०ब्रा० पर सीमित दृष्टि स्वाभाविक है ।

जोगिराज बसु : 'इण्डिया आफ दि एज आफ दि ब्राह्मणाज़'इसमें भी बसु महोदय ने शत०ब्रा०, तैत्ति०ब्रा०-ऐ०ब्रा० तथा कौषी० ब्रा० का विशेषरूप से तथा सभी ब्राह्मणग्रन्थों का सामान्य रूप से अत्यन्त योग्य अध्ययन किया है । अध्ययन का क्षेत्र अतिविशाल है, तथा उसकी विविधता भी । अत: ऋ०ब्रा० के में उपलब्ध सामग्री का सीमित उपयोग सम्भव हो सका है ।

प्रस्तुत शोधकार्य की आवश्यकता

जहां तक विदित हो सका है, ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों का सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि से सम्बन्धित कोई गवेषणापूर्ण विस्तृत कार्य अभी तक नहीं हुआ है । वर्तमान समय में भी संस्कृत विभागों में कहीं भी इस विषय पर शोधकार्य नहीं हो रहा है । अत: प्रस्तुत शोधकार्य के

लिए ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों को लिया गया है तथा इनका सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है । यहां इतना पुनः स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि कौ०ब्रा० के साथ-साथ शांखायन ब्राह्मण के नाम से प्रकाशित ब्राह्मण ग्रन्थ को ही अध्ययन का आधार माना है । आगे इन दोनों ब्राह्मणों का अध्ययन प्रस्तुत है ।

-0-

द्वितीय अध्याय

समाज (१) : वर्ण व्यवस्था

वर्ण :

वर्णों की उत्पत्ति -- ऋग्वेद के अनुसार, ऋग्वेदीय ब्राह्मणों के अनुसार ।

ब्राह्मण -- शब्दव्युत्पत्ति, ब्राह्मणत्व, ब्राह्मण की शिक्षा-दीक्षा, समाजगत कर्म, अन्य विशेषतायें--आदायी, अवसायी, आदृत, किन्तु अबल, यज्ञीय सोमपान का एकाधिकारी, आत्मापकर्ष, क्षत्रियों से प्रतिस्पर्द्धा ।

क्षत्रिय -- व्युत्पत्ति, कर्म, यज्ञीय पेय-सुरापान, सामाजिक अलगाव ।

वैश्य -- व्युत्पत्ति, कर्म, अन्य विशेषतायें - बलि (कर) प्रदान करने वाला, अन्य से उपभुक्त, इच्छानुसार वशीकृत, यज्ञीय पेय, समाज में स्थिति ।

शूद्र -- व्युत्पत्ति, दास, दासी-पुत्र, समाज में स्थिति, यथेच्छा भेज दिये जाने वाला, सोने से उठा दिये जाने वाला, यथेच्छा ताड़ना दिये जाने वाला, यज्ञीय पेय तथा शूद्रकल्प, नर-बलि, एक शूद्र कर्म ।

अन्य जनजातियां -- दास, दस्यु, राक्षस एवं रक्षस्, असुर, पंचजन, निषाद ।

चतुर्वर्ण की संकल्पना का अन्य क्षेत्रों में प्रयोग -- देवता, यज्ञ, मन्त्र एवं छन्द, वनस्पति, सोम सवन, ऋत्विक्, पशु, राष्ट्र, शरीर ।

ऋग्वेद ब्राह्मणकालीन वैदिक समाज की रूपरेखा ।

- o -

द्वितीय अध्याय

समाज (१) : वर्ण व्यवस्था

अर्थ

भारत की चतुर्वर्गीय जातिप्रथा के लिए वर्ण व्यवस्था शब्द का प्रयोग होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों में विभक्त यह व्यवस्था सौपानिक है, अर्थात् ऊपर से नीचे उच्चता की दृष्टि से क्रमशः नियोजित है। यह व्यवस्था प्राचीन है। ऋ० के दशम मण्डलान्तर्गत पुरुष सूक्त में इसका स्पष्ट निर्देश है।[1] ऋग्वेद ब्राह्मण में भी इसका समुचित उल्लेख है।[2] ऋ० के अन्यान्य स्थलों को देखने से पता चलता है कि यह अवस्था धीरे-धीरे पहुंची होगी।

वर्ण शब्द का प्रयोग ऋ० वाङ्मय में सामान्यतया रंग या प्रकाश के अर्थ में हुआ है।[3] कहीं-कहीं काले या गोरे रंग के स्पष्ट सन्दर्भ के बिना यह तात्कालिक जनगण के[6] विभिन्न दलों के[7] लिए भी उल्लिखित[8] हुआ है, जैसे आर्यवर्ण,[4] दासवर्ण[5] अथवा शौद्रवर्ण। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातिबोधक शब्दों का प्रयोग ऋ० वाङ्मय में बहुल रूप में हुआ है, किन्तु फिर भी इनके लिए वर्ण शब्द का उपयोग पुरुष सूक्त तक में नहीं मिलता है। अतः कहा नहीं जा सकता है कि वर्ण शब्द का प्रयोग जाति के लिए रंग के लाक्षणिक अर्थ में कब से होता आया है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में चतुर्वर्गीय जाति विभेद के लिए 'चत्वारो वर्णाः'

---

१ ऋ० १०.९०.१२

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१

३ ऋ० १.७३.७; १.६.६; ४.५.१३

४ ऋ० ३.३४.६

५ ऋ० २.१२.४

६ ऐ०ब्रा० ८.३६.४

७ ऋ० १.१६४.४५, ४६; ७.१०३.१०; ८.५८.१; १०.१६.६
ऐ०ब्रा० ७.३४.१-८; ७.३५.१-३, ८; ८.३६.१, २; ८.३७.३, ५; ८.३८.१
शां०ब्रा० २५.१५; २८.६

८ ऋ० ४.१३.३; ५.६६.१; ७.६४.२; ८.२५.८; १०.१०६.३
ऐ०ब्रा० ७.३४.२-८; ७.३५.१-३, ८; ८.३६.१, २; ८.३७.३, ५; ८.३८.१
शां०ब्रा० २५.१५; १६.४

(ऐत० ब्रा० ५.२.४६) तथा प्रत्येक की त्वचा के मान्य रंग[1] का समुचित उल्लेख अवश्य मिलता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण या वर्ण व्यवस्था शब्द ऋ० साहित्य का प्रतिनिधित्व तो नहीं करता, किन्तु उस समय विकसित वर्णव्यवस्था को वर्णित अवश्य करता है ।

यह सर्वमान्य है कि वर्ण व्यवस्था ऋ०काल में धीरे-धीरे विकसित हुई है । त्सिमर[2] ने ऋग् युग में वर्ण व्यवस्था के होने का प्रतिवाद किया है, ब्रह्म[3], ब्राह्मण[4], क्षत्र[5], क्षात्रिय[6] शब्दों का प्रयोग तो मिलता है, किन्तु वैश्य तथा शूद्र शब्दों का प्रयोग दशम मण्डल में पुरुष सूक्त के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता है । दोनों ऋ०ब्रा० में भी इन शब्दों का प्रयोग कतिपय स्थलों पर ही मिलता है । इसका अर्थ यह निकलता है कि प्रारम्भिक ऋ०काल में ब्राह्मण तथा क्षात्रिय दो ही स्पष्ट प्रधान दल या वर्ण थे । विश, दास, दस्यु आदि भी थे, किन्तु यह आर्यों की सामाजिक इकाई के औपचारिक अंग के रूप में मान्य नहीं हो पाये थे । इस सम्बन्ध में व्युत्पत्ति सम्बन्धी कथानकों पर दृष्टिपात करना भी उपयुक्त होगा ।

वर्णों की उत्पत्ति

ऋग्वेद के अनुसार -- सर्वप्रथम ऋग्वेद में उपलब्ध सामग्री पर दृष्टिपात करना आवश्यक है । दशम मण्डलान्तर्गत पुरुषसूक्त में वर्णित आख्यान में एक विराट

---

१ मुइर : संस्कृत टेक्स्ट्स भाग १, पृ० १६५, १७१, १७४
  वै०इ०हि० द्वितीय भाग, पृ० २७४
२ वै०इ० हि० द्वितीय भाग, पृ० २७६
३ ब्रह्म-ऋ० १.१०.४; १.३७.४; २.३६.८; ३.१३.६
  ऐ०ब्रा० की सभी पंचिकाओं में लगभग ४० बार प्रयुक्त हुआ है
  शा०ब्रा० के भी अधिकांश अध्यायों में लगभग ३० बार प्रयुक्त हुआ है ।
४ ब्राह्मण शब्द प्रसंग इस अध्याय के आरम्भ में लिखे जा चुके हैं ।
५ क्षत्र-ऋ० १.१५७ २, ६; १.१६२.२२ सभी मण्डलों में अनेक बार प्रयोग हुआ है ।
  ऐ०ब्रा० के सभी पंचिकाओं में लगभग १११ बार प्रयोग में आया है ।
  शां०ब्रा० ३.५; ४.८; ७.१०; ६.५; १०.५; १२.८; १६.४ लगभग १२ बार उल्लेख है ।
६ क्षात्रिय सम्बन्धी प्रसंगों का उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में लिखे जा चुके हैं ।

पुरुष की उत्पत्ति तथा देवों द्वारा उसकी आहुति देकर सृष्टि रचना का उल्लेख है[1]। इसमें ब्राह्मण को मुख से, क्षत्रिय को बाहुओं से, वैश्य को ऊरुओं से, शूद्र को पैरों से उत्पन्न बताया गया है[2]। धारणा यहां ही सुव्यवस्थित है, जिसमें प्रत्येक वर्ण (वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं है) का समाज में उसके विशिष्ट स्थान की ओर तो संकेत है ही, परन्तु इस ढांचे द्वारा उसके विभिन्न अंगों के व्यवहारात्मक एवं संश्लेषणात्मक पारस्परिक सम्बन्धों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। फलतः इसके आधार पर उनके सोपान क्रमिक महत्त्व और कर्म से लेकर रहन-सहन, खाने-पीने आदि के बारे में भी निष्कर्ष निकाले गये हैं, उदाहरणार्थ ऐ०ब्रा० में सोम ब्राह्मणों के लिए सुरा एवं फलों का रस क्षत्रियों के लिए, दही वैश्यों के लिए और केवल पानी मात्र शूद्र के लिए पान का विधान किया गया है[3] (विशेष चर्चा आगे की जायगी)।

दशम मण्डल में प्रथम बार वैश्य तथा शूद्र की वैदिक समाज के अंग के रूप में चर्चा हुई है। यह भी निर्विवाद है कि दशम मण्डल बाद का अर्थात् अपेक्षाकृत अर्वाचीन रचना है। ऐसा प्रतीत होता है, इस कल्पना काल तक चारों वर्णों का सुस्पष्ट निखार हो चुका होगा। पुरोहित वर्ग तथा क्षत्रिय वर्ग की प्रतिस्पर्द्धा भी कम हो चली होगी। विश्वामित्र और वसिष्ठ की प्रतिस्पर्द्धा तो जनश्रुत है ही, ऐ०ब्रा० में यज्ञ के भागने पर ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों के द्वारा उसे लाने की प्रतियोगिता और उसमें क्षत्रिय की हार का संकेत है[4]। शान्ति और आनन्द से युक्त तथा ज्ञान (ब्रह्म) स्वरूप यज्ञ के विषय में किसी अन्य तरीके से न कहकर प्रतियोगिता रूप में कथन दोनों की प्रतिस्पर्द्धा का द्योतक है, किन्तु ब्राह्मण

---

१ ऋ० १०.९०.१-१२ (यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत)

२ तत्रैव : ब्राह्मणोऽस्य मुखम्...... पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।

३ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ भक्षाणां भक्षाणाम्.... सोमं वा दधि वा आपो वा।
ऐ०ब्रा० ८.३७.४ सुरा .... क्षत्ररूपं.... अन्नस्य रसः क्षत्ररूपम्।

४ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ ताभ्यां यज्ञ उदक्रामत् ब्रह्मक्षत्रे अन्वैताम्।

द्वारा यश प्राप्ति तथा क्षात्रिय का प्रयास छोड़कर बैठ जाना प्रतिस्पर्द्धा के समन्वय का बोधक प्रतीत होता है । इस दशा में क्षात्रिय वर्ग के नीचे दो अन्य वर्गों को सुनिश्चित रूप से स्थापित करने की चेष्टा की गई मालूम होती है । यह नहीं कहा जा सकता है कि चतुर्वर्णीय व्यवस्था वास्तविक रूप में कहाँ तक प्रचलित थी । उससे सम्बन्धी धारणाएं ब्राह्मणों तथा दशम मण्डल में जिस ढंग से व्यक्त हैं, उससे शंका होती है कि यह व्यवस्था आशातीत रूप में नियमित न होगी, क्योंकि यह तो वास्तव में एक क्रमिक विकास की बात है । तभी तो पूरी धारणा को भली प्रकार लागू करने की दृष्टि से उसका सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

ऋग्वेदीय ब्राह्मणों के अनुसार -- उपर्युक्त व्युत्पत्ति एवं व्याख्या की ऋ०ब्रा० में वर्णित कल्पना से समुचित मौलिक भेद है । शां०ब्रा० में चतुर्वर्ण विधायक सृष्टिक्रम का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । इतना अवश्य कहा गया है कि प्रजापति ने लोकों, वेदों के साथ ब्रह्म पुरोहित का उद्भव किया[1] । एक अन्य स्थान पर 'प्रजा' के उत्पन्न करने की भी चर्चा है[2], किन्तु इस 'प्रजा' को सुव्यवस्थित सामाजिक वर्ग विशेष की संज्ञा नहीं दी जा सकती है । हो सकता है यह प्रजा वर्ग वैश्य, शूद्र वर्गों का पूर्ववर्ती रूप हो, क्योंकि राजन्य तथा क्षात्र की चर्चा तो ऋ० के प्रारम्भिक मण्डलों से ही होता आ रहा है ।

शां०ब्रा० की अपेक्षा ऐ०ब्रा० में चतुर्वर्ण व्यवस्था का अधिक विशद् उल्लेख है । यहाँ पर भी सृष्टिकर्ता प्रजापति ही है । सर्वप्रथम ब्रह्म क्षात्र रूप में दो वर्गों की उत्पत्ति की कल्पना की गई है-- हुताद और अहुताद । हुताद (हुतावशिष्ट भक्षी) पुरोहित वर्ग जो ब्राह्मण वर्ग का द्योतक है । अहुताद के अन्तर्गत

---

१ शां० ब्रा० ६.१०

२ शां० ब्रा० ५.३

अन्य सभी सम्मिलित हैं, किन्तु उनमें भी क्षत्रिय को प्राधान्य दिया गया है[१]। इससे यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम द्विवर्गीय सामाजिक विभाजन हुआ-- पुरोहित वर्ग तथा क्षत्रिय वर्ग। चूंकि क्षत्रिय या राजन्य का प्रभुत्व स्वाभाविक है, अत: उसके साथ प्रजावर्ग की बात आई। प्रजा में भी एक सम्पन्न वर्ग श्रेष्ठी हुआ, जिसका उल्लेख वैश्यों के अन्तर्गत किया जायगा। शूद्र का अलग वर्गीकरण हुआ। आगे विभिन्न वर्णों के बारे में विचार किया जायगा।

ब्राह्मण

शब्द व्युत्पत्ति

वर्ण व्यवस्था के विकास में ब्राह्मण वर्ग वैदिक समाज में सबसे पहले संघटित हुआ। चूंकि सामाजिक वर्गों का निर्माण किसी विशेषता को लेकर होता है, अत: पौरोहित्य कार्य, जिसकी प्रारम्भिक युगों में सर्वाधिक प्रधानता थी, ब्राह्मण वर्ग का सर्वोच्च वर्ग के रूप में स्पष्ट होने का कारण बना।

ब्रह्म शब्द वेद, ज्ञान तथा ब्रह्मवर्चस्[२] के अर्थों में प्रयोग हुआ है। इनसे युक्त व्यक्ति ब्राह्मण कहलाया। ऐ० तथा शा०ब्रा० में ब्रह्म तथा ब्राह्मण शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयोग होते रहे (ऐ०ब्रा० ७.३४.१ शां० ब्रा० १६.४) किन्तु फिर भी उस समय पहला रूप अधिक प्रयुक्त था। ब्राह्मण शब्द का शां०ब्रा० में बहुत ही सीमित (केवल ५ बार) प्रयोग हुआ है। धीरे-धीरे परवर्ती साहित्य में ब्राह्मण शब्द ही वर्ग विशेष का द्योतक होकर रह गया।

ब्राह्मणत्व

ब्राह्मण वर्ग का आर्षेय परम्परा के रूप में उल्लेख है[३]। कहा गया है कि यजमान को `आर्षेय' अर्थात् किसी ऋषि परम्परा से युक्त होना

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ प्रजापति र्यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे... अनु द्वय्य: प्रजा... हुतादश्चाहुतादश्च ... हुतादो यद् ब्राह्मणं ... अहुतादो यद् राजन्यो वैश्य: शूद्र: इति।

२ ब्रह्म तथा ब्राह्मण सम्बन्धी प्रसंगों का उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है, वहां देखिए।

३ ऐ०ब्रा० ७.३४.७ क्षत्रियस्याऽऽवेदयत् पुरोहितस्याऽऽर्षेयेणेति।
शां०ब्रा० ३.२ यजमानस्य आर्षेयमाह न ह वा अनार्षेयस्यदेवा हविरश्नन्ति।

चाहिए, अन्यथा अनार्षेय यजमान की हवि देवता लोग ग्रहण नहीं करते । ऋषि परम्परा ऋषियों की होती थी और ऋषि अधिकांशतया ब्राह्मण होते थे । क्षत्रिय अथवा वैश्यों की आर्षेय परम्परा उनके पुरोहितों की आर्षेय परम्परा मानी जाती थी[2] । शत० ब्रा०(१.४.२.३-७) में यशस्वी पूर्वजों को भी इस परम्परा के लिए उल्लिखित किया गया है, किन्तु ऐ०ब्रा० में ब्राह्मण अथवा कुलपुरोहित ही आर्षेय परम्परा के आधार थे ।

पुरोहित के रूप में सर्वोच्च वर्ग के नाते ब्राह्मण को तात्कालिक समाज के उच्चादर्शों से युक्त होना वांछित था । उसके लिए उसे विशिष्ट ज्ञान तथा विशिष्ट व्यक्तित्व की आवश्यकता थी । आशा की जाती थी कि वह ब्रह्मवर्चस् युक्त हो । ब्रह्मवर्चस्(पवित्र ज्ञान तथा पवित्र शक्ति अथवा ब्रह्म ओज) से युक्त ब्राह्मण अधिक सम्मानित होता था[2] ।

यज्ञ कर्म प्रधान उस काल में यज्ञसम्पादन ब्राह्मणों द्वारा किया जाता था । यज्ञ में कई कई ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी । यहां तक कि कोई कोई यज्ञ १७ ऋत्विजों द्वारा सम्पादित किए जाते थे[3] । इस काल में जब कि सभी कुछ स्मरणशक्ति पर निर्भर था, ऋत्विक कर्म को भली प्रकार सम्पन्न करने के लिए बहुत अध्ययन तथा अभ्यास करना पड़ता था । फलत: इसका अपने में अत्यन्त विशिष्ट कार्य बन जाना स्वाभाविक था । सबसे अधिक विद्वान् तीनों वेदों के ज्ञान से सम्पन्न (यज्ञ कार्य में ऋग्यजुसाम तीन वेदों को ही महत्ता प्राप्त थी, अथर्व को नहीं), यज्ञ के सभी विधि विधानों का पूर्ण ज्ञाता ऋत्विक, ब्रह्मा कहलाता था ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३४.७

२ ऋ० १.१६४.४ ब्राह्मणा: ये मनीषिण:
ऋ० ७.१०३.१० ब्राह्मण व्रतचारिण:
ऐ०ब्रा० ५.२५.८, ६; ७.३४.६, ७ ब्राह्मण ब्रह्मयशस्कीर्ति
शां०ब्रा० ६.१०,११,१२,१३

३ ऐ०ब्रा० ७.३१.१ सोमयज्ञ के अन्तर्गत कार्य करने वाले १७ ऋत्विजों के बलि पशु के भाग के वर्णन में उल्लेख है ।

यज्ञ की विधि सम्पूर्ण नानाविधियों को देखता हुआ यज्ञ को निस्त्रुटि सम्पादन करना उसका प्रधान कार्य था । अतः ज्ञान के कारण ब्रह्मा कहलाने वाले ऋत्विक का तो सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान था[1] ।

ब्राह्मण की शिक्षा-दीक्षा

उपर्युक्त महत्ता प्रदान करने वाले ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण की उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था है ।नाभानेदिष्ठ के आख्यान से ब्रह्मचर्य जीवन में अध्ययन हेतु गुरु के यहां रहते हुए शिक्षा प्राप्त करने की प्रतीति होती है[2] । ऐसा भी स्पष्ट होता है कि अध्ययन हेतु गुरुगृहों में दीर्घ समय तक रहना पड़ता होगा और शीघ्र आना सम्भव न होता होगा । यहां तक कि उस बीच में पैतृक सम्पत्ति के दायभाग से भी वंचित हो जाना आश्चर्यजनक घटना न थी[3] ।

पूर्ण और सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना यज्ञ सम्पादन करने वाले ब्राह्मण को हेय दृष्टि से देखा जाता था । समाज में उसे 'ब्रह्मबन्धु'[4] की संज्ञा प्राप्त थी । 'ब्रह्मबन्धु' से तात्पर्य ब्राह्मण के ऐसे बन्धु से प्रतीत होता है, जो जातीय रूप से ब्राह्मण होते हुए भी ज्ञान और कर्म से हेय होने के कारण वह बन्धुमात्र ही माना जाता था । सम्यक् ज्ञान के बिना अपूर्ण ज्ञान (अनेवंविद: ऐ०ब्रा० ८.३७.७) से यज्ञ सम्पादन करके यजमान से दक्षिणा ग्रहण करने वाले ऋत्विक् को निषाद,पापी,चोर आदि तक कहा गया है,क्योंकि वह तुलना में सुनसान अरण्य में जाने वाले धनिक का माल लूट कर भाग जाने वाले व्यक्ति के समान माना जाता था[5] ।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.७-६ यज्ञस्यैव भिषग्यद् ब्रह्मा । त्रय्या विद्या(ब्रह्मत्वं क्रियते)।
  शां०ब्रा० ६.१०-१२ केन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्रावृहत्तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति । ब्रह्मणि वै यज्ञ: प्रतिष्ठित: । त्रय्या विद्या भिषज्यति ।

२ ऐ०ब्रा० ५.२२.६ नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं... ।

३ ऐ०ब्रा० ५.२२.६

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.१

५ ऐ०ब्रा० ७.३५.१;७.३५.३;७.३१.१;८.३७.७ यथा ह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषं अरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्त्येवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति ।

ज्ञानार्जन और सम्यक् प्रकार से यज्ञ कार्यों का सम्पादन ब्राह्मणों के महत्व के कारण थे। ऋग्वेद में ब्राह्मण के लिए 'अनूचान: ब्राह्मण:'[1] 'शचि.प्र:'[2], 'विप्र:'[3], 'कवि'[4] आदि ब्राह्मण की विद्या के द्योतक अनेक शब्दों और प्रसंगों का उल्लेख है। ब्राह्मण को वर्ष भर तक व्रत का आचरण करने का उल्लेख है,[5] जिससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण दीर्घ समय तक व्रत का आचरण करते हुए बड़े-बड़े तथा लम्बे लम्बे सत्रों का सम्पादन कार्य करते रहे होंगे।

ब्राह्मण से व्यक्तित्व सम्बन्धी भी उच्च आदर्श अपेक्षित थे। समाज में 'शान्त तनु' ब्राह्मण को श्रेष्ठ माना जाता था। शान्त-तनुब्राह्मण अपने यजमान का कल्याण करने वाला कहा गया है।[6] शान्त तनु होकर ही ब्राह्मण यज्ञ कर सकता था, क्योंकि उग्र रूप यज्ञ के लिए अमान्य माना जाता था। शारीरिक बल व ओज से युक्त धनुष, बाण तथा कवच आदि को धारण करने वाले क्षत्रिय को उग्र रूप कहा गया है। अपेक्षा की गई है कि वह भी जब यज्ञ में आये तो अपने आयुधों को त्याग कर ब्राह्मण रूप से बद्ध होकर यज्ञ में आये।[7] यज्ञ करने वाला क्षत्रिय यजमान भी यज्ञ में दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता था।[8]

समाजगत कर्म

ब्राह्मण तीनों वर्णों का पुरोहित भी होता था। ऐसे क्षत्रिय राजा का, जिसका पुरोहित नहीं होता था, देवता अन्न ग्रहण नहीं

---

१ ऋ० ८.५८.१

२ ऋ० १.१६४.४६

३ ऋ० २.२४.१३; १.१४.६

४ ऋ० १.३१.१, २; ३.५.१

५ ऋ० ७.१०३.१० संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणव्रतचारिण:।

६ ऐ०ब्रा० ८.४०.१ त एनं शान्ततन्वोऽभिहुता: अभिप्रीता स्वर्गं लोकमभिवहन्ति।

७ ऐ०ब्रा० ७.३४.२ क्षत्रियो यजमानो निधायैव स्वान्यायुधानि ब्रह्मण एवाऽऽयुधैर्ब्रह्मणो रूपेण ब्रह्मभूत्वा यज्ञमुपावर्तते।

८ ऐ०ब्रा० ७.३४.५ स ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति... ब्रह्म वा अयं भवति ब्रह्म वा अयमुपावर्तते।

करते थे[१]। इसीलिए राजा ने ब्राह्मण को 'पुरो दधात' अर्थात् सामने रखा, जिससे देवता लोग उसका अन्न ग्रहण करें[२]। अतः वह ब्राह्मण पुरोहित कहलाया । पुरोहित राजा के कल्याण के लिए सब यज्ञ कर्मों का सम्पादन करता था, सब प्रकार हितेच्छा करता था[३]। अभिषेक के समय राजा को शपथ लेनी होती थी कि वह पुरोहित से द्रोह नहीं करेगा । यदि द्रोह करेगा तो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त के सारे सुकृत, दीर्घायु तथा सन्तति आदि सब नष्ट हो जायं[४]। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि इस समय पुरोहित का महत्वपूर्ण स्थान हो गया था । पुरोहित की प्रसन्नता और अनुमति के बिना राजा कोई भी कार्य स्वेच्छा से नहीं कर सकता था । पुरोहित के प्रसन्न रहने पर राजा का क्षात्र, बल, विश, प्रजा, राज्य आदि सब की वृद्धि होती हुई बताई गई है[५]। पुरोहित 'राष्ट्रगोप' अर्थात् राष्ट्र का रक्षक कहलाता था, तथा देवताओं की प्रसन्नता के माध्यम से पुरोहित राजा के राज्य का संरक्षण एवं संवर्धन करता था[६]।

<u>अन्य विशेषतायें</u>

<u>आदायी</u> -- ब्राह्मण की कुछ अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख आया है । ब्राह्मण 'आदायी' अर्थात् दूसरों से दान ग्रहण करने वाला कहा गया है[७]। यज्ञों में ब्राह्मणों को विविध प्रकार की दक्षिणा दिये जाने का उल्लेख है, जैसे गायें[८], पुराने रथ[९],

---

१ ऐ०ब्रा० ८.४०.१ न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति

२ ऐ०ब्रा० ८.४०.१ तस्माद् राजा ..... ब्राह्मणं पुरो दधीत देवा मे अन्नमदन्तु ।

३ ऐ०ब्रा० ८.४०.१ अग्नीन्वा एष स्वर्ग्यान्राजोद्धरते यत्पुरोहितम् ।

४ ऐ०ब्रा० ८.३९.१ यां च रात्रीं .....यदि ते द्रुह्येयम् ।

५ ऐ०ब्रा० ८.४०.१ स एनं .... स्वर्गं लोकमभिवहति क्षत्रं च बलं च राष्ट्रं च विशं च

६ ऐ०ब्रा० ८.४०.२.४ .... एवं यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः ...

७ ऐ० ब्रा० ७.३५.३

८ ऐ० ब्रा० ८.३९.८,९

९ शां०ब्रा० १.५ पुनरुत्स्यूतो जरत्संव्यायः पुनः संस्कृतः कद्रथोऽनड्वान् हिरण्यं व दक्षिणा ... ।

जूते[1], दण्ड[2], स्वर्ण[3] आदि । पुराने रथ के दान को ग्रहण करने से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण वैभव से रहने के लिए प्रयासशील थे, किन्तु इस क्षेत्र में राजा की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे । दक्षिणा के अतिरिक्त यज्ञों में तथा अन्य अवसरों पर विविध प्रकार के दान भी प्राप्त करता था[4] । एक स्थल पर अनेक दासियां, हाथी, घोड़े, असंख्य गायें आदि दान में दिये जाने का उल्लेख है[5] ।

अवसायी -- ब्राह्मण को 'आवसायी'[6] अर्थात् दूसरों से मांग कर भोजन करने वाला भी कहा गया है । ब्राह्मण स्वत: ज्ञानार्जन करने तथा दूसरों के लिए यज्ञादि कार्य सम्पादन करने वाला होता था । अत: व्यस्त रहने के कारण सम्भवत: उसे अपने जीवन निर्वाह हेतु भोजन तथा अन्य विविध वस्तुओं के लिए अन्य वर्गों पर आश्रित रहना पड़ता था । जिन वस्तुओं को वह अन्य वर्गों से दान-दक्षिणा में प्राप्त करता था उनसे अपना निर्वाह करता था ।

आदृत, किन्तु अबल -- ब्राह्मण को 'यथाकामप्रयाप्य'[7] अर्थात् इच्छानुसार निर्वासित किया जाने वाला कहा गया है । तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण शारीरिक शक्ति व धन-बल में क्षत्रिय तथा वैश्य के समान न होने के कारण किसी के भी द्वारा घर व ग्राम से निकाल दिया जाता था । यह एक ऐसी दशा थी जिसमें ब्राह्मण सामाजिक मान्यताओं के कारण समादृत तो था, किन्तु उसके पास निजी शक्ति नहीं थी । ऐसी अवस्था से छुटकारा पाने की दृष्टि से वह पौरोहित्य तथा अध्यापन कार्य के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कार्य करने की ओर अग्रसर हुआ[8] जिनके कारण उनकी दैहिक शक्ति बढ़ी । वैद्य कर्म इसका एक प्रमुख उदाहरण है ।

१,२ शां० ब्रा० ४.३ दण्डोपानहं दक्षिणा

३ शां० ब्रा० १.५ हिरण्यं वा

ऐ० ब्रा० ८.३६.६ ; ८.३६.६ ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात्

४ ऐ० ब्रा० ८.३६.८, ६

५ तत्रैव

६ ऐ०ब्रा० ७.३५.३

७ तत्रैव

८ ऋ० १०.६७.२२ ओषधय: संवदन्ते सोमेनसह राज्ञा

यस्मै कृणोति ब्राह्मणास्तं राजन् पारयायसि ।

यज्ञीय पेय --सोमपान का अधिकारी -- ब्राह्मण को अपायी[1] अर्थात् सोमपान करने वाला कहा गया है । उन दोनों सोमयागों तथा अन्य यागों में भी सोमरस की आहुतियां दिये जाने का प्रचलन था । सोम याग को यों तो किसी भी द्विजाति वर्ग के व्यक्ति को करने का अधिकार था,[2] किन्तु कोई राजा अथवा धन सम्पन्न व्यक्ति ही इसको कर सकता था । ब्राह्मण निर्धन होने के कारण स्वतः सोमयाग करने में समर्थ नहीं था[3] । इस पर भी ऋग्वेदीय काल में विभिन्न वर्गों द्वारा किये जाने वाले सोमयागों में सोमपान का एकाधिकार ब्राह्मण का ही कहा गया है[4] । ऋग्वेद के नवम मण्डल में तथा अन्य मण्डलों में यत्र-तत्र सोम रस की प्रशंसा भरी पड़ी है । उसको देखने से ज्ञात होता है कि उन दिनों सोम रस का पान कोई भी कर सकता था । सोम घड़े के घड़े भरे पड़े रहते थे । किसी वर्ग विशेष द्वारा पिये जाने का कोई प्रतिबन्ध नहीं था[5] ।

जात्यपकर्ष -- ऐ० ब्रा० में सोमरस का पान केवल ब्राह्मण द्वारा किये जाने का उल्लेख है । यदि क्षत्रिय सोमरस का पान करेगा तो उसकी सन्तान में ब्राह्मण के गुण आजायेंगे और उसकी सन्तान 'ब्रह्मबन्धु' हो जाता थी[6] । तात्पर्य यह है कि वह क्षत्रिय के गुणों से हीन होकर ब्राह्मण के गुणों को भी प्राप्त नहीं कर पाता था । जब निम्न वर्ण का कोई व्यक्ति अपने से ऊंचे वर्ण के आचरण करने का प्रयास करता था तो उसे जात्यपकर्ष प्राप्त होता था न कि जात्युत्कर्ष । अतः ब्रह्मबन्धु होना अथवा क्षत्रिय की ब्राह्मण सदृशता आचरणहीनता का लक्षण माना जाता था ।

क्षत्रियों से प्रतिस्पर्द्धा

ऋग्वेद काल से ही समाज में ब्राह्मणों का मूर्धन्य स्थान रहा । उत्पत्ति क्रम में यज्ञ पुरुष[7] के मुख से सर्वप्रथम ब्राह्मण का आविर्भाव

---

१ ऐ० ब्रा० ७.३५.३
२ काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५४४
३ ,, ,, ,, ,, पृ० ५०६
४ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ सोमं ब्राह्मणानां स भक्षः ।
५ ऋ० ६.११.१,३; ६.२०.६; ८.७१.७; ६.५६.१; ६.४६.५
६ ऐ० ब्रा० ७.३५.३ ब्राह्मणतामभ्युपेतो: स ब्रह्मबन्धवेन जिज्युषितः ।
७ ऋ० १०.६०.१२

~~के मुख से सर्वप्रथम ब्राह्मण का आविर्भाव~~ होता है । राजा के द्वारा भी सम्मान सबसे आगे रखे जाने के कारण पुरोहित कहलाता था,[1] किन्तु ऋग्वेद काल से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय की पारस्परिक स्पर्द्धा के प्रसंग मिलते हैं । ऋग्वेद के वसिष्ठ विश्वामित्र के जनश्रुत आख्यान के अतिरिक्त ऐ०ब्रा० में यज्ञ के भाग जाने एवं ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों के द्वारा लाये जाने के प्रयत्न करने का आख्यान है[2] । अन्त में ब्राह्मण उसे ले आता है, क्योंकि यज्ञ के उपकरण - स्रुच्य, कपाल, शूर्प, कृष्ण जिन, अग्निहोत्र हवणी, शम्या, उलूखल, मुसल, दृषत् उपल आदि ब्राह्मण के आयुध कहे गये हैं[3] । यज्ञ इन्हें देखकर प्रसन्न होकर ब्राह्मण के पास आ जाता है, जब कि क्षत्रिय से व उसके आयुधों से डरकर दूर भागता कहा गया है[4] । ब्राह्मण-क्षत्रिय की यज्ञ प्राप्ति की प्रतिस्पर्द्धा तथा ब्राह्मण द्वारा यज्ञोपकरणों से यज्ञ की प्राप्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि संसार के अन्य भागों के समान वैदिक पुरोहित वर्ग भी अपने कृत्यों को रहस्यमय बनाकर दूसरों को उनसे अनभिज्ञ रखने के लिए कुछ प्रयत्नशील प्रतीत होता था, किन्तु इस ओर अधिक कदम नहीं बढ़ा पाया था ।

क्षत्रिय

व्युत्पत्ति

ब्राह्मण के पश्चात् वैदिक समाज में क्षत्रिय का स्थान आता था । ब्राह्मण वर्ग यज्ञ सम्पादन करने वाला कहा जा सकता था, तो क्षत्रिय वर्ग को यज्ञ कराने वाला कहने में कदाचित् अत्युक्ति न होगी । वैसे तो क्षत्रिय के राजप्रबन्ध, सुरक्षा तथा तदनुरूप अन्यान्य कर्म बतलाये गये हैं, किन्तु कर्मकाण्ड प्रधान उस युग में क्षत्रिय ही इतना सम्पन्न था, जो यज्ञों का यजमान हो सकता था।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.४०.१

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१

३ ऐ०ब्रा० (क) ७.३४.१ ब्रह्मण आयुधानि अयज्ञायुधानि| शाखान्तरे श्रूयन्ते-स्रुचश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्यां चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला च... ।

४ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ आयुधेभ्यो ह स्मास्य विजमानः पराङैति ।

ऋ० काल में वैश्य का वाणिज्य आदि के कारण गतिशील जीवन होने के कारण अथवा धन वर्ग के रूप में इतना विकास न हो पाया था कि वह क्षत्रिय की इस बात में समकक्षता कर पाता ।

ऋ० तथा उसके ब्राह्मण ग्रन्थों में क्षत्र तथा क्षत्रिय शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया गया है[१]। 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग अधिकांशतः बल और ऊर्जा के अर्थ में आया है[२]। इनको धारण करने वाले व्यक्ति विशेष का द्योतक क्षत्रिय शब्द (तथा क्षत्र शब्द भी) क्षत्रिय वर्ण और क्षत्रिय राजा के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा[३], किन्तु ऋ० तथा ऐ०ब्रा० में क्षत्र शब्द का ही क्षत्रिय जाति और क्षत्रिय वर्ण के व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिकप्रयोग किया गया है[४]। क्षत्रिय के लिए क्षत्र व क्षत्रिय शब्द के साथ राजा[५] तथा राजन्य[६] शब्दों का भी उल्लेख है। सभी शब्द पर्यायी रूप में ही प्रयुक्त हैं। सभी शब्दों का आरम्भ समान और राजकीयता अथवा उससे सम्बन्धित दृष्टिगत होता है। उत्पत्ति क्रम में ऋ० दशम मण्डल में तथा ऐ०ब्रा० में 'राजन्य' शब्द का उल्लेख आया है[७]। भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय) की उत्पत्ति भुजबल की द्योतक है, जो क्षत्रिय के लिए बाद के साहित्य में गौरव माना गया। भुजबल और दण्ड धारण ही राजसत्ता के आधार माने जाते हैं। अतः क्षत्र को धारण करने वाला क्षत्रिय, राजन्य आदि शब्दों का पर्यायी होता हुआ राजसत्ता को धारण करने वाला हुआ। अतः क्षत्र व क्षत्रिय राजा एवं राजन्य राजपरिवार से सम्बन्धित ही कहे जा सकते हैं।

---

१ क्षत्र व क्षत्रिय शब्द के प्रसंगों का उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है।

२ ऋ० १.२५.५; १.२४.६; १.१४०.८; १.५४.८,११; ६.२६.८,
ऐ०ब्रा० ८.४०, १,२,४
शां०ब्रा० ४.८; ७.१०; ३.५

३ ऐ०ब्रा० ७.३४.२,४,६,७,८;७.३५.३,५,७,८;८,३७.१,२,४;८.३८.१

४ इनका उल्लेख अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है।

५ ऐ०ब्रा० में ७वीं तथा ८वीं पंजिका में लगभग ८ ४० बार आया है।
शां०ब्रा० ४.४,१२;७.१०;६.५,६;१२.५;१८.१;२३.३;२६.१३;२७.६

६ ऐ०ब्रा० १.५.२;३.१५.४;७.३४.१,२,५;७.३५.५;८.३६.२,३,४; ८.३७.२,४
शां०ब्रा० में राजन्य का उल्लेख नहीं है।

७ ऋ० १०.९०.१२ बाहू राजन्यः कृतः।
ऐ०ब्रा० ७.३४.१ अथैता अहुतादो यज्ञराजन्यः।

कर्म

क्षत्रियों के कार्यों के अनुरूप धनुष, बाण आदि आयुध धारण करना तथा कवच धारण करना उस समय उनकी वेशभूषा का अंग हो गये प्रतीत होते हैं[1]। शुनःशेप आख्यान में क्षत्रिय पुत्र रोहित को वरुण देवता को बलि देने के प्रसंग में रोहित के `सांनाहुक` अर्थात् युवा होने पर धनुष, बाण, कवच आदि से युक्त क्षत्रिय जाति के अनुकूल गौरव से पूर्ण होने पर बलि दिये जाने के लिए उल्लेख है[2]। सांनाहुक होना उनके कार्यानुकूल ही प्रतीत होता है।

क्षत्रियों को `विश्वस्य भूतस्य अधिपति` अर्थात्[3] सम्पूर्ण प्राणियों का अधिपति कहा गया है। सम्पूर्ण प्राणियों का अधिपतित्व शासन रूप में उसे प्राप्त हो सकता था। ऐ०ब्रा० में राजाओं के विविध राज्यों के अनुसार राजा के विविध पदों--राजा, सम्राट् विराट्, एकराट्, स्वराट् आदि का उल्लेख है[4]।

क्षत्रिय को `अमित्राणां हन्ता` अर्थात् शत्रुओं का[5] नाशक, `असुराणां हन्ता`[6] अर्थात् असुरों का नष्ट करने वाला, `पुरां भेत्ता`[7] अर्थात् शत्रु नगरियों का विनाशक कहा गया है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि क्षत्रिय से शत्रुओं को नष्ट करने की अपेक्षा की जाती थी।

क्षत्रिय को `ब्रह्मणो गोप्ता`[8] अर्थात् वेदों का रक्षक, `धर्मस्य गोप्ता`[9] अर्थात् धर्म का रक्षक, `ब्राह्मणानां गोप्ता`[10] अर्थात् ब्राह्मणों का

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ अथैतानि क्षत्रस्याऽऽयुधानि यदश्वरथः कवच इषुधन्व:।
२ ऐ०ब्रा० ७.३३.२ यदा वै क्षत्रियः सांनाहुको भवति अथ स मेध्योभवति।
३ ऐ०ब्रा० ८.३८.१; ८.३९.३
४ ऐ०ब्रा० ८.३८.१,३
५ ऐ० ब्रा० ८.३९.३
६ ऐ०ब्रा० ८.३८.१
७ तत्रैव
८ ऐ०ब्रा० ८.३८.१; ८.३९.३
९ तत्रैव
१० ऐ०ब्रा० ८.३९.३

रक्षक कहा गया है । क्षत्रिय के उपर्युक्त तीन रक्षक रूपों का जो विशेष उल्लेख किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि पुरोहित वर्ग राजन्य वर्ग से विशेष मान-मर्यादा की अपेक्षा करता था । सम्भवतः शंकित भी था । एक स्थल पर राजा (क्षत्रिय) को पुरोहित(ब्राह्मण) से द्रोह न करने तक की भी शपथ दिलवाई गई है[1]। कानून किसी पाये जाने वाले दोष को रोकने के लिए बनाया जाता है । इसी साम्यानुमान के आधार पर कह सकते हैं कि क्षत्रिय वर्ग को वश में रखने के लिए पुरोहित वर्ग को सजग रूपेण प्रयत्नशील रहना पड़ता होगा । राजन्य वर्ग सहजरूपेण उनका अनुगामी नहीं होता होगा ।

क्षत्रिय को 'विशामत्ता'[2] अर्थात् प्रजाजनों का भोक्ता कहा गया है । 'विश्' शब्द से बोधक वैश्य वर्ग अथवा प्रजावर्ग कदाचित् कृषि एवं व्यापार आदि के कारण धन सम्पन्न होता होगा । अतः राजा इस वर्ग से ही आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करता होगा । आश्चर्य की बात है कि उसे जनता का रक्षक भी क्यों नहीं बतलाया गया है । ऐ०ब्रा० के काल तक ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित प्रधान वैदिक समाज योद्धा शासक वर्ग प्रधान सामन्त युग में पदार्पण कर चुका था, जिसके बाद इस प्रकार के समाज की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई ।

यज्ञीय पेयःसुरा पान

राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय द्वारा सुरापान का उल्लेख है[3]। सोम पान के लिए उसे अनधिकृत माना गया है[4] (देखिए 'ब्राह्मण' के अन्तर्गत यज्ञीयपेय), किन्तु सुरा को सोम कहकर तथा सोमपान के मन्त्र द्वारा सुरा पान करने

---

१ ऐ० ब्रा० ८.३८.१

२ ऐ० ब्रा० ८.३८.१; ८.३६.३

३ ऐ०ब्रा० ८.३८.१; ८.३६.३

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.३

का विधान है[1]। सुरा को 'अन्नस्य रस:'[2] कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सुरा अन्न और फलों के रस के द्वारा तैयार किया हुआ मादक द्रव्य होता है। सोम को तैयार करने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, बल्कि ताज़ा-ताज़ा निकाल कर प्रयोग में लाया जाता था,[3] यहां तक कि यज्ञों में प्रति दिन दिन में तीन बार सोमरस निकाले जाने का उल्लेख है[4]। वैसे तो सोम और सुरा दोनों मादक द्रव्य हैं[5] (सोम एवं सुरा के विषय में विस्तृत वर्णन संस्कृति-बाह्यपक्ष में पेय पदार्थ के अन्तर्गत देखिए), किन्तु सुरा अपेक्षाकृत अधिक मादक होने के कारण क्षत्रिय का एकमात्र पेय बने तथा सोम नहीं, इस बात का नैमित्तिक विधान क्षत्रिय के आचरण में सामन्ती जीवन की विलासिता, अतिवादिता तथा उग्रता का समाज में स्वीकारिता का द्योतक प्रतीत होता है।

सामाजिक अलगाव -- यह आश्चर्यजनक बात है कि सभी धर्मों में सुरापान का निषेध है, किन्तु यहां सुरापान को एक धार्मिक कृत्य के रूप में क्षत्रियों के लिए विधान किया गया है। इससे यही कहा जा सकता है कि इस वर्ण की उग्र स्वभाव वाले लड़ाकू सैनिक महत्व के व्यक्तियों के रूप में ही अपेक्षा की गई। यह मान्यता समाज में कुछ ऐसी पैठ गई कि ऋग्वेदीय क्षत्रिय का यह स्वरूप बहुत कुछ मूल रूप में अर्वाचीन काल तक इस वर्ण की विशेषता बनी रही।

यही नहीं, क्षत्रिय को वैश्यों के यज्ञीय पान (दधि) तथा शूद्रों के यज्ञीय पान (जल) इतने सबल रूप से वर्जित हैं कि उन्हें अपने वर्ण से च्युत (वैश्यकल्प तथा शूद्रकल्प--इनकी चर्चा आगे वैश्यों और शूद्रों के प्रसंग में की जायगी) का भय दिलाया गया है। खान पान के आधार पर वर्ण च्युत होने का विधान किसी अन्य वर्ण के लिए नहीं (ब्राह्मण के लिए भी नहीं) किया गया है।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.४; ८.३८.६
२ ऐ० ब्रा० ८.३७.४ सुरा भवति .... क्षात्रं रूपं तदथो अन्नस्य रस:
३ ऐ०ब्रा० ७.३१.६
४ ऐ०ब्रा० ३.१३.३ प्रात: सवनम्.... माध्यन्दिन सवनम्.... तृतीय सवनम्
  शां०ब्रा० १६.४
५ ऐ०ब्रा० ८.३७.४,७; ८.३६.३ स्वादिष्ठया मदिष्ठया... सुतं सोम मदामसि
  ऋ० १०.३४. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो (मादयति)

पुरोहित वर्ग द्वारा दासियों को चारों ओर से पृथक् रखने का प्रयास प्रारम्भिक काल से चला आ रहा है, सचमुच ही यह तथ्य हिन्दू समाज के विकास को समझने के लिए बड़े ही अर्थपूर्ण हैं ।

वैश्य

व्युत्पत्ति

ऋ० एवं ब्रा० में 'विश' और 'वैश्य' दोनों शब्दों का उल्लेख आया है । इनमें 'विश' शब्द का प्रयोग पर्याप्त रूप में किया गया है । ऐ०ब्रा० में लगभग ४० बार इसका प्रयोग किया गया है, तथा शां०ब्रा० में ७ बार इसका उल्लेख है । 'वैश्य' शब्द का प्रयोग विश की अपेक्षा बहुत कम हुआ है । ऐ०ब्रा० में वैश्य शब्द का प्रयोग केवल ८ बार आया है, जिसमें वैश्य सम्बन्धी वैश्यकल्प, वैश्यता आदि शब्दों की भी गणना है । शां०ब्रा० में वैश्य शब्द का प्रयोग केवल ३ बार है, और ऋ० में तो केवल एक बार उत्पत्ति क्रम में दशम मण्डल के अन्तर्गत इसका उल्लेख है ।

ऋ० में विश (विद्, विह्) शब्द प्रजा का वाचक होकर प्रयुक्त हुआ है, वैश्य वर्ण के लिए नहीं, किन्तु शां०ब्रा० तथा ऐ०ब्रा० में विश शब्द कहीं-कहीं प्रजावाचक अर्थ के साथ वैश्य वर्ण के लिए ही अधिकांशतः प्रयुक्त हुआ है[१] । वैश्य शब्द का प्रयोग वैश्य वर्ण तथा वैश्य वर्णगत व्यक्ति के लिए प्रयोग किया गया है[२] ।

विश और वैश्य शब्दों के अतिरिक्त 'विशपति' शब्द का उल्लेख है । ऐ०ब्रा०[३] में केवल एक बार तथा शां०ब्रा०[४] में केवल दो बार

---

१ ऐ०ब्रा० २.१०.१; ६.२६.५; १.२.३; ८.४०.३ तस्मै विशः स्वयमेवाऽऽनमन्त
शां०ब्रा० ४.१२; १६.४; ७.८

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१; ७.३५.३

३ ऐ०ब्रा० ४.२०.४ | यज्ञस्य वो रथ्यं विश्पतिं विशामिति ... ।

४ शां०ब्रा० १६.६; २२.२

प्रयुक्त हुआ है । ऋ०ब्रा० में ऋ० के मन्त्रांश में ही इसका उल्लेख है । इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से इनका कहीं प्रयोग नहीं आया । ऋ० में इसका प्रयोग विशों के स्वामी (प्रजापालक) के अर्थ में प्रतीत होता है । ऋ० में आये हुए उल्लेखों पर सायण ने टिप्पणी करते हुए 'विशपति' शब्द का 'प्रजापालक होता'[1], 'सेनापति'[2], 'प्रजापालक राजा'[3] तथा 'मेधावी कवि'[4] आदि अर्थ किया है । इससे प्रतीत होता है कि ऋ० में 'विशपति' शब्द का प्रयोग 'विश' शब्द से बोधक प्रजावर्ग के स्वामी अर्थात् क्षत्रिय राजा के लिए किया जाता होगा । किन्तु ऐ०ब्रा० के समय तक विशपति शब्द का प्रयोग न होकर क्षत्रिय राजा के लिए क्षत्रिय, राजन्य, अधिराज, अधिपति[5], आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा, और 'विश' वाचक जनता भी वैश्य वर्ण के रूप में सुस्पष्टता प्राप्त करने लगी । यद्यपि 'विश' शब्द इस काल में भी प्रजा के रूप में भी कहीं-कहीं उल्लिखित हुआ है[6], किन्तु अधिकांशतः वैश्य वर्ण अथवा वैश्य वर्ण के व्यक्ति के लिए ही हुआ है ।

विश और वैश्य शब्द के अतिरिक्त 'श्रेष्ठी' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ऐ०ब्रा० में केवल एक बार तथा शां०ब्रा० में तीन बार प्रयुक्त हुआ है[7] । यह शब्द किसी वर्ण विशेष से स्पष्ट जुड़ा हुआ नहीं प्रतीत होता, किन्तु क्षत्रिय और ब्राह्मणों के कर्मों का सुस्पष्ट नियमन के कारण यही प्रतीत होता है कि यह शब्द धनी वैश्य के लिए प्रयोग हुआ होगा । वाणिज्य, कृषि, पशुपालन

---

१ ऋ० १.२६.७
२ ऋ० १.३१.११
३ ऋ० १.३७.८; १.१२८.७; १०.६२.१
४ ऋ० ३.२.१०; ६.१.८
५ ऐ०ब्रा० ८.३७.१... यो दीक्षते क्षत्रियः सन्.... पुनरभिषिंचति....
ऐ०ब्रा० ८.३७.२ क्षत्रं राजन्यः ... अश्नुते ह.... आधिपत्यं ...क्षत्रियसन्
ऐ०ब्रा० ८.३७.३ राज्ञां त्वमधिराजो
६ ऐ०ब्रा० ८.४०.३ तस्मै विशः.... आनमना...राष्ट्राणि वै विशो.... ।
७ ऐ०ब्रा० ३.१३.६ तस्माद् श्रेष्ठी पात्रे रोचयति
शां०ब्रा० ५.५ ; २८.६

तथा अन्य शिल्पों से धन का अधिक लाभ होने से कदाचित् धना होने से श्रेष्ठी होते हुए जो बाद में 'सेठ' या 'शेट्टी' का पर्याय बना प्रतीत होता है ।

कर्म

प्रजावाचक, राष्ट्रवाचक [1] तथा वैश्यवर्ण वाचक 'विश' शब्द से बोध लोगों के शिल्पों का वर्णन परवर्ती साहित्य में गो, अश्व, हस्ति, हिरण्य, अजा, अवि, ब्रीहि, यव तिल, माष, सर्पि, क्षीर, रयि, पुष्टि बतलाये हैं [2]। इनके अतिरिक्त पक्षी पकड़ना (शाकुन्तिका) हरिणी पकड़ना, पशुपालन, आदि कार्य भी भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में [3][4][5] आते हैं जिससे प्रकट होता है कि विश वाची साधारण प्रजा व्यापार, कृषि, पशुपालन, पशु-पक्षी पकड़ना आदि सभी कार्य करती थी । यही प्रजावाचक विश शब्द ही धीरे-धीरे बाद में वैश्य का द्योतक हो गया है, और जो ऋ०ब्रा० में काल समाज में एक वर्ण के रूप में उभरा ।

बलि(कर) प्रदान करने वाला -- वैश्य के विषय में कुछ अन्य विशेषताओं का [6] उल्लेख है । वैश्य को 'अन्यस्य बलिकृत' अर्थात् दूसरों के द्वारा बलि(कर) ग्रहण किये जाने वाला अर्थात् उपभुक्त होने वाला कहा गया है । इससे यह प्रकट होता है कि वैश्य उपर्युक्त वाणिज्य, कृषि आदि कार्यों द्वारा पर्याप्त धनार्जन करते थे । वाणिज्य आदि की वस्तुएं देश के सभी व्यक्तियों के लिए उपभोग की वस्तुएं होंगी ही, अर्जित धनराशि में से राजा भी बलि(कर) ग्रहण करता होगा जैसा कि आज भी सभी जनता तथा व्यवसायी वर्ग से आयकर तथा बिक्री कर लिया जाता है, जो शासन द्वारा आवश्यक कार्यों में व्यय किया जाता है ।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.४०.३ राष्ट्राणि वै विशो

२ जै०ब्रा० १.२६३ एतानि वै विशि शिल्पानि गौऽश्वं हस्ति हिरण्यमजाविकं ब्रीहि यवतिलमाषासर्पि: क्षीरं रयि:पुष्टि: ।

३ तै०ब्रा० ३.६.७.३ विड् वै शाकुन्तिका

४ तै०ब्रा० ३.६.७.२ विड् वै हरिणी

५ तां०ब्रा० १८.४.६ एतद्वैश्यस्य समृद्धं यत्पशव: ।

६ ऐ०ब्रा० ७.२९.३

अन्य से उपभुक्त -- वैश्यों को 'अन्यस्याद्य'[1] अर्थात् दूसरों के द्वारा भक्ष्य अथवा आत्मसात् किये जाने वाला कहा गया है । राजा द्वारा 'कर' ग्रहण रूप में वैश्य राजा का भक्ष्य कहा जा सकता है । यह भी कहा जा सकता है कि एक राजा का प्रजावर्ग (विश) अन्य राजा से विजित होने पर उस विजेता राजा द्वारा उपभुक्त और आत्मसात् किया जाता था । वैश्यों द्वारा किये जाने वाले वाणिज्य सम्बन्धी वस्तुओं का उपयोग सभी करते होंगे । अतः इनके प्रयोग के कारण भी वैश्य दूसरों के द्वारा भक्ष्य कहा जा सकता है ।

इच्छानुसार वशीकृत -- वैश्य को 'यथाकामप्रयाप्य'[2] अर्थात् इच्छानुसार उत्पीड़ित या जीतकर वश में रखे जाने वाला भी भी कहा गया है । राजा अथवा अन्य विजेता शासक द्वारा वैश्य को जीतकर इच्छानुसार अपने वश में रखा जाता होगा, जिस प्रकार से अर्वाचीन समय में भी कोई राजा किसी देश को युद्ध में जीत कर वहां की जनता को इच्छानुसार अपने वश में रखता है और उसपर मनमाना शासन करता है ।

राजा के प्रतिकूल विद्रोह कार्य करने वाली जनता (विश) को पापी कहा गया है[3] । यह आशा की जाती थी कि जनता नैतिकता से युक्त होकर अपना अपना कार्य भली प्रकार करे ।

यज्ञीय पान -- यज्ञ में वैश्यों का पान दही कहा गया है[4] । क्षत्रियों के समान वैश्यों में उग्रता आदि की आशा से परे उनका पान भी शान्त रखने वाला दधि कहा गया है । यज्ञ में क्षत्रिय द्वारा वैश्य का पान दधि खाने पर क्षत्रिय की सन्तान वैश्य के गुणों से युक्त हो जाती थी, जो 'वैश्यकल्प' कहलाता था[5] । यहां वैश्यकल्प का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जो जन्म से वैश्य न होने पर भी वैश्य के कर्म से युक्त हो ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.३

२ तत्रैव

३ ऐ०ब्रा० ६.२६.५ तद्विशं प्रत्युद्यामिनीं कुर्युः पापवस्यम् ।

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ दधि वैश्यानां स भक्षः

५ तत्रैव

समाज में स्थिति

यज्ञ में आये हुए विविध प्रसंग समाज में वैश्य की स्थिति को द्योतित करते हैं। सोमयाग के प्रसंग में स्तोमों को ब्रह्म, क्षत्र, विश, शूद्र चतुष्टय रूप कहा गया है।[1] इनमें विश को तृतीय स्थान पर कहा गया है। शा०ब्रा० में प्रातः तथा माध्यन्दिन सवनों को क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र कहने के पश्चात् तृतीय सवन को विश कहा गया है।[2] इससे भी वैश्य की समाज में तृतीय स्थान पर स्थिति प्रकट होती है। व्यवसायों के आधार पर वैश्य को व्यावसायिक वर्ग भी कहा जा सकता है।

शूद्र

व्युत्पत्ति

ऋ० में शूद्र का एकाकी प्रयोग दशम मण्डल में ही मिलता है।[3] इसकी व्युत्पत्ति के बारे में भी निश्चित धारणा नहीं मिलती है। वैया०सिद्धा० कौ० में उणादि गण के अन्तर्गत शोकार्थ शुच धातु से इस शब्द रचना को प्रदर्शित किया गया है।[4] तत्त्वबोधिनी टीका के अन्तर्गत 'अनादर श्रवण' अर्थात् अनादर का बार-बार सुनना इसके शोक का कारण रूप उल्लिखित है।[5] इससे यह तात्पर्य हो सकता है कि सबसे निम्न माना जाने के कारण श्रेणिकों से उसे बार-बार अनादृत होना पड़ता होगा। अतः वह शूद्र कहलाया किन्तु इस शब्द सिद्धि से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि यह शब्द किसी न किसी

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३६.४ ब्रह्म वै स्तोमानां .... क्षत्रं.... विशः.... शौद्रो वर्णः

२ शां०ब्रा० १६.४ विड् तृतीय सवनं

३ ऋ० १०.६०.१२

४ वैया० सि०कौ० उणादि सूत्र १७६ 'शुचे दश्च' शूद्रः।

५ तत्रैव : तत्त्वबोधिनी टीका में शुच् शोके अस्माद् रक् दश्चांतादेश धातोर्दीर्घश्च ..... शुगस्य तदनादरश्रवणात्।

रूप में पहले से प्रचलित क्यों नहीं था । जिस वर्ण के लिए शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है, वह ऋ० में 'दास' शब्द द्वारा बहुल रूपेण व्याप्त किया गया है[1]। जो भी हो, यह निश्चित है कि शूद्र वर्ण का पूर्ववर्ती नाम 'दास' था[2]।

दास -- ऋ० में दास शब्द का अनेक बार उल्लेख है[3]। इसे दास वर्ण भी कहा गया है[4]। इसमें 'दासप्रवर्ग' अर्थात् अनेक दासों के वर्ग का भी उल्लेख किया गया है[4क]। आर्य द्वारा दास को वश में रखने का भी उल्लेख है, तथा सौ दासों का प्रसंग भी आया है[5]। ऋ० में आये हुए दास शब्द की टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य ने दास को 'दासं, दासकर्माणं जनं' अर्थात् दास कर्म करने वाला व्यक्ति,[6] 'दासो न यथा भृत्यः', अर्थात् भृत्य के समान स्वामी की भली प्रकार परिचर्या करने वाला[7] 'दासः' अर्थात् दास कर्म करने वाला शूद्र,[8] 'दासवर्णं' अर्थात् शूद्रादि वर्ण[9] किया है । इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि दास आर्यों का विरोधी नहीं था, सेवा कार्य करने वाला था । कहीं-कहीं दास का विरोधी रूप भी आता है । इसकी आगे जन-जातियों के प्रसंग में चर्चा की जायगी ।

ऋ० में तो दास शब्द का प्रयोग अनेकशः आया है, किन्तु शां०ब्रा० में केवल दो बार और ऐ०ब्रा० में भी दो बार आया है[10]। दोनों ब्रा० में दास शब्द का प्रयोग ऋ० के मन्त्रांश में ही हुआ है । शां०ब्रा० में दास शब्द का प्रयोग दास अर्थ में ही हुआ है, किन्तु ऐ०ब्रा० में दास शब्द दिवस अर्थ का वाचक होकर प्रयुक्त हुआ है । इनके अतिरिक्त शां०ब्रा० में एक बार तथा ऐ०

---

१ ऋ० १.१०३.३; २.११.४; १०.१४८.१
२ ऋ० १०.३८.३; २.१२.४
३ ऋ० के सभी मण्डलों में अनेक बार आया है ।
४ ऋ० २.१२.४
४क ऋ० १.९२.८
५ ऋ० ८.५६.३
६ ऋ० ५.३४.६
७ ऋ० ७.८६.७
८ ऋ० १०.३८.३
९ ऋ० २.१२.४
१० ऐ०ब्रा० ६.२९.२,३ ; शां०ब्रा० २१.४ ; २२.४

ब्रा० में दो बार दासी शब्द का उल्लेख हुआ है[1] । जो उर्दू के गुलाम स्त्री शब्द का पर्याय ही कहा जा सकता है । इससे प्रकट होता है कि स्त्रियों का दासी रूप में क्रय-विक्रय किया जाता था अथवा विजित स्त्रियों से दासियों का कार्य लिया जाता था[2] । सहस्त्रों दासियां उन दिनों रहती थीं[3] । दासी को शूद्रा तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दासी शब्द से क्रीत अथवा विजित दासी का बोध होता है, जब कि शूद्रा स्त्री शूद्र वर्ण की स्त्री का बोधक है । यद्यपि शूद्र वर्ण भृत्य कर्म करने वाला था तथापि उनका शूद्र वर्ण के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व था । इनके अतिरिक्त दास शब्द का ऐ०ब्रा० में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद का 'दास' इस काल तक 'शूद्र' की संज्ञा प्राप्त कर चुका था और समाज में एक वर्ग के रूप में संघटित हो चुका था ।

दासी पुत्र -- शां०ब्रा० तथा ऐ०ब्रा० में कवष ऐलूष आख्यान के प्रसंग में दासी-पुत्र शब्द का उल्लेख हुआ है । ऋषि लोगों द्वारा सरस्वती नदी के किनारे किये जाने वाले सत्र में दीक्षा प्राप्त कवष को देखकर ऋषि क्रुद्ध हो उठते हैं और दासी पुत्र, जुआरी, अब्राह्मण कहकर उसका अनादर करते हुए यज्ञ से बाहर निकाल कर दूर मरुभूमि में पहुंचा देते हैं, जिससे प्यासा मर जाय । किन्तु विद्वान् कवष ऐलूष अपोनाप्त्रीय सूक्त द्वारा सरस्वती को प्रसन्न करते हैं, जिससे सरस्वती नदी मरुभूमि में उनके चारों ओर से बहने लगती है । यह देख ऋषि गण कवष के पास जाकर क्षमा मांगकर उसे पुनः लिवा लाते हैं[4] । इस आख्यान से कई तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है । उस समय दासियों के होने का उल्लेख तो मिलता ही है, दासियों से विवाह भी किया जाता था, किन्तु उनकी सन्तान को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था । विद्वान् होने पर उसे समाज में सम्मान भी प्रदान किया जाता था । इस उद्धरण से यह भी प्रकट होता है कि वर्ण व्यवस्था का जन्म के आधार पर

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.१ दास्याः पुत्रः, ८.३६.८ दासी दश सहस्त्राणि
 शां०ब्रा० १२.३ दास्याः पुत्रः

२ ऐ०ब्रा० ८.३६.८ देशादेशात्.... निष्ककण्ठ्यः ।

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० २.८.१

कठोरता से पालन नहीं होता था । कार्यों के अनुसार, विद्या के अनुसार भी समाज में उसे मान्यता प्राप्त होती थी ।

समाज में स्थिति

ऋ० में उत्पत्ति क्रम में दशम मण्डल में केवल एक बार शूद्र शब्द का उल्लेख हुआ है[1] । इसके पूर्व मण्डलों में अथवा कोई उल्लेख नहीं है ।
एक बार भी नहीं मिलता । एक बार केवल 'शूद्रा'[2] शब्द का प्रयोग
शां०ब्रा० में 'शूद्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, जहाँ शूद्र वर्ण द्वारा स्त्री को न छूने का उल्लेख है । ऐ०ब्रा० में शूद्र शब्द का उल्लेख ८ बार हुआ है[3] । इनमें शूद्र सम्बन्धी 'शूद्रकल्प', 'शूद्रता' शब्दों की भी गणना की गई है । इनमें प्रयुक्त शूद्र शब्द का चतुर्वर्ण्यों में निम्नस्थानीय व्यक्ति और जाति रूप में उल्लेख है । ऋ० में विराट पुरुष के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति भी चतुर्वर्गीय सामाजिक व्यवस्था में इसकी निम्न स्थिति को प्रकट करता है ।

यथेच्छ भेज दिये जाने वाला -- शूद्रों को 'अन्यस्य प्रेष्य'[4] अर्थात् अन्यों के द्वारा भेजे जाने वाला कहा गया है । तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि शूद्र अन्य तीन वर्णों द्वारा इच्छानुसार तथा आवश्यकतानुसार कार्य हेतु भेज दिया जाता होगा ।

सोते से उठा दिये जाने वाला -- शूद्र को 'कामोत्थाप्य'[5] अर्थात् इच्छानुसार उठा दिये जाने वाला भी कहा गया है । इससे प्रकट होता है कि शूद्र को दिन में या रात में आवश्यकता पड़ने पर सोने से उठा दिया जाता था ।

यथेच्छ ताड़ना दिये जाने वाला -- शूद्र को 'यथाकामवध्य'[6] अर्थात् इच्छानुसार ताड़ना या मार दिये जाने वाला कहा गया है । इससे स्पष्ट होता है कि

---

१ ऋ० १०.९०.१२

२ शां०ब्रा० २७.१

३ ऐ०ब्रा० ७.३३.५; ७.३४.१; ७.३५.३

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.३

५ तत्रैव

६ तत्रैव

त्रैवर्णिकों की इच्छानुसार कार्य न करने पर उसे ताड़ना दी जाती होगी तथा मारा पीटा जाता होगा ।

यज्ञीय पान तथा शूद्र कल्प

राजसूय यज्ञ के प्रसंग में शूद्र का नाम 'अंसः' [1] अर्थात् जड़ कहा गया है । क्षत्रिय द्वारा शूद्र का पेय पान करने से क्षत्रिय की सन्तान में शूद्रता के गुण आ जाने का उल्लेख है [2] । ऐसी सन्तान को 'शूद्रकल्प' [3] कहा गया है । 'शूद्रकल्प' का यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि जो जन्म से शूद्र न होते हुए भी शूद्र के कार्यों को करने वाला हो । क्षत्रिय पुत्र में 'शूद्रकल्प' होना क्षत्रिय के लिए पाप कहा गया है [4] ।

नर बलि:एक शूद्र कर्म

ऐ०ब्रा० में पिता अजीगर्त द्वारा किये जाने वाले पुत्रवध रूप कार्य को शूद्र जातीय कर्म कहा गया है [5] । तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार दी जाने वाली बलियों में मारने का कार्य शूद्र का भी रहा होगा अथवा पुत्र का इस प्रकार वध करने का कार्य इतना निम्नकोटि का माना जाता होगा, जैसा कि निम्न स्थान शूद्र वर्ण का माना जाता था ।

अन्य जन-जातियां

ऐ०ब्रा० में ऐसी भी जन जातियों का उल्लेख है जिन्हें वर्ण व्यवस्था से बाहर वैदिक जन जातियां कहा जा सकता है । ऐ०ब्रा० में

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ अथ यथप: शूद्राणां स भक्ष:

२ तत्रैव - यदा वै क्षत्रियाय पापं भवति शूद्रकल्पो ऽस्य प्रजायामाजायत ।

३ तत्रैव

४ तत्रैव

५ ऐ०ब्रा० ७.३३.५ नापागा: शौद्रात्

दस्यु[1], असुर[2], राक्षस[3], रक्षा[4] आदि का उल्लेख है । ये लोग आर्यों के विरोधी रूप में आये हैं । वस्तुतः यह कौन लोग थे, इस विषय में निश्चित मत नहीं है । सामान्यतया विद्वानों के अनुसार यह लोग आर्यों के आने से पूर्व यहां के विविध निवासियों के कबीले थे। इनका आर्यों से निरन्तर संघर्ष चलता रहा और ये आर्यों के विस्तार की प्रगति में बाधक रूप से आते रहे[5]। आर्य लोगों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों में रक्षा, राक्षसों आदि का भी भाग निकाला जाता था, जिससे यह यह यज्ञ में विघ्न न डालें[6]। यह आर्यों के अति मानवीय शत्रु के रूप में भी आते हैं[7]।

दास -- ऐ०ब्रा० में तो नहीं किन्तु ऋ० में कहीं-कहीं दास का भी विरोधी रूप में उल्लेख है । सायण[8] ने टिप्पणी में दास को अपक्षयकारी शत्रु, लेखक, पापी, कर्महीन शत्रु आदि कहा है ।

दस्यु -- ऐ०ब्रा० में दस्युओं के अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर (ऋ० के शम्बर से भिन्न), पुलिन्द, मूतिब आदि विविध रूपों का उल्लेख है[9]। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य रूप भी रहे होंगे, क्योंकि 'दस्यूनां भूयिष्ठाः'[10] अर्थात् 'दस्युओं में बहुत' शब्द का प्रयोग किया गया है । इन लोगों को 'उदन्त्य'[11] अर्थात् सीमा के बाहर अथवा

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.६

२ ऐ०ब्रा० १.३.३ देवासुरा... असुरा अजयन् । असुरों का सभी पंचिकाओं में उल्लेख है।

३ शां०ब्रा० १.२, ४.१ आदि। इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर उल्लेख है ।

३ ऐ०ब्रा० २.६.७ राक्षसीं वाचं, शां०ब्रा० ८.४ राक्षोघ्नीं

४ ऐ०ब्रा० २.६.७ इनके अतिरिक्त अनेक बार उल्लेख हुआ है ।
शां०ब्रा० १० .२, १९.६, .२८ २ आदि ।

५ ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में देवों असुरों आदि के संघर्ष के अनेक प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ ऐ०ब्रा० १.३.३ शां०ब्रा० १.२, ४.१ ।

६ ऐ०ब्रा० २.६.७ अस्ना रक्षः संसृजताद्..... ।

७ तैत्ति-अथ पुत्रं अथ पौत्रं चयते .... ।

८ ऋ० ६.३३.३, ८.७०.१०.१०.६६.६, १.१०३.३, ६.२२.१०, ६.६०.६ ।

९ ऐ०ब्रा० ७.३३.६ एते न्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा.... ।

१० ऐ०ब्रा० ७.३३.६ दस्यूनां भूयिष्ठाः

११ ऐ०ब्रा० ७.३३.६

नीच जाति विशेष के लोग तथा 'अन्त्यान' अर्थात् अन्त में रहने वाले अथवा चाण्डाल आदि रूप नीच जाति विशेष कहा गया है । 'उदन्त्य' शब्द का अर्थ 'उद्गतोऽन्ते' अर्थात् अन्त में उदित होने वाला है तथा 'अन्त्यान'[1] शब्द का अर्थ भी अन्तवासी है । इन दोनों शब्दों से यह प्रतीत है कि दस्यु कहलाने वाली जातियां आर्यों की सीमा के बाहर थीं, तथा चतुर्वर्णों के अतिरिक्त जातियां थीं, जो चाण्डालादि निम्न स्थानीय थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न जातियों में पुलिन्द, दक्षिण भारत में आन्ध्र और सम्भवतः पुण्ड्र भी इन्हीं जातियों से सम्बन्धित रहे हों । तात्कालिक आर्यों के क्षेत्र और सीमा से परे यह स्थान हैं भी ।

ऐ०ब्रा० में के आख्यान के अनुसार[2] विश्वामित्र के पचास पुत्र शुनःशेप को बड़ा भाई मानने को तैयार नहीं हुए थे । विश्वामित्र के शाप से[3] उनके वंशज अन्ध्र, पुण्ड्र, मूतिब, शबर, पुलिन्द आदि नीच जाति के लोग हो गये । इस उद्धरण से यह भी प्रकट होता है कि उच्च वर्ग में जन्म लेने पर भी उस समय मनुष्य निम्नतम कोटि तक पतित हो सकता था ।

राक्षस एवं रक्षस -- राक्षस एवं रक्षस शब्द भी आर्य विरोधी लोगों के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं । सम्भवतः दस्युओं की भांति यह भी आर्य विस्तार से पृथक् किसी और के निवासी हैं, जो राक्षस तथा रक्षस् कहे जाते होंगे, अथवा विरोध के कारण आर्यों द्वारा यह संज्ञा उन्हें दी गई होगी। यह लोग आर्यों के यज्ञों में विघ्न डालने वाले थे[4] । सर्वत्र आर्यों को कष्ट करने वाले ही उल्लिखित हैं[5] । अपना भाग पाकर यज्ञों में यह लोग विघ्न न डालें, अथवा अभिचारिक रूप में अभिभूत हों, यज्ञ में इनका भी भाग निकाला जाता था[6] । बलि पशु के रक्त से रंजित दूर्वा को

---

१ तत्रैव
२ तत्रैव
३ तत्रैव
४ ऐ०ब्रा० २.६.७; २.१०.४; ६.२७.१; २.७.१
५ तत्रैव
६ ऐ०ब्रा० २.६.७

अथवा तुष को इनके लिए फेंका जाता था[१]। ऋ०ब्रा० में राक्षस शब्द का नहीं, किन्तु राक्षस से सम्बन्धी राक्षसी[२] राक्षोघ्नी[३] आदि शब्दों का उल्लेख है। वह भी केवल दो बार ऐ०ब्रा० में और एक बार शां०ब्रा० में आया है[४]। किन्तु रक्षस् शब्द लगभग १५ बार ऐ०ब्रा० में तथा १० बार शां०ब्रा० में आया है।

असुर -- असुर शब्द का ऋ० में सुनिश्चित अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता है। ऋ० में इसका उल्लेख देवताओं का उपाधि तथा देवता विरोधी दोनों रूपमें है। यह अनोखा विरोधाभास है। विद्वानों ने इसको अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है। देव तथा असुर आर्यों के दो प्रधान जन समुदाय बताये जाते हैं। वास्तव में सुर शब्द का वेदों में अस्तित्व भी नहीं है और असुर के विरोध में सुर शब्द बन गया। यद्यपि ऋ०ब्रा० में असुर में अ नञ् तत्पुरुष के रूप में प्रयुक्त हुए हुआ है। ऋ०ब्रा० काल तक भारतीय आर्य जो देव समुदाय के थे, असुरों को पूरी तरह शत्रु मान बैठे। यह देव और असुर आर्य समुदायों की पारस्परिक शत्रुता का प्रतिफल कहा जा सकता है। ऋ०ब्रा० में असुरों का प्रयोग विरोधी,यज्ञ में विघ्नकर्ता आदि के रूप में पर्याप्त रूप से हुआ है[५]। ऐ०ब्रा० में लगभग ६० बार असुर शब्द का प्रयोग हुआ है तथा शां०ब्रा० में लगभग १० बार हुआ है। असुर और राक्षस शब्द के सम्मिलित रूप 'असुररक्षांसि' शब्द का भी प्रयोग ऐ०ब्रा० में १५ बार और शां०ब्रा० में ४बार हुआ है।

ऐ०ब्रा० में दीर्घ जिह्वी नामक 'असुरी' का उल्लेख है जिसने देवताओं के प्रात: सवन को अपनी ~~लम्बी~~ जिह्वा से चाटकर विकृत कर दिया। यहां आसुरी शब्द असुर स्त्री के लिए प्रयुक्त हुआ है, तथापि यह प्रयोग अति मानवीय शत्रु रूप को भी प्रकट करता है[६]।

---

१ ऐ०ब्रा०(क) २.६.७
२ ऐ०ब्रा० २.६.७
३ ऐ०ब्रा० १.३.५; १.४.२,शां०ब्रा० ८.४
४ तत्रैव
५ ऐ०ब्रा० १.३.३; १.५.४ आदि अनेक बार आया है।
शां०ब्रा० १.२; ३.२; ७.३ आदि कई बार उल्लेख है।
६ ऐ०ब्रा० २.८.४ आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रात: सवनमवालेट... ।

पंचजन -- पंचजन का तात्पर्य है, पांच जन या जातियां आदि । ऐ०ब्रा० में वैश्वदेव सम्बन्धी उक्थ शस्त्र पंचजनों का कहा गया है । इनमें देवता, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितर की गणना की गई है[1]। शां०ब्रा० में 'पंचजनों' का उल्लेख नहीं है । ऋ० में पांच जातियों-- अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु और पुरु का उल्लेख है[2]। त्सिमर आदि कुछ विद्वान् इन्हीं को 'पंचजन' में मानते हैं[3]। ऋ० में पांचजन्य शब्द का कई बार उल्लेख है । ऋ० (१.१००.१२) में सायण ने अपनी टिप्पणी में पांचजन्य शब्द का अर्थ ऐ०ब्रा० के ही समान देव, मनुष्य, गन्धर्व आदि किया है । किन्तु ऋ०(१.११७.३; ३.५३.१६ तथा ८.६३.७) में आये हुए पांचजन्य शब्द का अर्थ सायण ने चारों वर्ण और निषाद किया है तथा ऋ०(६.६६.२०) में तीन अर्थ किए हैं-- (१) चारों वर्ण तथा निषाद, (२) गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस तथा (३) में ऐ०ब्रा० के समान देव, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरस, सर्प तथा पितर किया है । ऐ०ब्रा० में तथा शां०ब्रा० में भी पांचजन्य शब्द का उल्लेख है जो ऋ० के ८.६३.७ मन्त्र का प्रतीकात्मक रूप में प्रयोग है जिसको ऐ०ब्रा० में सायण ने स्पष्ट नहीं किया है । किन्तु पांचजन्य शब्द विश के साथ प्रयुक्त हुआ है, जिससे पांच जनों से युक्त विश प्रजा का अर्थ प्रकट होता है, जिसे सायण ने ऋ० में चारों वर्ण और निषाद कहकर स्पष्ट किया है ।

निषाद -- ऐ०ब्रा० में 'निषाद' जाति के लोगों का भी उल्लेख है[4]। कहा गया है कि अरण्य में धनवान व्यक्ति को पाकर निषाद अथवा चोर अथवा पापी व्यक्ति उसका धन लूटकर भाग जाते हैं[5]। इस उद्धरण से प्रकट होता है कि निषाद जाति के लोग जंगलों आदि में रहते थे, और लूट मार भी करते रहते थे । इनका यज्ञों में विघ्न आदि डालने वाले के रूप में कहीं उल्लेख नहीं आया है । शां०ब्रा० में

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.७, ४.१६.५

२ ऋ० १.१०८.८

३ वै०इ०हि० भाग १, पृ०५२८

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.७ इद निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा...

५ तत्रैव

निषाद शब्द का उल्लेख विश्वजित यज्ञ के प्रसंग में आया है[१] । कहा गया है कि विश्वजित यज्ञ के करने वाला व्यक्ति कुछ समय अवराध्र्य अन्न की प्राप्ति के लिए निषादों के साथ रहे । इससे ऐसा ज्ञात होता है कि निषाद यहां के कोई प्राचीन निवासी थे,जो जंगलों आदि में रहते थे, सम्भवत: आर्यों के आने पर जंगलों में चले गये हों,और वहीं रहने लगे हों । किन्तु आर्यों से कोई शत्रुता नहीं था ।

चतुर्वर्ण की संकल्पना का अन्य क्षेत्रों में प्रयोग

मानवगत चातुर्वर्ण्य की कल्पना ब्रा० में केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं रही, देवता, यज्ञ,छन्द,सोम-सवन,वनस्पति,पशु तक में भी दृष्टिगत होता है ।

देवता -- ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में देवताओं में चारों वर्णों की कल्पना उपलब्ध होती है । अग्नि व बृहस्पति ब्राह्मण[२], इन्द्र, वरुण,सोम,रुद्र,पर्जन्य,यम,मृत्यु, ईशान आदि क्षत्रिय[३],गणों में आख्यात वसु,रुद्र,आदित्य,विश्वेदेवा मरुत आदि वैश्य[४] तथा पूषा देवता शूद्र वर्ण[५] कहे गये हैं । इनके अतिरिक्त वायु और ब्रह्मणस्पति को भी ब्राह्मण[६] कहा गया है ।चन्द्रमा को ब्राह्मण[७] तथा आदित्य को क्षत्रिय[८] कहा है । इसी प्रकार इनसे सम्बन्धित पौर्णमासी को ब्राह्मण[९] तथा अमावस्या को क्षत्रिय[१०] कहा गया है[११] ।

---

१ शां०ब्रा० २५.१५

२ ऐ०ब्रा०(क) १.२.३ अग्निर्बृहस्पतिश्च देवेषु ब्राह्मणौ
  शां०ब्रा० ७.१० ब्रह्म वै बृहस्पति:

३ ऐ०ब्रा० (क) १.२.३ एतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुण ... ईशान : ।
  शां०ब्रा० १२.८; ७.१०; ६.६ ५

४ ऐ०ब्रा०(क) १.२.३ स विशमसृजत.... वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत: ।

५ स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्

६ ऐ०ब्रा० ८.४०.५ अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायु:) पवते ।शां०ब्रा०८.५,६.५;१२.८

७ ऐ०ब्रा० २.१०.६ चन्द्रमा वै ब्रह्म ।

८ ऐ०ब्रा० ७.३४.२ आदित्यो वै दैवं क्षत्रम्

९ शां०ब्रा० ४.८ ब्रह्म वै पौर्णमासी

१० शां०ब्रा० ४.६ [illegible], ऐ०ब्रा० ७.३४.४ [illegible]

१० क्षत्रममावास्या

यज्ञ -- ऐ०ब्रा० में यज्ञ को ब्राह्मण और शां० ब्रा० में क्षत्रिय कहा गया है[1]। यज्ञ को ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों माना जाना ब्राह्मण और क्षत्रियों की प्रारम्भिक पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को भी प्रकट करता है।

मन्त्र एवं छन्द -- आहाव को ब्राह्मण[2], निविद को क्षत्रिय[3], सूक्त को वैश्य[4] उल्लिखित किया गया है। स्तोम में त्रिवृत को ब्राह्मण, पंचदश को क्षत्रिय, सप्तदश को वैश्य तथा एकविंश को शूद्र कहा गया है[5]। गायत्री छन्द को ब्राह्मण[6], त्रिष्टुभ को क्षत्रिय[7] कहा गया है। किन्तु शेष दो वर्णों से साम्य रखने वाले अन्य छन्दों का उल्लेख नहीं किया गया है। रथन्तर साम को ब्राह्मण[8], बृहत्साम, पंचदश पृष्ठ्य तथा त्रिष्टुभ को क्षत्रिय[9] कहा गया है।

वनस्पति -- न्यग्रोध (वट या बरगद), दूर्वा एवं व्रीहि को क्षत्रिय कहा गया है[10], किन्तु अन्य वर्णों की सदृश्यता के द्योतक के रूप में और किन्हीं वनस्पतियों का उल्लेख नहीं है। सोम को औषधियों का राजा कहा है[11]। औषधियों के रस को ब्रह्मवर्चस् उल्लिखित है[12]। 'इरापुष्टि' अर्थात् अन्न का पौष्टिक रूप तथा अन्न का रस क्षत्रिय कहा गया है[13]। ऊर्जा को ब्राह्मण माना गया है[14]। 'अन्नाद्य' अर्थात् अन्नादि से प्राप्त (सुरा, बल आदि) पदार्थों को क्षत्रिय कहा गया है[15]।

---

१ शां०ब्रा० ४.८ क्षत्रमिवैष यज्ञः, ऐ०ब्रा० ७.३४.४ ब्रह्म वै यज्ञो ।
२ ऐ० ब्रा० २.१०.१ ब्रह्म वा आहावः
३ तत्रैव-क्षत्रं निविद ।
४ तत्रैव - विट् सूक्तम्
५ ऐ० ब्रा० ८.३६.४ ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् क्षत्रं च पंचदश--विशः सप्तदशः...शौद्रो वर्णो एकविंशः
६ शां०ब्रा० ~~५.८~~ ३.५ ब्रह्म वै गायत्री
७ शां०ब्रा० ४.८ क्षत्रं वै त्रिष्टुभ
८ ऐ०ब्रा० ८.३६.१,२, ब्रह्म वै रथन्तरं
९ तत्रैव - क्षत्रं बृहत्, ऐ०ब्रा० ८.३६.४ क्षत्रं पंचदश, शां०ब्रा० ३.५;७.१० क्षत्रं वै त्रिष्टुप
१० ऐ०ब्रा० ७.३५.५ क्षत्रं वा एतद् औषधीनां यन्न्यग्रोधः ।
ऐ०ब्रा० ८.३६.२ क्षत्रं वा एतद् औषधीनां यद् व्रीह्यः
ऐ०ब्रा० ८.३६.२, ८.३७.४ क्षत्रं वा यद् दूर्वा
११ ऐ०ब्रा० ८.३५.५, १:३:२ सोमो राजा, शां०ब्रा० ४.१२ सोमो वै राजौषधीनाम
१२ ऐ०ब्रा० ८:३७:३ औषधीनां रसः ब्रह्मवर्चसम्
१३ तत्रैव - इरापुष्टिः... क्षत्ररूपम्....अन्नस्य रस ...क्षत्रम्
१४ तत्रैव - ब्रह्म ऊर्क्
१५ तत्रैव - क्षत्र....अन्नाद्यम्

सोम-सवन -- सोम यज्ञ में तीन बार सोम रस निकाला जाता था । इनमें प्रातः सवन को ब्रह्म(ब्राह्मण)[1],माध्यन्दिन सवन को क्षत्र (क्षत्रिय)[2] और तृतीय सवन को विट्(वैश्य)[3] कहा गया है ।

ऋत्विक् -- सोमयज्ञ में होता ऋत्विक् को क्षत्रिय कहा गया है तथा होत्राशंसी मैत्रावरुण आदि अन्य ऋत्विजों को विश कहा गया है[4], यद्यपि ऋत्विक् ब्राह्मण होते थे ।

पशु -- राजसूय यज्ञ के प्रसंग में उल्लिखित व्याघ्र को आरण्यक पशुओं में क्षत्रिय कहा गया है[5] । अन्य वर्ण से साम्य रखने वाले अन्य पशुओं का कोई उल्लेख नहीं है । यद्यपि अन्य शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में अज को ब्राह्मण,अश्व को क्षत्रिय,रासभ को वैश्य और शूद्र कहा गया है ।

राष्ट्र -- राष्ट्र को क्षत्रिय कहा गया है[6] ।

शरीर -- वाणी तथा श्रोत्र को ब्राह्मण कहा गया है[7] । शरीर के अन्य अंगों के सादृश्य बोधक वर्णों का कोई उल्लेख नहीं है ।

इन चतुर्वर्गीय कल्पना को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो वस्तुएं जिन वर्णों के द्वारा प्रयोग आदि के कारण सम्बन्धित होती हैं, उनमें उन वर्णों की कल्पना की गई है तथा जो वस्तुएं स्वभावतः जिन वर्णों के गुणों को धारण करती हैं, उनमें उन वर्णों की कल्पना की गई है,उदाहरणार्थ श्रोत्र को ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि श्रोत्रों से ब्रह्म(वेद) को सुनता है तथा श्रोत्र में ब्रह्म(वेद) प्रतिष्ठित होता है[8] ।

---

१ शां०ब्रा० १६.४ ब्रह्म वै प्रातः सवनम्

२ तत्रैव - क्षत्रं माध्यन्दिनसवनम्

३ तत्रैव - विट् तृतीयसवनम्

४ ऐ०ब्रा० ६.२८.५ क्षत्रं वै होता विशो होत्राशंसिनः

५ ऐ०ब्रा० ८.३७.२ क्षत्रं वा एतदरण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः

६ ऐ०ब्रा० ७.३४.४ क्षत्रं हि राष्ट्रम्

७ ऐ०ब्रा० ६.२६.३ वाग्वैब्रह्म, ऐ०ब्रा० २.१०.८ श्रोत्रं वै ब्रह्म ।

८ ऐ०ब्रा० २.१०.८ श्रोत्रं वै ब्रह्म श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति,श्रोत्रे ब्रह्म प्रतिष्ठितम् ।

नीचे रेखा चित्र द्वारा ऋ० ब्रा० कालीन समाज की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है --
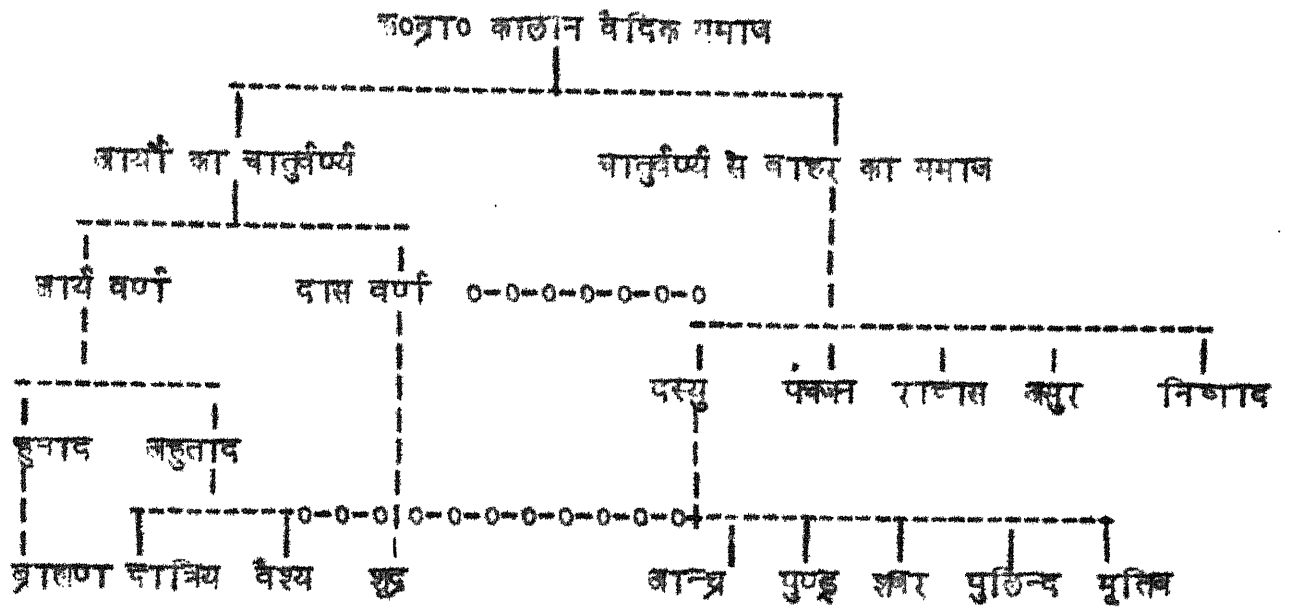
टिप्पणी :-- (१) पंचजन - ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में इसके बारे में मतभेद है । ऐ०ब्रा० में पंचजन में स्पष्टरूप से देव, मनुष्य गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितर की गणना की गई है । ऋ० में मूल में कोई उल्लेख नहीं है । सायण ने पृथक् स्थानों पर पृथक् मत का उल्लेख किया है । वैसे ऋ० में अनुद्रुह्यु,यदु, तुर्वशु तथा पुरु पांच जनों का उल्लेख है ।

(२) असुर शब्द का प्रयोग ऋ०ब्रा० में राक्षस तथा आर्यों से इतर लोगों के लिए है, किन्तु ऋ० में असुर शब्द उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है ।

(३) o-o-o-o-o यह रेखा विशेष दशाओं में सम्भावित सम्बन्ध तथा आदान प्रदान की सूचक है ।

- o -

तृतीय अध्याय

समाज (२) : परिवार

विषय प्रवेश

परिवारबोधक वैदिक प्रत्यय

गोत्र

प्रवर

परिवार व्यवस्था

रक्त सम्बन्ध पर आधारित

दाम्पतिक

पारिवारिक सम्बन्ध

पुरुष सम्बन्ध

गृहपति
पिता
पति
पुत्र
पौत्र, नप्तृ
श्वसुर
जामाता
देवर
स्याल
भ्राता
भ्रातृव्य
पितामह
अन्य अनुपलब्ध सम्बन्ध

स्त्री सम्बन्ध

गृहपत्नी
माता
पत्नी
पुत्री
बहिन
सास
वधू
जामि

निष्कर्ष

-0-

तृतीय अध्याय

समाज (२) : परिवार

परिवार मानव समाज की प्राथमिक इकाई है । इसका मूलाधार सन्तान प्रेरित स्त्री पुरुष का जैव (बाइलौजिकल) सह-सम्बन्ध है[1] । कुकरमन ने तो परिवार का अति अल्प विकसित रूप बन्दरों और वनमानुषों में भी अनुमानित किया है । अत: स्पष्ट है कि परिवार व्यवस्था वंशसातत्य के लिए आवश्यक है, और किसी-न-किसी रूप में मानव में आदि काल से विद्यमान रही होगी । इस अवधारणा की एक झलक ऋग्वेद में मिलती है, जहां प्रार्थना की गई है कि (मैं) 'प्रजा' द्वारा अमरत्व का उपभोग करूं[2] । यहां पर प्रजा का अर्थ सन्तान और अमरत्व से तात्पर्य उत्तरोत्तर वंशवृद्धि से है । ऐ०ब्रा० ने 'प्रजा' को परिवार के सातत्य का 'तन्तु' कहा गया है[3] । सन्तान से परिवार व्यवस्था का नैरन्तर्य तन्तुवत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रहता है[4] । संस्कृत भाषा के सन्तति वाचक अन्य शब्द भी इसी प्रकार नैरंतर्य अथवा अविच्छिन्नता के परिचायक हैं । विस्तारार्थक तनु धातु से बनने वाले शब्द संतति, सन्तान, तनय आदि से यही प्रतीति होती है ।

परिवार का जैव अर्थ एक पक्षीय है । वास्तव में केवल मूलप्रवृत्ति पर निर्भर न होने वाले मेधायुक्त मानव के लिए तो इसका सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष ही विशेष महत्त्व का है ।

परिवार सामाजिक इकाई होते हुए भी इसके स्वरूप में एक विकासीय क्रम देखने में आता है । इस विकास पर कालक्रम तथा वातावरण का

---

१ औगबर्न तथा निमकौफ़ : हैण्डबुक आफ सौशियोलाजी, पृ०४५६

२ ऋ० ५.४.१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्

३ ऐ०ब्रा० ३.११.११, ३.१३.१४

४ ,, ३.१३.१४ तन्तुं तन्वन्..... प्रजामेवास्मा एतत्संतनोति ।

समुचित प्रभाव पड़ता रहा है । परिवार का जो रूप आज हमारे सम्मुख है, वैसा रूप अब से कुछ दशक पूर्व भी नहीं था । फिर वैदिक काल जैसे समय के बारे में क्या कहा जा सकता है, उसका तो प्रमाणों के आधार पर अनुमान ही लगा सकते हैं । वास्तव में परिवार शब्द वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता है । बाद के साहित्य में अवश्य इसका प्रयोग हुआ है । परि उपसर्ग पूर्वक वृ धातु से उत्पन्न परिवार शब्द का शाब्दिक अर्थ 'घेरने वाला' हो सकता है, अर्थात् परिवार एक सामाजिक परिवृत्त का द्योतक रहा होगा । जो भी हो, उसका एक आधुनिक संप्रत्यय(concept) है, जिसके सन्दर्भ में यहां पर विचार करेंगे ।

परिवार बोधक वैदिक प्रत्यय

प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में 'परिवार' के सबसे निकट समानार्थी शब्द 'कुल'[2] तथा 'वंश'[1] हैं । 'गृहपति'[3] से युक्त 'गृह' शब्द भी इस कोटि में आता है । 'पस्त्या'[4] शब्द गृह के साथ ही साथ उसमें निवास करने वाले परिवार के लिए भी प्रयोग किया गया है । 'हर्म्य'[5] शब्द भी परिवार के लोगों तथा गायों के गोष्ठ आदि से युक्त आवास प्रतीत होता है, क्योंकि वह एक बड़े परिवार तथा उसमें स्थित पशु आदि के लिए प्रयुक्त किया गया है । 'कुटुम्ब' शब्द ऋ० और ब्रा० में प्रयुक्त नहीं हुआ है, उपनिषद् काल में सर्वप्रथम प्रयुक्त प्रतीत होता है । 'अन्वय' शब्द भी इसके बाद का है । 'गोत्र' शब्द एक अर्थविशेष (मानव समूह) का वाची है । इसे कुल या अंग्रेजी शब्द 'क्लान' (clan)[6] के समकक्ष रख सकते हैं । परिवार के परिसीमन में इसका योगदान तो अवश्य है किन्तु यह उसका निकट पर्याय तो कभी भी नहीं रहा होगा ।

---

१ कुल ऋ० १०.१७९.२

२ वंश ऋ० १.१०.१, शां०ब्रा० १६,४;२०.७

३ गृहपति ऋ० ६.५३.२

४ पस्त्या ऋ० १.२५.१०; १.४०.७; ४.१.११; ६.४९.४

५ हर्म्य ऋ० ७.५६.१६; १.१२१.१; १०.७३.१०

६ पारिभाषिक शब्द संग्रह (अंग्रेजी हिन्दी) सेण्ट्रल हिन्दी डाइरेक्टरेट, १९६२

गोत्र -- उल्लेख है कि अनार्षेय यजमान का हवि देवता ग्रहण नहीं करते[1], तथा अपुरोहित यजमान राजा का अन्न देवता लोग भक्षण नहीं करते[2]। अतः यजमान जो राजा आदि कोई भी हो, का गोत्र एवं प्रवर का उल्लेख करना चाहिए[3]। प्रवर के विषय में आगे चर्चा की जायगी ।

ऋ० में 'गोत्र' शब्द का सामान्य अर्थ 'गोशाला' या 'गौओं का झुण्ड' लगाया गया है[4], तथा वंश अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है[5]। ऋ० में गोशाला के अर्थ में आये हुए 'गोत्र' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः गौओं के प्राधान्य के कारण गोष्ठों (गोशाला) के समीप इनके कबीलों अथवा गोष्ठों के स्वामियों के परिवार रहते होंगे, कोई एक पुरोहित या पुरोहित-परिवार उन सबका पुरोहित होता होगा । इसको इस प्रकार कह सकते हैं, कि किसी एक परिवार अथवा कबीले का कोई एक ऋषि या ऋषिपरिवार पुरोहित होगा, जिसके नाम से उस कबीले के वंशज जाने जाते होंगे, और इस प्रकार ऋषियों अथवा पुरोहितों की परम्परा से गोत्र प्रवर्तन हुआ होगा ।

ऐ०ब्रा० में गोत्र शब्द का प्रयोग केवल वंशज के अर्थ में ही हुआ है । विश्वजित् यज्ञ करने के पश्चात् समान गोत्र वाले वंशज के यहां एक वर्ष रहने का विधान है[6]। ऐतशायन लोगों की गाथा में भृगुओं (भृगु गोत्रोत्पन्न) को निकृष्ट कहा गया है[7]। शुनःशेप आरम्भ में आंगिरस गोत्र का तथा विश्वामित्र द्वारा पुत्र रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर विश्वामित्र के गोत्र का हो गया, तथा कपिल गोत्र व बभ्रु गोत्र वालों का बन्धु हुआ[8]। दीक्षा निवेदन के प्रसंग में क्षत्रिय द्वारा अपने

---

१ शां०ब्रा० ३.२

२ ऐ०ब्रा० ८.४०.१

३ ,, ७.३४.७; ७.३५.५

४ शां०ब्रा० ३.२

४ ऋ० १.५१.३; २.१७.१; ३.३९.४; ४३.७; ६.८६.२३; १०.४८.२; १२०.८

५ ऋ० १०.६६.१४

६ शां०ब्रा० २५.१५

७ ऐ०ब्रा० ६.३३.७, शां०ब्रा० ३०.५

८ ,, ७.३३.५; ७.३३.६

पुरोहित के गोत्र का नाम निवेदन करने का विधान है[1]। गोत्र सम्बन्ध का उल्लेख जन्मत:, आचार्यशिष्यपरम्परा द्वारा तथा गोद लिए जाने से भी हुआ है । ऐ०ब्रा० में तीनों प्रकार का उल्लेख है । शुन:शेप विश्वामित्र के गोत्र का बन जाता है, यद्यपि उस गोत्र में उत्पन्न नहीं हुआ । यजमान को अपने पुरोहित के गोत्र के द्वारा निवेदन करना पड़ता था ।

कुछ धर्मग्रन्थों में मौलिक गोत्र केवल ४ माने गये हैं--अंगिरा, कश्यप, वसिष्ठ, भृगु,[2] किन्तु अन्य मतानुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, और अगस्त्य आठ ऋषि हैं । इन्हीं से गोत्र माना जाता है[3]। ऐ०ब्रा० में उपर्युक्त वर्णित आठ गोत्रों की अपेक्षा अन्य गोत्रों का भी उल्लेख है यथा ऐतशायन, कपिल, बभ्रु आदि ।

<u>प्रवर</u> -- 'प्रवर' शब्द का उल्लेख ऋ० में नहीं हुआ है, अपितु इसके समानार्थी 'आर्षेय' शब्द का प्रयोग मिलता है[4]। अत: प्रवर प्रणाली का स्त्रोत भी ऋ० में ढूंढा जा सकता है । प्रवर का, शाब्दिक अर्थ 'वरण करने योग्य' या 'आह्वान करने योग्य' है । किन्तु ऐ०ब्रा० में 'प्रवर' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है[5] और यजमान के प्रवर का उल्लेख करने का आवश्यक विधान है[6]। यज्ञ के आरम्भ में अग्नि को उद्बोधित करके उसे अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए निवेदन किया जाता था, उस समय पुरोहितों के पूर्वजों के नामों से ही अग्नि का आह्वान किया जाता था । अत: 'प्रवर' शब्द यज्ञ करने वाले एक या अधिक श्रेष्ठ पूर्वज ऋषियों को इंगित करता है ।

गोत्र एवं प्रवर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि गोत्र प्राचीनतम पूर्वज या पूर्वजों की मौलिक संज्ञा है जिसके या जिनके नाम से युगों से कुल विख्यात रहा है, किन्तु प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियों से बनता है, जो अत्यन्त यशस्वी रहे हैं,

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३४.७
२ काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २८७
३ काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २८६, २८७
४ ऋ० ६.६७.५१
५ ऐ०ब्रा० ७.३४.७
६ तत्रैव
७

अथवा जो गौत्र ऋषि के पूर्वज रहे हैं[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवर का समारंभ उन यज्ञकर्ताओं से हुआ होगा, जिन्होंने सबसे पहले अग्नि का आह्वान करके उसके यज्ञीय महत्त्व को बढ़ाया। ऋ० के सूक्तों के प्रारम्भिक द्रष्टा ऋषियों से गौत्र का आरम्भ माना जाता होगा, जैसा कि उपर्युक्त आठ ऋषियों के उल्लेख से प्रतीत होता है। गौत्रों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई। यशस्वी पूर्वजों, ऋषियों, पुरोहितों तथा पुरोहित-कुलों की वृद्धि से गौत्र संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ऋ० ब्रा० के भिन्न-भिन्न गौत्रों के उल्लेख से उनके भिन्न-भिन्न गौत्रों की वृद्धि के विषय में ऐसा ही ज्ञात होता है, किन्तु प्रवर की गणना प्रारम्भिक यज्ञकर्ताओं से ही की जाती रही होगी, जिन्होंने पहले अग्नि का समाह्वान किया।

परिवार व्यवस्था

उपर्युक्त विवेचन से वैदिककालीन परिवार व्यवस्था के विकास के दो चरण दिखाई पड़ते हैं, प्रथम रक्तसम्बन्धित तथा दूसरा दाम्पत्कि। रक्त सम्बन्धित परिवार-व्यवस्था दाम्पत्कि परिवार-व्यवस्था से पहले की है। इस प्रसंग में दाम्पत्कि परिवार से आशय केवल जैव(यौन) सम्बन्ध पर आधारित स्त्री पुरुष ईकाई से नहीं है। स्त्री पुरुष इकाई तो अति प्राचीन मानवों में भी मिलती थी, जब कि संभवत: मनुष्य बड़े-बड़े यूथों के रूप में रहते होंगे और केवल प्रारम्भिक पालन-पोषण के बाद सन्तान यूथ का सामान्य अंग बन जाती होगी। इसके बारे में वैदिक साहित्य से कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। हो सकता है कि गौत्र व्यवस्था उक्त अति प्राचीन अवस्था का एक सुसंस्कृत संस्करण हो। इसके बारे में विशेष तुलनात्मक खोज की आवश्यकता है। ऋ०ब्रा० में इसके साक्ष्य में सामग्री नहीं मिलती है। यहां पर दाम्पत्कि परिवार का तात्पर्य उस परिवार-व्यवस्था से है, जहां पुत्र विवाहोपरान्त अपनी पृथक् पारिवारिक इकाई स्थापित करने की ओर अग्रसर रहता है।

---

1 काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास हि० भाग 1, पृ० 290

रक्त-सम्बन्ध पर आधारित परिवार-व्यवस्था -- इसके दो रूप होते हैं--पितृप्रधान[1] और मातृप्रधान । वैदिक समाज पहले प्रकार का था । सत्यकाम जाबाल का अपवाद छोड़कर वंश का नाम पिता पर चलता था । माता के नाम से कोई व्यक्ति संबोधित वहां हुआ,जहां किसी-न-किसी कारण से पिता का नाम संतान को उपलब्ध न हो सका था । सत्यकाम जाबाल अपनी माता जाबाला के नाम पर सत्यकाम जाबाल कहे गये । स्त्री विवाहोपरान्त पतिगृह जाती थी और उसी परिवार की सदस्या बन जाती थी । प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में माता के द्वारा होने वाले सम्बन्धों के प्रसंग अधिक नहीं मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मातृपक्षीय सदस्यों को कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं था । ऋ० में केवल एक स्थान पर 'स्याल' शब्द का प्रयोग मिलता है[2],यद्यपि ऋग्वेद के इस सन्दर्भ से 'स्याल' का अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता । ~~सायण ने अपनी टीका में स्याल का अर्थ पत्नी का भाई किया है । निरुक्त में भी यास्क ने स्याल को सम्बन्ध से समीपवर्ती कहा है तथा विवाह में वह लाजाओं का वपन करता है[3]~~ । ऐ०ब्रा० में स्याल शब्द का प्रसंग नहीं आया है । मातृपक्षीय अन्य सम्बन्धों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

रक्त सम्बन्धी परिवार सामान्यतया बड़े आकार के होते हैं । ऋ० में वधू को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है कि परस्पर पति से वियुक्त न होते हुए अपने घर में पुत्र,पौत्रों आदि से युक्त होकर सम्पूर्ण आयु प्राप्त करते हुए प्रसन्न होकर रहो[3] । ऋ० ब्रा० में ससुर,पुत्रवधु,पुत्री,पुत्र,पौत्र,नप्तृ,आदि का उल्लेख आया है[4] ।

रक्त सम्बन्धी परिवार व्यवस्था की एक विशेषता यह भी है कि ऐसे परिवार में किसी दूसरे परिवार के लोग सरलता से स्थान नहीं पा सकते हैं,क्योंकि रक्त सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है,फलतः किसी कारण[5] बहिष्कृत हो जाने पर एक सामाजिक स्तर विशेष से पतित हो जाना पड़ता था । विश्वामित्र ने जब अपने

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.३

२ ऋ० १.१०६.२ उत वा घा स्यालात्

~~३ निरुक्त ६.९ स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः ।~~
~~स्याल्लाजानावपतीति~~ ।

३ ऋ० १०.८५.४२ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वगृहे ।

४ ससुर ऐ०ब्रा० ३.१२.११,पुत्रवधु ऐ०ब्रा० ३.१२.११,पुत्री (ऐ०ब्रा० ७.३३.१;४.१७.१ पुत्र,पौत्र,नप्तृ ऐ०ब्रा० २.६.७,२.८.१;३.१५.४;७.३२.१०

५ आगबर्न तथा निमकौफ: हैण्डबुक आफ सोशियोलाजी,पृ०४६२

पुत्रों को शुनः शेप को बड़ा भाई न मानने पर घर से बाहर निकाल दिया तो उन्हें कहीं स्थान नहीं मिला और वे अन्त में "दस्यु" कहलाये[1]। सम्भवतः उन्हें अनार्य जातियों में ही स्थान मिल पाया होगा।

शुनः शेप को परिवार में स्थान देना पुराने युग परिवार व्यवस्था का प्रभाव प्रतीत होता है। यह गोद लेने के समकक्ष कहा जा सकता है। ऐसा करने में शुनः शेप का नाम भी (देवरात) बदल दिया जाता है[2]। आधुनिक हिन्दू परिवारों में भी रक्त सम्बन्ध पर काफी बल दिया जाता है। गुजरात में आजकल भी विवाहोपरान्त कुछ कुलों में नववधु को नया नाम दिया जाता है। ऐसा रक्त सम्बन्धी परिवार पितृप्रधान होता है। पिता का स्वामित्व होता है। परिवारों में पितरों की पूजा और उनको दिये जाने वाले सम्मान से भी यह प्रकट होता है। ऋ०[3] तथा ऐ०ब्रा०[4] में पितरों की पूजा कर उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंशजों को प्रसन्नता प्रदान करें। पितरों को इस प्रकार मानने तथा सम्मान प्रदान करने की प्रथा केवल यहां की नहीं है। ग्रीक, रोमन और रूसी आदि भी अपने पितरों को सम्मान प्रदान करते हैं तथा अलग-अलग नामों से पुकारते हैं[5]।

विकास के इस चरण को सम्मिलित अथवा संयुक्त परिवार का युग कहा गया है।[6] मैक्डानल तथा कीथ का मत है कि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि बड़ा होकर पुत्र अपने पिता के साथ ही रहता था, और उसकी पत्नी उसके परिवार की सदस्या हो जाती थी[7]; उचित नहीं प्रतीत होता है। मातृपक्षीय सम्बन्धों को इस काल में बिल्कुल महत्व नहीं प्राप्त था तथा उन सम्बन्धों के उल्लेख

---

१ ऐ० ब्रा० ७, ३३, ६

२ ,, ७, ३३, ५, ६

३ ऋ० १०, १५

४ ऐ०ब्रा० ३, १२, ३; ३, १३, १३; ७, ३२, ४, ५, ८; ७, ३३, १; ७, ३४, १
शा० ब्रा० २, २; ३, ७; ५, ६, ७; १६, १, ५; १०, ४, ६,

५ ग्रिसवोल्ड- दि रिलीजन आफ ऋग्वेद पृष्ठ १२

६ हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू परिवार मीमांसा अध्याय २

७ वै० इ०हि० : "पितृ" शब्द, पृ० ६००

का नितान्त अभाव है, यहां तक कि ऋ० में और वह भी खिल सूक्तों में (जिन्हें बाद का प्रक्षिप्तांश भी माना जाता है) केवल एक बार 'मातुलस्य योषा' (मामा की पत्नी) का उल्लेख है[1]। ऋ० ब्रा० में किसी मातृपक्षीय सम्बन्ध का उल्लेख नहीं आया है। इसके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में[2] बड़े बड़े परिवारों के लिए खाना पकाने हेतु अनेक चूल्हों के प्रयोग के उल्लेख से भी बड़े-बड़े सम्मिलित परिवार की पुष्टि होती है तथा जिस प्रकार के पितृसत्तामूलक पारिवारिक सम्बन्धों का ऊपर संकेत किया जा चुका है, उससे इस प्रकार का सन्देह निर्मूल हो जाता है। परन्तु संयुक्त परिवार की मान्यता जिस प्रकार आजकल मिलती है, उसे वैदिक कालीन सुसम्बन्धित परिवार के समकक्ष कई अर्थों में नहीं रखा जा सकता। वैदिककालीन सम्मिलित परिवार पशुचारण युग और उससे आगे कृषि के प्रारम्भिक युग का फल है, जहां सम्मिलित रूप से श्रम करना पड़ता था और सुरक्षा के लिए परिवार की बड़ी इकाई ज़रूरी थी। आजकल कृषकों के बड़े परिवार नहीं मिलते हैं। बड़े परिवार की सफलता व्यापारियों में अधिक है। इतना सत्य है कि सम्मिलित परिवारों का जो भी कारण रहा हो, रक्त सम्बन्ध उसका मुख्याधार है।

दाम्पत्तिक परिवार व्यवस्था -- ऋ० के उत्तरवर्ती काल में कृषि का विकास पर्याप्त रूपेण हुआ। बस्तियां तथा यातायात के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हुई (देखिए 'अर्थनीति' चतुर्थ अध्याय)। अनार्यों के विजित होने से कर्मकरों के रूप में शूद्र वर्ग की संख्या बढ़ी। वास्तव में दशम मण्डल से पूर्व शूद्र शब्द का प्रयोग तक नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकाला जा सकता कि शूद्र वर्ग इससे पहले विद्यमान नहीं था, या दास लोग कम थे, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा कर्मकर अधिक सरलता तथा निश्चय रूप से मिलने लगे थे। फलत: कोई भी पुरुषार्थी आर्य श्रमिकों के बल अपनी निजी खेती-बाड़ी कर सकता था। ऋ०ब्रा० काल में उत्तरी भारत में आर्य-अनार्य युद्ध तो समाप्त प्राय: से थे। इस आश्वस्त दशा में बड़े परिवार का मूल्य घटने लगा था। गृहपति के रूप में पिता की सत्ता विवादग्रस्त बन चुकी थी।

---

१ खिलि०सू० १४.६ तृप्तां जुहुम मातुलस्येव योषा

२ गोभि० गृ०सू० १.४.२३-२६

उदाहरणार्थ, पिता के रहते हुए भी नाभानेदिष्ठ के भाइयों ने पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का बंटवारा कर लिया। गुरुगृह में शिक्षाध्ययन करने वाले नाभानेदिष्ठ के लिए भी कोई हिस्सा नहीं रहा[1]। पिता के द्वारा पैतृक ज्ञान बतलाने पर अभ्यग्नि ने अपने पिता ऐतश का मुख बन्द कर दिया और कहा कि हमारा पिता पागल हो गया है[2]। स्पष्ट है कि विवाह के बाद पुत्र अपनी पत्नी के सहित एक अलग पारिवारिक इकाई बनाने के लिए तत्परता दिखाने लगे होंगे। पारिवारिक सम्पत्ति के बंटवारे की मांग के प्रसंग मिलते हैं[3]। भाइयों के मिलकर साथ रहने वाले सम्मिलित परिवार इस समय भी काफी होते होंगे, क्योंकि भतीजे का प्रसंग अनेकशः आया है और सर्वत्र प्रतिस्पर्द्धी के अर्थ में प्रयोग हुआ है[4]। सम्पत्ति सम्बन्धी झगड़ों के अतिरिक्त इस स्पर्द्धा का कोई अन्य कारण तो मालूम नहीं होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कृषि पर आधारित सम्पत्ति सम्पन्न सम्मिलित परिवारों का आदर्श ऐ०ब्रा० तथा उत्तर ऋग्वैदीय काल में कम महत्त्वपूर्ण होने लगा था। रक्त सम्बन्ध के स्थान पर दम्पती-परिवार का चलन आने लगा था। फलतः पत्नी पितृगृह जनों से आत्मीयता बढ़ी होगी। यद्यपि ऋ० तथा ऐ०ब्रा० में मातृपक्षीय सम्बन्धियों के जातिवाचक नामों का प्रसंग नहीं मिलता है, किन्तु इसके एकदम बाद के साहित्य में प्रचुर सन्दर्भ मिलने लगते हैं।

मैत्रायणी संहिता[5] में केवल एक बार माता के भाई का `मातुर्भ्रात्र' शब्द का उल्लेख मिलता है[6]। खिल सूक्तों में `मातुलस्ययोषा' शब्द में मातुल शब्द

---

1 ऐ०ब्रा० ५.२२.६, शां०ब्रा० २८.४
2 ,, ६.३०.७, शां०ब्रा० ३०.५
3 ,, ५.२२.६, ,, २८.४
4 ,, १.३.२; २.१.१; २.७.५, ६; २.६, ७; २.१०.३; ३.११.७; ३.१४.१; ४.१६.१, ४.१६.२; ५.२४.५, ६; ६.२७.१; ६.३०.७; ६, १०; ७.३२, ४; ८.४०.५; शां०ब्रा० ४.१, ७; ८; १७.१; २७.४, ५।
5 मैत्रा० संहिता १.६.१२
6 खिलि सूक्तानि : १४.६ तृप्तां जुहुर्मातुलस्येव योषा।

मिलता है । इसके अतिरिक्त मातुल शब्द का प्रयोग सूत्रों, मनुस्मृ० तथा महाभारत आदि परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है[1] । मातामह शब्द भी वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, उत्तरवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है[2] । मातृपक्ष के अन्य सम्बन्ध मातामह, मातुल, मातृष्वसा आदि के प्रयोग उत्तरवैदिक काल में होने लगते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि ऋग्वेद ब्राह्मण काल में संयुक्त या सम्मिलित परिवारों का मूल्य गिर गया था । गृह्य सूत्रों में ऐसे परिवारों की चर्चा मिलती है, जो इतने बड़े होते थे, कि उनके खाना पकाने के लिए अनेक चूल्हों का प्रयोग होता था[3] । केवल इतना कहा जा सकता है कि पति-पत्नी की इकाई वाले दाम्पतिक परिवार बनने लगे थे, और इनकी सफलता के लिए आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियां पैदा हो गई थीं । आगे चलकर स्मृतियों तथा गृह्य सूत्रों में सम्पत्ति विभाजन को और अलग अलग परिवार बनाकर रहने को धार्मिक कृत्य तक माना गया है[4] । कहा गया है कि पृथक् पृथक् रहने में धर्म वृद्धि होती है[5] ।

पारिवारिक सम्बन्ध

परिवार अनेक प्रकार के सम्बन्धों को जन्म देता है । प्रत्येक सम्बन्ध की अपनी-अपनी दिशा तथा निकटता की मात्रा होती है । जहां पारिवारिक सम्बन्धों को व्यक्त करने वाली जितनी ही अधिक संज्ञायें होंगी, वहां परिवार का रूप उतना ही जटिल होगा । यह जटिलता समाज के विकास-स्तर तथा उसके गुणकर्म को भी परिचायक होती है । यहां इन सम्बन्धों पर अलग-अलग दृष्टिपात करेंगे । सुविधा के लिए इन्हें पुरुष प्रधान तथा स्त्री प्रधान दो वर्गों में विभक्त किया गया है,

---

१ आश्व०गृ०सू० १.२४.४, मनुस्मृति ३.१४८

२ मनुस्मृ० ३.१४८

३ गोभि०गृ०सू० १.४.२३-२४

४ गौतम धर्मसूत्र १८.४ विभागे तु धर्मवृद्धि(हरि०वेदालंकार: हि०प०मी०,पृ०४४)

५ मनुस्मृ० ६.१११ `पृथग्विवर्धते धर्मः ...`

५ तत्रैव

जैसा कि नीचे दिये गये दो आलेखों से स्पष्ट होता है ।

ऐ०ब्रा० में मिलने वाले पारिवारिक सम्बन्ध
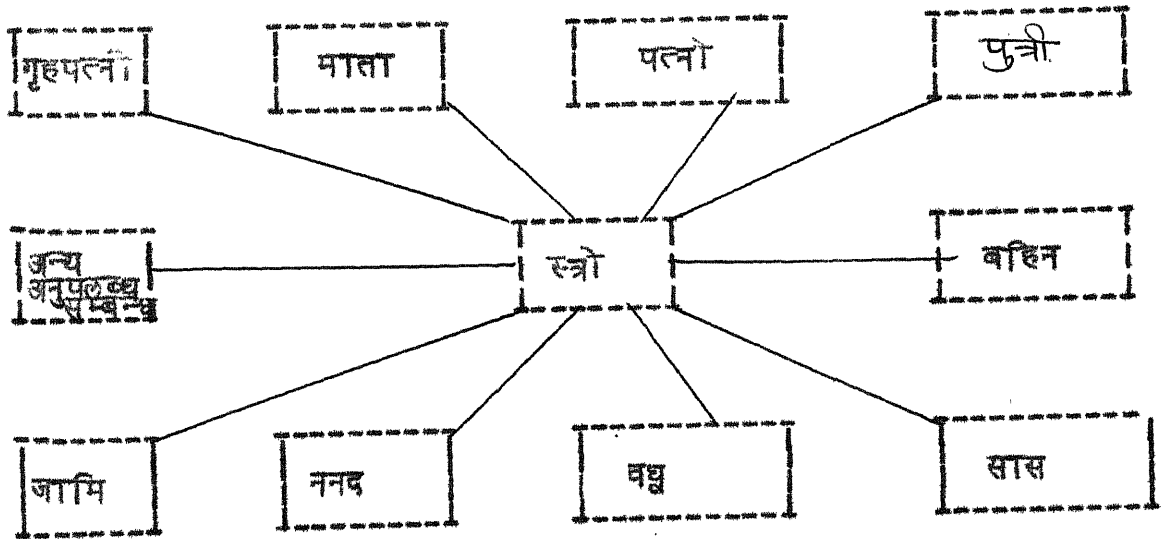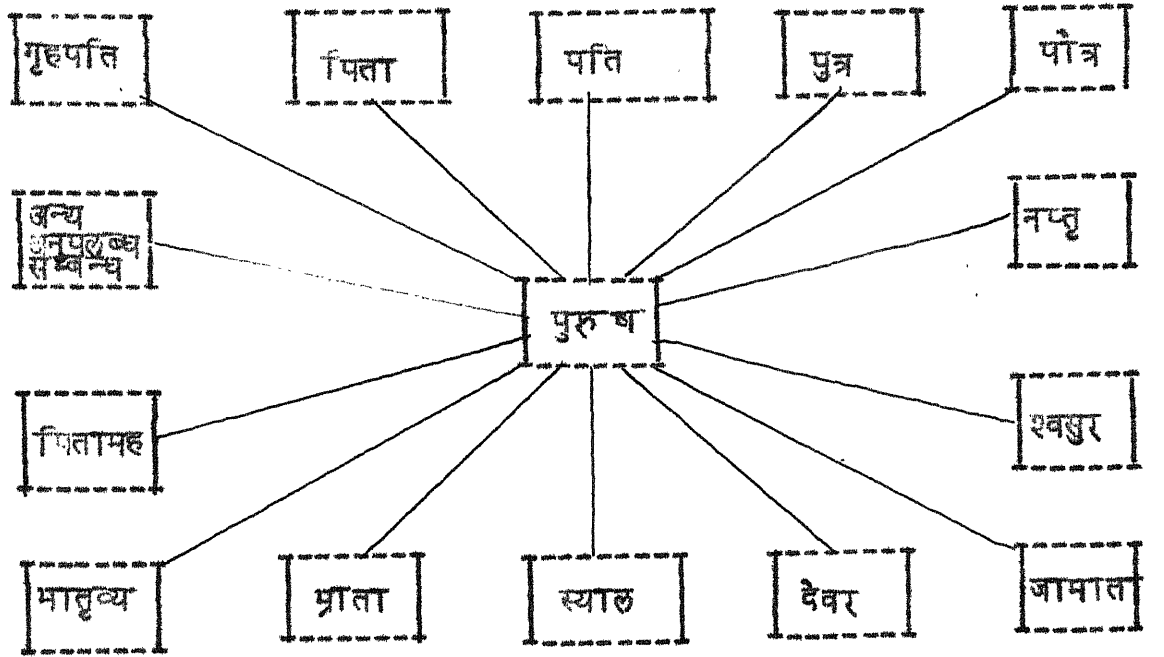
पुरुष सम्बन्ध

गृहपति -- 'गृहपति' परिवार में सबसे ज्येष्ठ होता था, जो परिवार का प्रमुख होता था । ऐ०ब्रा० में सोम-यज्ञ में बलि पशु के विभाजन के प्रसंग गृहपति के भाग का उल्लेख है[१] । इससे गृहपति के यज्ञ करने और यजमान पद ग्रहण करने के अधिकार

---

१ ऐ० ब्रा० ७.३१.१

की प्रतीति होती है ।

शां० ब्रा० में `गृहपति` को `तपने वाला` और गृहों का पति कहा गया है । यद्यपि इस उद्धरण में `गृहपति` सूर्य के लिए कहा गया है, तथापि इससे प्रकट होता है कि गृहपति गृहों का अर्थात् पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि के वैवाहिक जीवन से युक्त विभिन्न गृहों का, जो एक साथ एक परिवार में रहते थे, सब का स्वामी होता था,[1] और परिवार के लिए सब प्रकार का ध्यान रखते हुए और आपत्तियों एवं कष्टों को दूर करने के प्रयत्न द्वारा कष्ट उठाता था[2] ।

ऋ० में आये हुए प्रसंगों के अनुसार गृहपति, गृह का स्वामी, गृह का पालने वाला, अमूढ़ (विद्वान्), वरणीय यजमान, कवि, मेधावी अतिथिवत् पूज्य, और क्रान्त कर्मा कहा गया है[3] ।

पिता -- ऋ० में पिता का स्थान अत्यधिक गौरवपूर्ण था । गृहजनों के द्वारा वह पूज्य और सम्मानित होता था, तथा सब उसको प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे[4] । पिता अपने परिवार का पालन करता था । परिवार में उसको बुद्धिमान ज्ञानवान, शक्तिमान समझा जाता था । गूढ़ार्थ बातों को भी समझने में समर्थ माना जाने के कारण `पितुष्पिता` कहा जाता था[5] । ऋ० ब्रा० काल में भी पिता की ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है ।

पिता का व्यवहार पुत्रों तथा अन्य गृहजनों के प्रति उदार एवं स्नेहपूर्ण होता था[6] । वह पुत्रादि सबको अभीष्ट प्रदान कर आनन्दित करता था[7] । घर में सबके लिए कल्याणकारी, सुलभ एवं सुगम होता था । वह पुत्रों को सब प्रकार

---

१ शां० ब्रा० २७.५ एष हि गृहाणां पतिः

२ ,, २७.५ असावेव गृहपति योऽसौ तपति

३ ऋ० १.१२.६; ४.११.५; ५.८.१२; ६.१६.४,५; ६.५३.२; ७.१.१; ७.१५.२; ८.१०२.१७; १०.११८.६

४ ऋ० ८.६८.११; ७.२६.२

५ ऋ० १.१६४.१६

६ ऋ० १०.३३.३

७ ऋ० १.१.६

सुख और आराम देता था[१]। राजसूय यज्ञ में राजा द्वारा सोम व सुरा के प्रियत्व की समता पिता-पुत्र के स्नेह से की गई है[२]।

परिवार की सम्पत्ति पिता की सम्पत्ति होती थी, जैसा कि नाभानेदिष्ठ के प्रसंग से स्पष्ट होता है[३]। धन की आवश्यकता पड़ने पर पुत्र पिता से धनप्राप्त करता था[४]। ऐ०ब्रा०काल की स्थिति ऋ०काल के ही समान दृष्टिगत होती है। धन प्राप्ति हेतु पुत्र द्वारा पिता का इन्द्र के समान आह्वान किया जाता था[५]। अनेक यज्ञों द्वारा अग्नि की पूजा करके उससे[६] धनप्राप्त करने के समान पुत्र वृद्ध पिता की पूजा करके उससे धन प्राप्त करता था। पिता इन्द्र के समान धन का स्वामी होता था और इन्द्र के समान ही पिता पुत्र की समी आवश्यकताओं को पूर्ण करता था[७]।

ऐ०ब्रा० में पिता के जीवित रहते हुए ही पुत्रों द्वारा सम्पत्ति का विभाजन कर लिए जाने का उल्लेख है। यहां तक कि अध्ययन हेतु गुरुगृह में रहने वाले छोटे भाई नाभानेदिष्ठ का हिस्सा भी बड़े भाइयों ने नहीं रखा। विद्याध्ययनोपरान्त लौटने पर नाभानेदिष्ठ को विभाजन के विषय में जब ज्ञात होता है तो भाइयों से अपना भाग मांगने का परामर्श देते हैं। इस पर उसका पिता अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहता है कि उसके पास नाभानेदिष्ठ के लिए कुछ भी नहीं है, और इसके स्थान पर उसे अंगिरसों के यज्ञ में सहायता करके उनकी गायों को प्राप्त करने की राय देता है[८]। इससे यह आभास होता है कि पिता की

---

१ ऐ०ब्रा० १.२३.१०; ५.२३.४; ५.२४.५

२ ,, ८.३६.६ तद्यथावाद: प्रिय: पुत्र: पितरं ।

३ ,, ५.२२.६

४ ,, ५.२२.६, ऋ० ७.३२.३

५ ऋ० ७.३२.३ रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ।

६ ऋ० २.१०.१

७ ऋ० १०.४८.१

८ ऐ०ब्रा० ५.२२.६

सम्पत्ति के विभाजन के बारे में निश्चित नियम न बन पाये होंगे, क्योंकि विभाजन करने में अनुपस्थित भाई के लिए उसका भाग सुरक्षित नहीं रखा गया है । फलत: पिता उसे अपने ज्ञान एवं पुरुषार्थ को अजमाने के लिए प्रोत्साहित करता है ।

ऐ०ब्रा० में सोमयज्ञ के अन्तर्गत नाभानेदिष्ठ सूक्त शंसन का उल्लेख है । यह वही सूक्त कहे जा सकते हैं, जो नाभानेदिष्ठ द्वारा अंगिरसों के सत्र में प्रयोग किए गये होंगे, जिनके कारण अंगिरस सफल होकर स्वर्गप्राप्त करने में सफल प्रयत्न हुए[1] ।

पिता का घर में पूर्ण अनुशासन होता था । ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि पिता की आज्ञा न मानने पर अथवा अनुचित कार्य करने पर पिता दण्ड देता था । ऐ०ब्रा० में शुन:शेप आख्यान के अन्तर्गत उल्लेख है कि शुन:शेप को विश्वामित्र द्वारा पुत्र रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर उसके १०१ पुत्रों में से मधुच्छन्द से बड़े ५० पुत्रों ने शुन: शेप को बड़ा भाई मानना स्वीकार नहीं किया । इसपर विश्वामित्र ने उन ५० बड़े पुत्रों को घर से निकाल ही नहीं दिया, वरन् उन्हें जाति च्युत करके नीचवर्ग में सम्मिलित होने का आदेश भी दिया[2] ।

इसी प्रकार ऐतश मुनि ने पुत्र द्वारा मुंह बन्द कर देने पर अपने अभ्याग्नि नामक पुत्र और उसकी सन्तान को घर से ही नहीं निकाला, अपितु पापी, दरिद्र और नीच बनने का घोर शाप भी दिया जिससे उच्चकुल में उत्पन्न ऐतश पुत्र औवों और भृगुओं में पापिष्ठ हो गये[3] । इस प्रकार सन्तान को परिवार बहिष्कृत करना तात्कालिक पिता के निरंकुश सामर्थ्य का परिचायक है ।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२२.६, शां०ब्रा० ३०.५

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.६.... ताननु व्याजहारान्तान्व: प्रजा भक्षीष्ट त एते अन्ध्रा:.... बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा: ।

३ ऐ०ब्रा० ६.३०.७ तं होवाचापेहि... मे वाचं अवधा: पापिष्ठां ते प्रजां करोमि ... करोमि.... ऐतशायना औवांणां पापिष्ठा:... ।
शां०ब्रा० ३०.५ थिलत्वा जाल्मास्तु पापिष्ठां ते प्रजां करोमि... तस्माद् ऐतशायना आजानेया सन्तो भृगूणां पापिष्ठा: पित्रा हि शप्ता: ।

पिता अन्य अनुचित कार्यों के लिए भी दण्ड देता था । पुत्र के जुआरी होने पर पिता उसे दण्ड देता था[१] । सौ भेड़ों को नष्ट करने के अपराध में ऋजाश्व के पिता ने ऋजाश्व को अन्धा बना दिया था[२] ।

शुन:शेप आख्यान में पुत्र बेचने की बात आती है । शुन:शेप के पिता ने १०० गायों के बदले शुन:शेप को रोहित के हाथ(वरुण को बलि देने हेतु) बेच दिया[३] । पुत्र बेचने का यह कार्य चाहे आर्थिक संकट के निवारण के लिए किया गया हो, किन्तु पुत्र को बेचने के अधिकार का आशय तो यही हो सकता है, कि पिता का पुत्रों पर सम्पत्ति के समान स्वामित्व था ।

पुत्रों पर पिता के इस प्रकार स्वामित्व के यह अधिकार ऋग्वेदीय परम्परा को ही प्रदर्शित करते हैं,क्योंकि ऋ० के उपर्युक्त प्रसंगों से भी ऐसा ही प्रकट होता है,जहां पुत्र ऋजाश्व ह को अपराध के दण्ड स्वरूप अन्धा बनाकर पिता उसे विकलांग तक बना देता है[४] ।

पूर्ण स्वामित्व का अधिकार होने पर भी पिता अपनी सन्तान का संरक्षण करता था,उनकी आपत्तियों का निवारण करता था । शां०ब्रा० में चातुर्मास्य यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि प्रजापति द्वारा उत्पन्न प्रजा ने वरुण द्वारा वरुण पाश में बांधे जाने पर पिता प्रजापति के पास जाकर वरुण पाश से मुक्त करने कीप्रार्थना की । प्रजापति ने वरुण-प्रघास यज्ञ को देखा और उसके द्वारा प्रजा को छुड़ाया[५] । इस उद्धरण से ज्ञातहोता है कि सन्तान की आपत्ति और कष्ट

---

१ ऋ० १०.३४; २.६५.५

२ ऋ० १.११७.१७,१८

३ ऐ०ब्रा० ७.३३.३ तौहि मध्यमे संपादयांचक्रतु: शुन:शेपे तस्य ह शतं दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

४ ऋ० १.११७.१७

५ शां०ब्रा० ५.३ ता वरुणो वरुणपाशै: प्रत्यमुंचत... प्रीतो वरुणो वरुणपाशेभ्य सर्वस्माच्च पाप्मन: प्रजा: प्रामुंचत ।

होने पर पिता सन्तान के त्राणार्थ पूर्ण प्रयत्न करता था ।

पिता का स्थान इतना गरिमामय माना जाता था, कि अनेक स्थानों पर देवताओं को भी पिता कहकर सम्बोधित किया गया है तथा पिता के समान उनसे रक्षा करने की तथा कष्ट निवारण की प्रार्थनाएं की गई हैं । प्रजापति, इन्द्र, वरुण, विश्वेदेवा, अदिति, अग्नि, मातरिश्वा, रुद्र आदि देवताओं को अनेक स्थानों पर पिता कह दिया गया है[१] । यहां तक कि प्राण और ऋतुओं को भी पिता कह दिया गया है[२] ।

पिता के प्रति आदर तथा भक्ति की भावना की परम्परा के साथ-साथ ऐ०ब्रा० में उसकी निरंकुशता के प्रति पुत्र के विरोध तथा उच्छृंखलता के भी प्रमाण मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र बड़े होने पर पिता की शक्तिमत्ता, बुद्धिमत्ता व उनकी सत्ता का बहुत ध्यान नहीं रखने लगे थे । ऐतश मुनि ने अपने पुत्रों को स्वयंदृष्ट `अग्नेरायु` नामक मन्त्र काण्ड के विषय में जब बताना आरम्भ किया तो उनके अभ्यग्नि नामक बड़े पुत्र ने बीच में आकर अपने पिता का मुंह बन्द कर दिया । इतना ही नहीं, वरन् यह भी कहा -- `हमारे पिता उन्मत्त हो गये हैं[३] ।` पुत्रों का इस प्रकार का दुस्साहस पिता की निरंकुशता का विरोध प्रकट करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पिता के गौरवपूर्ण, गरिमामय स्थान के साथ कोई-कोई ऐतश और अभ्यग्नि जैसी घटनायें भी घटित हो जाने लगी थीं ।

पति -- ऋग्वेदीय आर्यों के समाज में पति-पत्नी का युग्म जिस परिवार का सदस्य होता था, पति जन्मतः उस परिवार का सदस्य होता था और पत्नी दूसरे परिवार से आती थी[४] । पति-पत्नी का व्यवहार सामान्यतया अत्यन्त मधुर एवं सौहार्दपूर्ण

---

१ ऐ०ब्रा० २.१०.६ पिता मातरिश्वा, ३.१३.७ अदिति पिता,
" ३.१३.१० आ ते पितर्मरुतां (हे पितः रुद्र),
" ४.१७.१ , ५.२४.५ प्रजापतिं तत्पितरं
" ६.२८.४ प्रजापति वै पिता
शां०ब्रा० ५.३ प्रजापति पितरं, शां०ब्रा० २५.१० अग्निं मन्ये पितरं, २६.१३ युवाना पितरा
" ६.१,२

२ ऐ०ब्रा० २.१०.६ प्राणो वै पिता, शां०ब्रा० ५.७ ऋतवः पितरः

३ ,, ६.३०.७, शां०ब्रा० ३०.५ तस्याभ्यग्निरैतशायन एत्याकालेऽभिहाय मुखमप्यगृह्णाददृपन्नः पितेति ।

४ ,, ३.१३.१३

होता था । वे दोनों एक-दूसरे का ध्यान रखते थे और एक-दूसरे के पूरक होते थे । ऋ० में तो अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं, जो पति-पत्नी के दाम्पत्य प्रेम को प्रदर्शित करते हैं[१]। ऐ०ब्रा० में उसी परम्परा में पत्नी को पति की सखा कहा गया है[२]।

यज्ञ के अनेक प्रसंगों में पति-पत्नी की कल्पना की गई है और मिथुन धारण तथा रेत: सिंचित की चर्चा के प्रसंग आते हैं । पति की पत्नी के जीवन में मिथुन धारणार्थ महत्वपूर्ण स्थान होता था । यज्ञ से सम्बन्धित रेत: सिंचित के इस प्रकार के अनेक प्रसंग ऐ०ब्रा० में उल्लिखित हैं[३]।

ऋ० एवं ऐ० ब्रा० काल में एक पुरुष की कई-कई पत्नियां होती थीं । वह उनमें मिथुन धारण करता था[४]। सायण ने टिप्पणी में स्पष्ट किया है कि राजा की महिषी, वावाता तथा परिवृक्ति तीन प्रकार की पत्नियां होती थीं । उत्तम जाति की पत्नी महिषी, मध्यम जाति की वावाता तथा अधम जाति की परिवृक्ति कहलाती थी[५]। इस प्रकार इन्द्र की कई पत्नियों में 'वावाता प्रासहा' का ऐ०ब्रा० में उल्लेख आया है[६]। देवपत्नियों के लिए यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि इस संसार में एक पति की बहुत-सी पत्नियां होने पर वह उनमें मिथुन का सम्पादन करता है, उसी प्रकार यदि 'धातार' (धारण करने वाले) के लिए पहले यज्ञ किया जाता है तो इन देविकाओं में वह मिथुन धारण करता है[७]। इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है[८]। ऋग्वेद के अनेक स्थलों के द्वारा भी स्पष्टत: बहुपत्नीत्व की प्रथा सिद्ध होती है[९]।

पति यज्ञ करता था । पत्नी भी पति के साथ यज्ञ कार्य में सहयोग देती थी । अपत्नीक व्यक्ति की पत्नी के नष्ट अथवा मृत हो जाने पर भी

---

१ ऋ० १.७१.१; १.१२४.७; ४.३.२; १.१८६.७; ९.८२.४; १०.७१.४; १०.९१.१३; १.१२२.२; १०.३४.२; १.७३.३ ।

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ सखा ह जाया ।

३ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३; ३.१५.४; ६.२६.३
शा०ब्रा० ७.१०; १६.६; १९.६; १४.२; ३.९ ।

४ ऐ०ब्रा० ३.१२.१२ एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति
शा०ब्रा० ३.९ मिथुनमेव तत्पत्नीषु दधाति

५ ऐ०ब्रा०(क) ३.१२.११ राज्ञा हि त्रिविधा स्त्रिय:... अधम जाते: परिवृक्तिरिति।

६ ऐ०ब्रा० ३.१२.११ इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम ।

७ ऐ०ब्रा० ३.१५.३ यदिह वा अपि बह्व्य इव जाया: पति... तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति ।

८ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ तस्य ह शतं जाया ।

९ ऋ० १.६२.११; ७१.१; १०४.३; १०५.८; ११२.१९; १८६.७; ६.५३.४; ७.१८.२; २६.३; १०.४३.१; १०१.११ ।

अग्निहोत्रादि करते रहना चाहिए[1], परन्तु यदि वह चाहे तो उसे पुत्र,पौत्र,को सौंप सकता है[1(क)]। पतियों के साथ पत्नियों के यज्ञ कार्य में भाग लेने का इन प्राचीन मान्यताओं की परम्परा को हम आगे रामायण काल तक मिलता है, जहां राम ने अश्वमेध यज्ञ में सहधर्मिणी के स्थान की पूर्ति हेतु निर्वासिता सीता की स्वर्ण-प्रतिकृति का निर्माण कराया ।

पुत्र -- ऋ० एवं ब्रा० काल में सत्यकाम जाबाल आदि जैसे उदाहरणों को छोड़कर पितृसत्ता प्रधान परिवार ही मिलता है । नवदम्पती के परिवार का प्रारम्भ विवाह से होता था और पूर्णता पुत्र पौत्रों की प्राप्ति से। पुत्र प्राप्ति के बिना अपूर्णता मानी जाती थी । इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्र के सौ पत्नियां होने पर भी कोई पुत्र जब न हुआ तो उन्होंने नारद जी से अपनी चिन्ता व्यक्त की[2] । नारद जी ने दस गाथाओं से पुत्र महिमा को व्यक्त करते हुए कहा, पुत्र परब्रह्म स्वरूप तथा परम आकाश में ज्योतिस्वरूप है[3] । पिता यदि सुख से जीवित रहते हुए अपने जीवित पुत्र का मुंह देखता है, तो लौकिक,वैदिक ऋण को उसे सौंपकर अमृतत्व को प्राप्त करता है[4] । पृथ्वी,अग्नि तथा जल में जितने भोग हैं,उनसे भी अधिक पुत्र होने पर पिता को प्राप्त होते हैं[5] ।पिता पुत्रप्राप्ति द्वारा इस संसार और परलोक के अन्धकार को अर्थात् दु:खों आदि को पार कर लेता है तथा पुत्र समुद्र पार करने के लिए अन्नपूर्ण नौका के समान है[6] । पुत्र रूप में पिता ही स्वयं उत्पन्न होता है[7] ।पुत्र दोषों से रहित अनिन्दनीय लोक के समान होता है[8] । ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ तथा संन्यास से

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३२.८,१०

१(क) तत्रैव

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.१

३ तत्रैव : ज्योतिर्हपुत्र: परमे व्योमन्

४ तत्रैव : ऋणमस्मिन्... जीवतो मुखम् ।

५ तत्रैव : यावन्त पृथिव्यां भोगा:... भूयान्पुत्रे पितुस्ततव: ।

६ तत्रैव : शश्वत्पुत्रेण पितरो... स इरावत्यतितारिणी ।

७ तत्रैव : पति जाया प्रविशति... एषा वो जननी पुन: ।

८ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ स वै लोको ऽवदावद:

क्या (लाभ), आश्रमों से अधिक पुत्रप्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए[1] अपुत्र का लोक नहीं होता, यह सब पशु भी जानते हैं[2]। पुत्रवान मनुष्य पशु आदि शोक रहित होकर जिस मार्ग को प्राप्त करते हैं, वह महापुरुषों द्वारा भी गाया जाता है। तत्सदृश उस मार्ग को पशुपक्षी भी जानते हैं[3]। अत: वे सब भी पुत्र प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार नारद पुत्र-महिमा बतला कर हरिश्चन्द्र को वरुण की प्रसन्नता से पुत्र प्राप्त करने का परामर्श देते हैं[4]। फलस्वरूप हरिश्चन्द्र रोहित को प्राप्त करते हैं,[5] और वरुण की शर्त के अनुसार पुत्र के वात्सल्य स्नेह वश जब उसकी बलि वरुण को नहीं दे पाते, तो वरुण के कोप से जलोदर रोग से ग्रस्त हो जाते हैं[6]।

ऐ०ब्रा० में पुत्र प्राप्ति को महत्त्व प्रदान करने वाले उल्लेख अनेक स्थानों पर आते हैं। वसिष्ठ यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि मृतपुत्र वसिष्ठ ने पुत्रवान होने की इच्छा से वसिष्ठ यज्ञ किया और पुत्रों को प्राप्त किया[7]। देवपत्नियों के लिए यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि इस प्रकार जानने वालों को पुत्र प्राप्ति होती है[8]।

शां०ब्रा० में 'बर्हि' को पुत्र कहा गया है[9]। कुशा घास को पवित्र और पुत्रवत् माने जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार कुशा घास अपनी जड़ों को जमाती हुई फैलती जाती है, उसी प्रकार पुत्र भी वंशवृद्धि करने वाला होता है।

ऐ०ब्रा० में पुत्र, तनय, आदि पुत्र वाचक शब्दों के अतिरिक्त 'प्रजा', 'प्रजात्यै', 'प्रजाकाम:' 'प्रजातिकाम:', 'प्रजया', आदि शब्दों का भी अधिकांशतया प्रयोग हुआ है। 'प्रजा' शब्द यों तो सन्तान (पुत्र, पुत्री दोनों) का वाचक है, किन्तु इन ब्राह्मणों में

---

१ तत्रैव : किंनु मलं किमजिनं ... पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वम्

२ तत्रैव : नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत्सर्वे पशवो विदु: ।

३ तत्रैव : एषा पन्था उरुगाय: ... त पश्यन्ति, पशवो वयांसि च

४ ऐ०ब्रा० ७.३३.२ अथैनमुवाच वरुणं ... तेन त्वा यजा । ५ ऐ०ब्रा० ७.३३.२ तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम

६ ,, ७.३३.३ अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे ।

७ शां०ब्रा० ४.८

८ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३. पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते य एवं वेद ।

९ शां०ब्रा० ५.७, १८.१० प्रजा वै बर्हि:

'प्रजा' शब्द पुत्रवाचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1] । पुत्र प्राप्ति की सर्वत्र कामना दृष्टिगोचर होती है, किन्तु पुत्री प्राप्ति की कामना अथवा पुत्री प्राप्ति से प्रसन्नता प्रकट होने वाला उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता है । 'सुप्रजा वीरवन्त:', 'प्रजया वै सुप्रजा वीरवान' आदि शब्द वीर पुत्र अर्थ को ही प्रकट करते हैं[2] ।

एक ऐसे समाज में, जहां प्रमुखत: पिता की शृंखला द्वारा ही सम्बन्ध व्यक्त होते थे, पुत्रप्राप्ति की आकांक्षा होना स्वाभाविक ही था, जिससे वह वंशक्रम को चलाता रहे[3] । पुत्रहीनता को सम्पत्ति हीनता के समकक्ष रखा गया है, और इस स्थिति से बचाने के लिए अग्नि की स्तुति की गई है[4] ।पुत्र की महिमा ऋ० में पर्याप्त उद्गीत है । यह प्रतिध्वनि ऐ०ब्रा० में भी वैसी ही मिलती है । आत्मज (या औरस) पुत्रों के न होने पर दत्तक पुत्र को गोद लिया जाना भी सम्भव था । कभी आत्मज पुत्रों के होने पर भी दत्तक लिया जाता था । एक अत्यन्त उच्च योग्यता वाले व्यक्ति को परिवार में सम्मिलित कर लेने की इच्छा से ही ऐसा किया जाता था । विश्वामित्र द्वारा शुन:शेप को दत्तक लेने के उदाहरण से यह स्पष्ट है[5] ।

दूसरी जाति से दत्तक लेने की प्रथा भी प्रतीत होती है । विश्वामित्र क्षत्रिय वंशोत्पन्न थे । ऐ०ब्रा० में उन्हें 'भरत ऋषभ' अर्थात् 'भरत कुल के श्रेष्ठ' कहकर सम्बोधित किया गया है[6] । शुन:शेप ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे[7] ।क्षत्रिय विश्वामित्र द्वारा ब्राह्मण शुन: शेप को गोद लिया गया[8] ।

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.१; १.२.५; १.३.३; १.४.४; २.६.४; २.७.७; ३.१२.१२; ३.१५.४; ६.३०.१; ६.३० ६ ।
शां०ब्रा० ४.८; ६.१; ६.२-६; ८.४,५,१०; ११.५

२ ऐ०ब्रा० ४.१७.५ बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तइति प्रजया वै सुप्रजा वीरवान् इति ।

३ ऋ० १.६१.२०; १.६२.१३; ३.१.२३; १०.८५.२५, ४१,४२,४५

४ ऋ० ३.१६.५

५ ऐ०ब्रा० ७.३३.५,६

६ ,, ७.३३.५ यथाऽहं भरत ऋषभोप्येयां तव पुत्रताम् ।

७ ,, ७.३३.३ सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय... स तमादाय ....ग्राममेयाय... भुयान्वै ब्राह्मण: क्षत्रियादिति वरुणउवाच ...।

८ ऐ०ब्रा० ७.३३.५,६ ।

औरस और दत्तकपुत्र के अतिरिक्त 'दासीपुत्र' का भी उल्लेख मिलता है[१]। क्रीत अथवा विजित दासियों के घरों में रहने से यह सम्भव हुआ होगा, किन्तु दासीपुत्र को सम्मान प्राप्त नहीं था। फिर भी यदि दासीपुत्र विद्वान् होता था, तो समाज में सम्मान और श्रेष्ठपद प्राप्त करता था, जैसा कि कवष ऐलूष के आख्यान से स्पष्ट होता है। ऋषि लोग जिस कवष को यज्ञ से बहिष्कृत करके रेगिस्तान में मरने के लिए छोड़ देते हैं, उसके 'अपोनप्त्रीय सूक्त' के द्रष्टा बनने पर तथा सरस्वती के प्रवाह को उस 'परिसारक' स्थान पर प्रवाहित कर देने पर ऋषिगण जाकर उससे क्षमा मांगते हैं और ससम्मान उसे यज्ञ में पुनः लिवाकर लाते हैं[२]।

उपर्युक्त 'दत्तक' तथा 'दासीपुत्र' आदि के उद्धरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह परम्परायें समाज में रूढ़िगत रूप से प्रचलित नहीं थीं। ऋ० में भी दत्तक पुत्र लेने की प्रथा अधिक प्रचलित प्रतीत नहीं होती। माता-पिता की अकेली सन्तान पुत्री होने पर पुत्री के पुत्र को रख लेने का प्रसंग मिलता है[३]। भ्रातृविहीन कन्या के लिए पति प्राप्त करने की कठिनाई के कारणों में से एक कारण यह भी था कि कन्या का विवाह होने पर भी पिता उसे 'पुत्रिका' बनाकर अपने यहां ही रखना चाहता था[४]। पुत्रिका का पुत्र उसके पिता के परिवार का सदस्य मान लिया जाता था[५]। ऐ०ब्रा० में विश्वामित्र द्वारा शुनःशेप को पुत्र रूप में जो अंगीकार कर लिया गया था, वह परिस्थितिवश ही ऐसा किया गया प्रतीत होता है। साधारणतया दत्तक को गोद लेने की प्रथा प्रचलित नहीं थी, औरस पुत्र को ही महत्त्व प्राप्त था, और उसको प्राप्त करने की ही कामना सर्वत्र

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.१ | ... दास्याः पुत्रः ... कथं नो मध्येऽदीक्षिष्ट ... ।
शां०ब्रा० १२.३ |

२ तत्रैव

३ ऋ० ३.३१.१, निरुक्त ३.५

४ ऋ० १.१२४.७; ३.३१.१ निरुक्त ३.५ (अभ्रातृका कन्या का विवाह कर पिता उसे अपने घर रखता था जिसे 'पुत्रिका' कहा जाता था। उसके पुत्र को पिता अपने घर का सदस्य बनाकर रखता था।)

५ तत्रैव, मनुस्मृति ९.१२७, १२८।

दृष्टिगोचर होती है ।

ऐ०ब्रा० में पुत्र पिता को अत्यन्त प्रिय कहा गया है[1] ।पिता पुत्र को अपने से अधिक गुणी व सुखी बनाना चाहता था । निष्केवल्य शस्त्र पठन के प्रसंग में `अनुरूपों` को सन्तान कहा है तथा अनुरूपों को ऊंचे स्वर से पढ़ने का विधान किया गया है,क्योंकि (पिता) सन्तान को अपने से अधिक श्रेय सम्पन्न बनाता है[2] ।

दर्प,मिथ्याभिमान,उन्मत्तता आदि दुर्गुण उस समय भी पसन्द नहीं किए जाते थे और इनसे युक्त बोली भी पसन्द नहीं की जाती थी । इन दुर्गुणों को मनुष्यों में भी पसन्द नहीं किया जाता था, और सन्तान में भी यह दुर्गुण न आये, इसका भी ध्यान रखा जाता था । उल्लेख है कि अभिमान एवं उन्मत्तता से पूर्ण तथा ज़ोर से बोली जाने वाली वाणी राक्षसी वाणी होती है । इस तथ्य को जानने वाला स्वयं भी अभिमान इत्यादि नहीं करता, और न उसकी सन्तान में ही अभिमान आदि दुर्गुण आते हैं[3] ।

पुत्र के अनुचित कार्यों को माता-पिता पसन्द नहीं करते थे । मनोरंजनार्थ जुआ खेलने का प्रचलन होने पर भी जुआ खेलने के दुर्व्यसन से युक्त पुत्र को पिता पसन्द नहीं करता था । यहां तक कि जुआरी को(राजकर्मचारियों द्वारा) बांध कर ले जाते हुए देखकर भी माता,पिता,भ्राता कह देते थे `हम इसको नहीं जानते, ले जाओ[4] । समाज में भी `जुआरी` कहा जा कर अनादृत होता था[5] ।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३६.५ तदेषवाद: प्रिय: पुत्र: पितरं ।

२ ऐ०ब्रा० ३.१२.१३ प्रजा वा अनुरूप.... प्रजामेव तच्छ्रेयसीमात्मन: कुरुते ।

३ ऐ०ब्रा० २.६.७ अथ यदुच्चै: कीर्तयेद्... यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्त: सा वै राक्षसी वाक् । नाऽऽत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आजायतेयएवं वेद ।

४ ऋ० १०.३४.४ पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।

५ ऐ०ब्रा० २.८.१

पुत्र विवाहित होकर जब तक अलग अपना परिवार गठित नहीं करता था, पिता के ही साथ रहता था । उसकी पत्नी अपने श्वशुर से पर्दा (छिपती-लजाती) करके उसे सम्मान प्रदान करती हुई रहती थी[1] । यदि श्वशुर की कहीं दृष्टि भी पड़ती तो वह पर्दे में होकर छिप जाती थी[2] ।

माता-पिता का वैसे तो अपनी सभी सन्तान से स्नेह होता था, किन्तु ऐ०ब्रा० में शुन:शेप के आख्यान से प्रतीत होता है कि पिता का सबसे बड़े पुत्र के प्रति और माता का सबसे छोटे पुत्र के प्रति स्नेह अधिक हो जाता है । रोहित द्वारा एक पुत्र को मांगने पर ऋषि अजीगर्त अपने बड़े पुत्र को देने से मना कर देते हैं तथा उनकी पत्नी अपने सबसे छोटे पुत्र को । दोनों मध्यम पुत्र शुन:शेप को दे देते हैं[3] ।

पौत्र,नप्तृ

पुत्र के पश्चात् वंश परम्परा के क्रम में पौत्र,नप्तृ आदि का उल्लेख है । अपत्नीक व्यक्ति द्वारा अग्निहोत्र किये जाने के प्रसंग में उल्लेख है कि यदि वह अग्निहोत्र न करना चाहे तो अपने पुत्र,पौत्र और नप्ताओं को करने को कहे[4] । 'नप्ता' शब्द आजकल जनसाधारण में पुत्री के पुत्र अर्थात् दौहित्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है । किन्तु इस उद्धरण में पैतृक परम्परा का उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि यहां पर 'नप्तृ' से तात्पर्य 'प्रपौत्र' का है अर्थात् अग्निहोत्र करने का भार , पिता यदि स्वयं न वहन करना चाहे तो अपने पुत्रों,अथवा पौत्रों अथवा प्रपौत्रों को, जैसी स्थिति हो, सौंप दे ।

देवियों के लिए यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि वृद्धद्युम्न के सर्वदा युद्ध के लिए तैयार ६४ पुत्र और नप्ता थे[5] । इस उद्धरण में पुत्र के पश्चात् नप्ता का

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१२.११ तस्मैवाद: स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानेति ।
२ ,, ३.१२.११ प्रासहे कस्त्वा पश्यति ... सा... निलीयमाना एति ।
३ ,, ७.३३.३ स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच नन्विममिति नो एवेममिति कनिष्ठं माता तौ ह मध्यमे संपादयांचक्रतु: शुन:शेपे... ।
४ ,, ७.३२.१० पुत्रान्पौत्रान्नप्तृनित्याहु:
५ ,, ३.१५.४ चतु:षष्टिं कवचिन: शश्वद् हास्य ते पुत्रनप्तार आसु: ।

उल्लेख है । यहां पर `नप्ता` से तात्पर्य पौत्र प्रतीत होता है, क्योंकि क्योंकि पैतृक परम्परा में पुत्र के पश्चात् पौत्र का क्रम आता है । सायण ने भी अपनी टिप्पणी में नप्ता के लिए पौत्र ही लिखा है[१] ।

उल्लेख है कि यज्ञ में राक्षसों का भाग अवश्य निकाल देना चाहिए, अन्यथा अपना भाग न मिलने पर वह भाग न देने वाले अथवा उसके पुत्र पौत्रों को नष्ट कर देते हैं[२] । यहां अनिष्टकारी प्रभाव भी पुत्र, पौत्रों तक दिखलाया गया है ।

ऋ० में नववधु को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है कि `संसार में रहो, वियुक्त मत हो । सम्पूर्ण आयु का उपभोग करते हुए क्रीडा करते हुए पुत्र और नप्ताओं से मोद मान अपने गृह में रहो[३] ।` यहां पर नप्तों से तात्पर्य पौत्रों, प्रपौत्रों से ही प्रतीत होता है । सायण ने यहां भी अपनी टिप्पणी में `नप्तृभिः` शब्द का अर्थ पौत्र ही किया है[४] ।

ऋ० में पौत्र अथवा वंशज के अर्थ में `नप्तृ` `नपात` आदि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है । पौत्र शब्द का प्रयोग नहीं । `अपां नपात्` एक देवता के लिए भी आता है, जहां `नपात` शब्द का अर्थ नप्तृ अथवा पौत्र माना जाता है । ऋ० में `अपां नपात्` का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है[५] ।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ० में पौत्र, प्रपौत्रों के लिए प्रयुक्त `नपात्` शब्द का ही ऋ०ब्रा० में भी पौत्र प्रपौत्र के अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

---

१ ऐ०ब्रा०(क) ३.१५.४

२ ,, २.६.७ यो वै भागिनं .... स यदि वैनं न च्यते ऽथ पुत्रमथ पौत्रं च्यते ।

३ ऋ० १०.८५.४२ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि-मोदमानौ स्वे गृहे ।

४ तत्रैव

५ ऋ० १.१४३.१; २.३१.६; २.३५.१,२,७,६,१०,११,१३ आदि आदि ।

साथ ही इस काल में पौत्र शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा । प्रपौत्र शब्द का प्रयोग इस काल तक होता नहीं प्रतीत होता है, प्रपौत्र के लिए ऐ०ब्रा० (७.३२.१०) में 'नप्तृन्' का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार 'नप्तृ' शब्द का प्रयोग पौत्र तथा प्रपौत्र दोनों के लिए किया गया प्रतीत होता है । पौत्र,प्रपौत्रों के व्यवहार,स्वभाव आदि के बारे में और कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

श्वसुर

ऐ०ब्रा० में श्वसुर का वधु के प्रसंग में उल्लेख है कि वस्त्रों से अपने को आच्छादित करती हुई वधु श्वसुर से लज्जित होकर छिपती हुई जाती है[१] । जामाता के प्रसंग में श्वसुर का ऐ०ब्रा० में कहीं उल्लेख नहीं आया है । ऋ० वधु को श्वसुर तथा अन्य गुरुजनों पर शासन करने वाली होने का और कल्याणी होने का आशीर्वाद दिया जाता है[२] ।

जामाता

परिवार की स्त्रियों में बहिन तथा पुत्री से जो 'जामि' कही जाती थी, विवाह करने वाला व्यक्ति 'जामाता' कहलाता था[३] । ऋ० में एक स्थान पर इसका उल्लेख है । उपर्युक्त प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता है कि बहिन के विवाह में भाई बहिन के स्नेह के लिए उसे धन देता था,किन्तु गुण-विहीन जामाता पत्नी प्राप्त करने के लिए कन्या के पिता को धन प्रदान करता था[४] । ऐ०ब्रा० में पिता प्रजापति द्वारा पुत्री सावित्री सूर्या के सोम के साथ विवाह के प्रसंग का उल्लेख है । उसमें सभी देवता वररूप में प्राप्त होते हैं और प्रजापति उसमें

---

१ ऐ०ब्रा० ३.२२.११ स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना... एति ।

२ ऋ० १०.८५.४६; १०.८५.३३

३ ऋ० १.१०९.२ अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां वि जामातुरुत वा घा स्यालात् ।

४ तत्रैव

शर्त रखते हैं[१]। किन्तु इसमें जामाता का उल्लेख नहीं आया है, यद्यपि पुत्री के विवाह से जामाता की प्राप्ति होती ही है ।

देवर -- ऐ०ब्रा० में 'देवर' शब्द का उल्लेख प्राप्त नहीं होता । यद्यपि संयुक्त परिवार में जहां वधू को दस पुत्रों और ग्यारहवें पति से युक्त होने का आशीर्वाद दिया जाता था, कोई देवर ज्येष्ठ आदि न हो, इसकी संभावना नहीं हो सकती । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसंग के अभाव के कारण उसका उल्लेख नहीं हुआ है । ऋ० में तो वधू को देवरों पर भी शासन करने वाली होने का आशीर्वाद दिया गया है[२]।

स्याल (साला) -- मातृपक्षीय सदस्यों का ऐ०ब्रा० में उल्लेख नहीं मिलता है । ऋ० में केवल एक स्थान पर 'स्याल' शब्द का प्रयोग मिलता है[३]। यद्यपि ऋ० के उस सन्दर्भ से 'स्याल' शब्द का अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता है । सायण ने अपनी टीका में स्याल का अर्थ 'पत्नी का भाई' किया है । निरुक्त में यास्क ने स्याल को संयोग से समीपवर्ती कहा है, तथा विवाह में वह शूर्प(सूप) से लाजाओं का वपन करता है[४]। मातृपक्षीय सम्बन्धों की चर्चा के न होने से इन सम्बन्धों का अभाव तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनको अधिक महत्व नहीं प्रदान किया जाता था, ऐसा प्रतीत होता है ।

भ्राता -- भ्राता का सम्बन्ध भाई तथा बहिन दोनों के प्रसंग में उपलब्ध होता है । नाभानेदिष्ठ के बड़े भाइयों द्वारा नाभानेदिष्ठ की अनुपस्थिति में सम्पत्ति का बंटवारा कर लिया जाता है, जिसमें नाभानेदिष्ठ के लिए कुछ नहीं रखा जाता[५], तथा लौटकर आने पर और भाइयों से अपना हिस्सा मांगने पर वे लोग उसे पिता के पास अपना दाय मांगने के लिए भेज देते हैं[६]। शुन:शेप को दत्तक स्वीकार कर लेने

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१७.१ प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्सूर्यां सावित्रीं... ।
२ ऋ० १०.८५.४६ सम्राज्ञी भव अधिदेवृषु ।
३ ऋ० १.१०९.२
४ निरुक्त ६.९ स्याल आसन्न: संयोगेनेति नैदाना: ।
स्याल लाजानावपतीति वा ।
५ ऐ०ब्रा० ५.२२.९
६ तत्रैव

पर विश्वामित्र के १०१ पुत्रों में से ५० बड़े पुत्रों ने उसे बड़ा भाई मानने से अस्वीकार कर दिया किन्तु मधुच्छन्दा से छोटे ५० पुत्रों ने उसे बड़ा भाई मान लिया । इस पर छोटे पुत्र पिता की प्रसन्नता और वसीयत तथा बड़े भाई शुन:शेप के ज्ञान को प्राप्त करते हैं[१]। शुन:शेप के एक बड़ा और एक छोटा दो और सहोदर भाइयों का उल्लेख है[२]। ऐतश मुनि के कई पुत्रों का उल्लेख है[३]। भाइयों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होते थे उपर्युक्त प्राप्त उल्लेखों से इसका कोई स्पष्ट आभास नहीं होता ।

माता-पिता के मृत या असमर्थ होने पर, पति के मृत हो जाने पर अथवा श्वसुर-गृह में किन्हीं कारणों से न रह सकने पर बहिनें अपने भाइयों के पास अपनी भाभी की अनुजीवनी होकर अर्थात् भाभी की आश्रित होकर रहती थी[४]। भाई-बहिनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भी इससे कुछ पता नहीं चलता है ।

भ्रातृव्य -- भ्रातृव्य शब्द आजकल भ्राता के पुत्र के लिए ~~केवल~~ आता है । पाणिनी की अष्टाध्यायी में भ्रातृव्य शब्द अपत्य अर्थ में तथा समुदाय रूप में शत्रु अर्थ में कहा गया है[५]। ऋ०[६] तथा ऐ०ब्रा० में यह शब्द शत्रु अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । ~~ऐ०ब्रा० में यह शब्द शत्रु अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है~~ । ऐ०ब्रा० में तो २७-२८ बार इसका प्रयोग हुआ है[७]। शां०ब्रा० में ऐ०ब्रा० की अपेक्षा इस शब्द का प्रयोग कम, केवल १४ बार हुआ है[८]। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में यह शब्द जहां-जहां भी आया है, शत्रु अर्थ में ही उल्लेख है । अथर्ववेद में यह भ्राता और भगिनी के साथ प्रयुक्त हुआ है, वहां यह निश्चित

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.६

२ ,, ७.३३.३

३ ,, ६.३०.७, शां०ब्रा० ३०.५

४ ,, ३.१३.१३ समानोदर्या स्वसाऽन्योदर्यायै जायाया अनुजीवनी जीवति ।

५ पाणिनी अष्टा० (१) भ्रातुर्व्यच्च ४.१.१४४
(२) व्यन्सपत्ने ४.१.१४५

६ ऋ० ८.२१.१३

७ ऐ०ब्रा० १.३.२; २.६.१; २.७.५, ७; २.६.७; २.१०.३; ३.११.७; ३.१४.१; ४.१६.१, २; ५.२४.५; ६.२७.१; ६.३०.७; ६.१०; ७.३२.४; ८.४०.५ ।

८ शां०ब्रा० ४.१; ४.७; ४.८; १७.१; २७.४; २७.५ ।

रूप से किसी सम्बन्धी के लिए ही संभवत: भतीजे के लिए प्रयुक्त हुआ है[1]।

सम्मिलित परिवारों में धन-सम्पत्ति के लिए भाई-भतीजों का सम्बन्ध शत्रुता या प्रतिद्वन्द्विता में सरलता से परिणत हो सकता है। किन्तु ऐ०ब्रा० में भ्रातृव्य शब्द शत्रु के लिए ही प्रयोग किया गया है, भ्राता के पुत्र के अर्थ में कहीं नहीं आया है। हो सकता है कि उस समय भ्रातृव्य शब्द शत्रु के अर्थ में ही प्रयोग किया जाता हो। कभी शत्रुता वश भ्रातृ पुत्र को भ्रातृव्य कह दिया हो और फिर उसको भ्रातृव्य कहा जाने लगा हो।

पितामह

ऐ०ब्रा० में पितृसत्ता की प्रधानता पाई जाती है। ऐ०ब्रा० में शुन:शेप के बलि प्रदान से बच जाने पर और विश्वामित्र द्वारा पुत्र रूप में स्वीकार किये जाने पर शुन: शेप का पिता अजीगर्त सौयवसि शुन:शेप से कहता है, " हे पुत्र, तुम अंगिरा गोत्र में उत्पन्न विद्वान् हो, अपने पितामह के सम्पादित तन्तु को विच्छेद करके मत जाओ। पुन: मेरे पास आओ[2]। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि पितृसत्ताप्रधान परिवार में पितामह का सम्मानित स्थान था। पिता के पिता को पितामह कहा जाता था। पितामह के साथ पितामही शब्द भी प्रयुक्त होता होगा, किन्तु प्रसंगाभाव से उल्लेख नहीं आया प्रतीत होता है।

अन्य अनुपलब्ध सम्बन्ध -- मातामह, मातामही, पितृष्वसा, मातृष्वसा पैतृष्वस्रेय मातृष्वस्रेय पितृव्य, पितृव्यपत्नी आदि शब्दों का उल्लेख नहीं मिलता। ये सब सम्बन्ध रहे होंगे अवश्य और माने भी जाते होंगे, क्योंकि परिवार में पिता, पुत्र, पौत्र, नप्तृ आदि से भोक्तमान घर में ये सभी सम्बन्ध होंगे। नप्तृ शब्द से यदि प्रपौत्र के स्थान पर दौहित्र अर्थ भी लिया जाय, तब तो मातृ सम्बन्धी भी सभी सम्बन्ध प्रचलित होंगे, किन्तु संभवत: यज्ञ सम्बन्धी वर्णनों के प्राधान्य के कारण इनके उल्लेख का अवसर नहीं आया।

---

१ अथर्व० ५.२२.१२ तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्।

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.५ स होवाचाजीगर्त: ... ऋषे पैतामहात्तन्तो माऽऽपगा: पुनरेहि मामिति।

स्त्री सम्बन्ध

गृहपत्नी -- 'गृहपत्नी' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है । ऐ०ब्रा० में गृहपति को जाया कहकर उसे निर्दिष्ट किया गया है । परिवार में ज्येष्ठ गृहपति होता था । गृहपति यज्ञ करता था । गृहपति के साथ उसकी पत्नी को भी यज्ञ में यथोचित भाग लेना होता था । यहां तक कि सोम यज्ञ के बलि पशु के विभाजन में उसका भी बराबर भाग होता था[1] । गृहपति की पत्नी 'वशिनी' अर्थात् अन्य को वश में करने वाली भी कही गई है[2] । कदाचित् अपने मधुर व्यवहार से सबको अपने वश में रखने वाली होगी और पद एवं आयु में भी सबसे बड़ी होने के कारण सब गृहजन उसके वशवर्ती होकर रहते होंगे ।

माता -- ऋग्वैदीय आर्य 'पुत्र' को महत्व प्रदान करते थे । ऐ०ब्रा० में सौ पत्नियों के होने पर भी अपुत्र राजा हरिश्चन्द्र के पुत्रप्राप्ति के लिए प्रयत्न करने से यह स्पष्ट होता है[3] । इसीलिए वीर पुत्रों को जन्म देने वाली माता का परिवार में गौरवपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक था । ऋ० में नववधू को दस वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली होने का आशीर्वाद दिया जाता था[4] । ऋ० तथा ऐ०ब्रा० में जहां पारिवारिक सम्बन्धों की स्थापना है, वहां पिता के बाद दूसरे स्थान पर माता का उल्लेख है । आर्य परिवारों में पिता की प्रधानता तो थी ही, माता के रूप में स्त्री की स्थिति भी अत्युन्नत तथा स्पृहणीय थी ।

ऋ० में इन्द्र को पिता और माता कहा गया है[5] । अग्नि को मनुष्यों का पिता, माता कहा गया है[6] । द्यौ को पिता, पृथिवी को माता, सोम को भ्राता, और अदिति को स्वसा कहा गया है[7] । ऋ० में माता-पिता दोनों के लिए

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३१.१ सव्यौ पादौ गृहपते र्भार्यायै

२ ऋ० १०.८५.२६ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।

३ ऐ०ब्रा० ७.३३.१,२

४ ऋ० १०.८५.४५

५ ऋ० ८.९८.११ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ

६ ऋ० ६.१.५ पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्

७ ऋ० १.१९१.६ द्यौ र्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा ।

'पित्री', 'पितरा' 'मातरा' आदि आये हुए शब्द भी पिता के साथ माता का गौरवपूर्ण स्थान प्रदर्शित करते हैं।[1] ऐ०ब्रा० में सोमयज्ञ के अन्तर्गत पशुयाग में बलि पशु को संज्ञपित करने से पूर्व उसके माता, पिता, भ्राता, सखा और बन्धु से अनुमति लेने के लिए उल्लेख भी आया है।[2] इसमें माता का स्थान पिता से पूर्व उल्लिखित है। माता से सबसे प्रथम अनुमति मांगी गई है। बालक के प्रति पिता की अपेक्षा माता का स्नेह अधिक माना जाता है, सम्भवत: इसीलिए सबसे पहले माता की अनुमति प्राप्त करने का उल्लेख है। ऐ०ब्रा० में धारण[3] करने वाले को और पृथ्वी[4] को भी माता कहा गया है। पृथ्वी सभी को धारण करती है। कदाचित् धारण करने के कारण ही पृथ्वी को माता कहा गया है। माता सन्तान को धारण करती है, जन्म देकर पालन करती है। अत: माता का पुत्र के लिए विशेष स्नेह हो जाता है, और कई पुत्र होने पर छोटे पुत्र से विशेष स्नेह होने का उल्लेख है।[5]

माता-पिता सन्तान का पोषण करते हैं, इसीलिए कदाचित् पुत्र माता-पिता के प्रति ऋणी होता है। माता पिता के ऋण से मुक्ति[6] हेतु अपत्नीक व्यक्ति द्वारा भी यज्ञ करने का विधान किया गया है।

पत्नी -- पत्नी दूसरे परिवार में जन्म लेने और पलने पर भी समाज विहित विधि से विवाहित होकर पति परिवार में आकर उस परिवार की अभिन्न अंग बन जाती थी।[7] पत्नी घर का केन्द्रबिन्दु होती थी। ऋ० में विश्वामित्र ने सोमपान करके हर्षित हुए इन्द्र से प्रार्थना की है, "हे इन्द्र, तुमने सोमपान कर लिया है, तुम घर जाओ। तुम्हारे घर तुम्हारी कल्याणी जाया प्रतीक्षा कर रही है।[8] पत्नी ही

---

१ ऋ० १.११०.८, १.२०.४, ३.१८.१, ४.३३.३, ३५.३, ३६.३, ४१.७, १०.३९.६, १३१.५ आदि।

२ ऐ०ब्रा० २.६.६ अन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति।

३ ऐ०ब्रा० ५.२४.३ धरुणं मातरं

४ ,, १.२.३ [illegible] महीमू षु मातरं

५ ,, ७.३३.३ कनिष्ठं(पुत्रं) माता

६ ,, ७.३२.८ मातापितृभ्यामनृणार्थाधेजेति वचनाच्छ्रुतिरिति।

७ ,, ३.११.११ अन्योदर्याय जायाया।

८ ऋ० ३.५३.६ इन्द्र प्रयाहि कल्याणी जाया सुरणं गृहते।

घर है । अत: रथ में जुड़े घोड़े तुझे वहां ले जायें[1] । ऋ० में अग्नि से सपत्नीक देवताओं सहित आने की प्रार्थना की गई है[2] । अग्नि से यज्ञ करने वाले यजमान को पत्नी युक्त करने की प्रार्थना की गई है[3] ।

कदाचित् पति का सुख दु:ख में मित्र के समान साथ देने वाली आवश्यकता के समय उसे सत्परामर्श देने वाली, गृहधर्म पालन में समान सहयोग देने वाली होने के कारण पत्नी को 'सखा' कहा गया प्रतीत होता है[4] ।

पत्नियों का गृह में महत्वपूर्ण स्थान था । गृह में स्थित अग्नि गार्हपत्य अग्नि कहलाती थी । पत्नियां गार्हपत्यभागी होती थीं । अत: पत्नी-संयाज में गार्हपत्य अग्नि में यज्ञ किया जाता था[5] ।

पति के साथ पत्नी यज्ञ-कार्यों में भाग लेती थी । ऋ० में उषा की प्रशंसा करते हुए उल्लेख है कि जहां यजमान दम्पती प्रात: यज्ञ करते हैं, सूर्य उषा का पीछा करता हुआ उनके यज्ञ में जाता है[6] । बलिपशु विभाजन में यजमान पत्नी का भाग भी कहा गया है[7] ।

शां०ब्रा० में पत्नियों को अयज्ञिय तथा वेदी के बाहर कहा गया है[8] । 'अयज्ञिय पत्नियों' के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ कार्यों में किन्हीं कारणों वश स्त्रियों का स्थान गिरता गया । 'बहिर्वेदि' के अनुसार उनको यज्ञ कार्यों में वेदी के बाहर के कार्यों को करने के लिए उपयुक्त माना जाने लगा । कारण कुछ भी हो सकता है, किन्तु इस उद्धरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्त्रियों द्वारा यज्ञ में भाग लिये जाने में कुछ न्यूनता आने लगी ।

---

१ ऋ० ३.५३.४ जायेदस्तं मघवन्

२ ऋ० ३.६.६

३ ऋ० ४.५६.४

४ ऐ०ब्रा० ७.३३.१

५ शां०ब्रा० ३.६ अथ यद् गार्हपत्ये पत्नीसंयाजैश्चरन्ति गार्हपत्यभाजो वै पत्न्यः

६ ऋ० १.११५.२ सूर्यो देवीमुषसं ... यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते भद्राय भद्रं

७ ऐ०ब्रा० ७.३१.१

८ शां०ब्रा० २७.४ अयज्ञिया पत्न्यो बहिर्वेदि हिता इति ।

सन्तान प्राप्तिहेतु पत्नी का विशेष महत्व था । ऐ०ब्रा० में देवपत्नियों के लिए पहले यज्ञ करने का विधान है, क्योंकि पत्नियों में वीर्य आधान किया जाता है[1]। सन्तानप्राप्ति हेतु पुरुष पत्नी को ग्रहण करता था[2]। पुत्र को उत्पन्न करने के कारण पत्नी जाया भी कहलाती थी, क्योंकि पुत्र रूप में पति पत्नी के गर्भ से पुन: उत्पन्न होता है[3]। अत: पुत्र प्रदान करने वाली स्त्री का विशेष मान-सम्मान था । ऋ० के अनेक स्थलों से भी ऐसा सिद्ध होता है[4]।

एक पुरुष की कई पत्नियां तो एक साथ हो सकती थीं, किन्तु एक स्त्री के कई पति एक साथ नहीं हो सकते थे[5]। 'बहव: सहपतय:' से यह भी स्पष्ट होता है कि एक स्त्री के कई पति तो हो सकते थे, किन्तु एक साथ नहीं । यह हो सकता है कि यदि स्त्री का पति मर जाय, या छोड़ दे, या उससे सन्तान प्राप्त न हो, या मारने पीटने वाला हो या दुराचारी हो, इत्यादि ऐसे किन्हीं भी कारणों से स्त्री अन्य पति (पुनर्विवाह) कर सकती थी, जिसे समाज में अनुपयुक्त न माना जाता होगा ।

पत्नी में मृदुता, कोमलता, मधुरभाषिता, सद्व्यवहार, अप्रतिवादिनी आदि सद्गुणों को अच्छा माना जाता था । निष्केवल्य शस्त्र विधान में परिधानीय शंसन करने के प्रसंग में पत्नियों को 'प्रच्यावुक' 'अनुदायिततर' और 'अनुद्धतमन' वाली कहा गया है[6]। धाय्या को नीचे स्वर से पढ़ने के विधान में कहा गया है, कि जो धाय्या नीचे स्वर से पढ़ते हैं उनके घर में पत्नी अप्रतिवाद

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३ देवानामेव पत्नी: पूर्वा: शंसेदेष ह वा एतत्पत्नीषु रेतो दधाति.... पत्नीषु प्रत्यक्षाद्रेतो दधाति प्रजात्यै ।

२ शां०ब्रा० १४.२ तत्प्रजात्यै रूपं वीर्वं स्त्रियै पुमानु गृह्णाति ।
शां०ब्रा० १५.४ प्रजानुरूपौ महिषी ।

३ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुन: ।
प्रति जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा... दशमे मासि जायते ।

४ ऋ० १.६२.११; ७१.१; १०४.३; १०५.८; ११२.१६; १८६.७; ६.५३.४; ७.१८.२; २६.३; १०.४३.१; १०१.११

५ ऐ०ब्रा० ३.१२.१२ एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहव: सहपतय: ।

६ शां०ब्रा० १५.४ तथा ह पत्न्य: प्रच्यावुका भवत्यनुदायिततरां तथा ह पत्न्यनुद्धतमना इव भवति ।

करने वाली होती है, अर्थात् नीचे बोले जाने वाले स्वर के समान पत्नी भी नीचे स्वर से बोलने वाली और प्रतिवाद न करने वाली होती थी[१]। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रतिवाद न करना, मधुर बोलना, धीरे बोलना, कोमलता आदि अच्छी पत्नी के गुण माने जाते थे ।

ऋ० में उषा का वर्णन करते हुए आया है कि उषा प्रात:काल सब सोने वालों को उसी प्रकार जगाती है, जिस प्रकार गृहिणी, सोने वालों को जगाती है[२]। ऋ०ब्रा० काल में भी ऐसा ही प्रतीत होता है । घर में स्त्रियों को 'अन्नभाज' (अन्न की भागी) कहा गया है[३]। परिवारों में आज भी स्त्रियां सबको भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करती हैं । सबको देने के पश्चात् स्वयं लेती है । अत: ऐसा प्रतीत होता है कि यह परम्परा अति प्राचीन काल से चली आरही है ।

पुत्री -- ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में पुत्री प्राप्ति की कामना कहीं नहीं की गई है । पुत्र की कामना के प्रसंग तो भरे पड़े हैं । ऐ०ब्रा० में पुत्री को 'कृपण' कहा गया है[४]। 'कृपण' शब्द को स्पष्ट करते हुए सायण ने लिखा है कि पुत्री दु:ख देने से दैन्य का कारण होती है । उत्पन्न होने के समय स्वजनों को दु:ख करने वाली, विवाह के समय धन को हरने वाली, यौवन में भी बहुत दोष करने वाली पुत्री पिता की हृदयदारिका अर्थात् हृदयविदीर्ण करने वाली होती है[५]। सम्भवत: इन्हीं कारणों से पुत्री प्राप्ति की कामना कहीं दृष्टिगत नहीं होती और पुत्री जन्म का अभिनन्दन किये जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है । यद्यपि दस बहिनों के होने का उल्लेख ऋ० में आया है[६]।

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१२.१३ अप्रतिवादिनी हास्य गृहेषु पत्नी भवति ।

२ ऋ० १.१२४.४

३ शां०ब्रा० १६.७ अथो अन्नभाजो वै पत्न्यस्तस्मादेना अन्ते शस्त्रे शंसति

४ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ कृपणं हि दुहिता ।

५ ,, (क) ७.३३.१ कृपणं केवल दु:खकारित्वाद्दैन्यहेतु: । संभवे स्वजनदु:खकारिका संप्रदानसमयेऽर्थहारिका यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितु: ।

६ ऋ० ६.६१.१ दश स्वसारो अधि.... ।

युवा होने तक पुत्री पितृगृह में माता-पिता के संरक्षण में रहती थी[१]। पिता के न रहने पर भाई के पास रहती थी[२]। विवाह न हो जाने पर किसी दोष व दुर्गुण वश पति द्वारा त्याग दिये जाने पर ~~किसी दोष व दुर्गुण वश पति द्वारा त्याग दिये जाने पर~~ अथवा किन्हीं अन्य परिस्थितियों वश श्वसुर गृह में न रह सकने पर पितृगृह में रहती थी[३]। साधारणतया विवाह हो जाने पर पुत्री पतिकुल की एक सदस्या बन जाती थी[४]।

पुत्री प्राप्ति की माता-पिता द्वारा इच्छा न किये जाने और उसके जन्म का अभिनन्दन न करने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्री का पालन इस ढंग से किया जाता था, कि वह सुन्दरी, गुणवती, युवती बाला होती था, जिससे विवाह में उसे प्राप्त करने के लिए अनेक लोग इच्छुक हो जाते थे। प्रजापति अपनी पुत्री सूर्या सावित्री का विवाह सोम से करना चाहते थे, कि सब देवता वररूप में आ पहुंचे। इसपर प्रजापति द्वारा सहस्र अश्विनशस्त्र की शर्त रख दी गई। उसके निर्णय के लिए देवताओं द्वारा आपस में दौड़ प्रतियोगिता करना तय हुआ[५]। इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि योग्य कन्याओं को प्राप्त करने के इच्छुक अनेक लोगों में से एक का वरण करने के उद्देश्य से विवाहों में पिता द्वारा शर्त रख दी जाती थी। रामायण काल में सीता विवाह के अवसर पर धनुष यज्ञ और महाभारतकाल में द्रौपदी के विवाह के अवसर पर मत्स्य वेध की प्रतिज्ञायें कदाचित् इसी परम्परा की प्रतीक थीं।

पुत्री के विवाह के अवसर पर दहेज (वहतु) भी उस समय दिया जाता था। प्रजापति ने सहस्र शस्त्र को 'वहतु' (दहेज) रूप में देने का तय किया[६]।

---

१ ऋ० ८.९१.१-७, १०.८५, ऐ०ब्रा० ४.१७.१
२ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३ समानोदर्या स्वसा... अनुजीवनी जीवति।
३ ऋ० ८.९१.१-७ चर्म रोग होने के कारण पति परित्यक्ता अपाला पिता के यहाँ रहती थी।
४ ऋ० १०.८५.२७,३६,४२,४५,४६,४७ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३
५ ऐ०ब्रा० ४.१७.१ प्रजापति र्वै सोमाय ...
६ ,, ४.१७.१ तस्या एतत्सहस्रं वहतुमन्वाकरोत्

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि अन्य विधियों से निर्णय न होने पर दौड़ प्रतियोगिता आदि जैसी प्रतियोगितायें भी होती थीं, और जीतने वाला शर्त का विजेता होता था[1]।

समाज में उस समय जब सम्बन्धी नियमों का पर्याप्त विधान और विकास हो चुका प्रतीत होता है। ऋ० में यमी द्वारा अपने भ्राता यम को पुनः पुनः जब सम्बन्ध हेतु आमन्त्रण, यम का बारम्बार पाप और अनुचित कहते हुए अस्वीकरण और किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को इसके लिए चुनने का परामर्श देने से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है[2]। ऐ०ब्रा० में भी यह परम्परा दृष्टिगत होती है। पिता प्रजापति ने जब पुत्री-अभिगमन किया तब देवताओं ने इसे अनुचित कार्य मान रुद्र द्वारा उन्हें मरवा डाला[3]। ऐसे अपराध जघन्य माने जाते थे और ऐसे अपराधों के लिए समाज घोर दण्ड देता था[4]।

कन्याओं की शिक्षा की भी उचित व्यवस्था की जाती रही होगी, क्योंकि यज्ञ विधान के अन्तर्गत कुमारी गन्धर्वगृहीता के मत का उल्लेख है[5]। इसके अतिरिक्त ऋ० में अपालाऋषि[6], विश्ववाराऋषि[7], घोषा काक्षीवती[8], सूर्या सावित्री[9] आदि मन्त्र-द्रष्टा, सूक्तों की रचयिता विदुषी स्त्रियों के उल्लेख हैं।

सब प्रकार उचित लालन-पालन, पढ़ाई-लिखाई होने पर भी कन्यायें दायभाग की अधिकारिणी नहीं मानी जाती थीं। ऋ० में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि भगिनी, पुत्री आदि स्त्रियां (जामयः) रिक्थ (दायभाग) की अधिकारिणी नहीं है[10]। ऋ०ब्रा० में पुत्रों के दायाद्य का प्रसंग नाभानेदिष्ठ के

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१७.१,२,३
२ ऋ० १०.१०.१-१४
३ ऐ०ब्रा० ३.१३.६ प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्.... तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति... ।
४ तत्रैव
५ ऐ०ब्रा० ५.२५.४, शां०ब्रा० २.६
६ ऋ० ८.९१
७ ऋ० १.२८
८ ऋ० १०.३९,४०
९ ऋ० १०.८५, ऐ०ब्रा० ४.१७.१
१० ऋ० ३.३१.२ न जामये तान्वो रिक्थमारैक् ।

आख्यान में आया है, किन्तु पुत्रियों के लिए दायभाग की कोई चर्चा नहीं आई है। तैत्ति०सं०, मैत्रा०सं०, आश्व० श्रौ०सू०, निरुक्त आदि में पुत्र को दायाद और पुत्री को अदायाद कहा गया है।[1] यहां तक कि अपुत्र व्यक्ति का दौहित्र दायभाग में पुत्रवत् समता प्राप्त कर सकता था, किन्तु पुत्री नहीं[2]।

बहिन -- ऋ०ब्रा० में बहिन का प्रसंग भाई के सन्दर्भ में आया है। उसका 'समानोदर्या स्वसा'[3] कहकर भाई के साथ रहने के सम्बन्ध में उल्लेख है, जिसके विषय में पीछे लिखा जा चुका है। बहिन का बहिन के सन्दर्भ में कोई उल्लेख नहीं आया है। कदाचित् लड़कियों को अधिक मान्यता प्रदान न किये जाने के कारण ऐसा हो।

सास -- ऐ०ब्रा० में श्वसुर से वधू के लज्जित होने और परदा करने का प्रसंग आया है। सास का कहीं उल्लेख नहीं है। ऋ०ब्रा० में यद्यपि सास का कोई प्रसंग नहीं है, तथापि श्वसुर का उल्लेख सास की स्थिति को प्रकट करता ही है। ऋ० में नववधू को आशीर्वाद देने के प्रसंग में सास का उल्लेख है, जिसमें नववधू को सास-ससुर आदि सब पर शासन करने वाली होने का आशीर्वाद दिया गया है[4]।

वधू -- ऐ०ब्रा० में श्वसुर से लजाने और परदा करने का प्रसंग आया है[5]। किन्तु घर में पुत्री से वधू की स्थिति उच्च मानी जाती थी। ऐ०ब्रा० में बहिन को पत्नी की अनुजीवनी होकर रहने का उल्लेख भाई के प्रसंग में पहले आ चुका है। ऋ० में वधू से सम्बन्धित अधिक उल्लेख है, जिनके अनुसार वधू सास-ससुर का आदर सत्कार करती थी, उनका लिहाज करती थी, उनके भोजन की व्यवस्था करती थी, उनका सब प्रकार ध्यान रखती थी[6]। इससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक अग्रिम पीढ़ी की वधू अपनी सास से अधिक कुशल और योग्य गृहिणी बने, इसकी आशा की जाती थी।

---

१ तैत्ति०सं० ६.५.८.२ | मैत्रा०सं० ४.६.४ | आश्व०श्रौ०सू० ७.४ | निरुक्त ३.५ — पुमान् दायादोऽदायादा स्त्री

२ ऋ० ३.३१.१ शासद् वह्निर्दुहितुः... पिता पुत्र दुहितु से कर्मृञ्जन्ति

३ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३

४ ऋ० १०.८५.४६

५ ऐ०ब्रा० ३.१३.१२

६ ऋ० ८.२६.१३ आवृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव
ऋ० १०.९५.४ सा वसुदधती श्वशुराय
ऋ० १०.९५.१२

जामि -- `जामि` शब्द का प्रयोग मूलतः रक्त सम्बन्धी स्त्रियों के लिए ऋ० एवं ऋ०ब्रा० में आया है । ऐ०ब्रा० में देवपत्नियों को हवि प्रदान करने के प्रसंग में उल्लेख है कि पहले देवपत्नियों अथवा `राका` देवपुत्री अविवाहित आदि `जामियों` (देव पुत्री भगिनी बुआ आदि स्त्रियों) में पहले किसको सोम पान करना उचित है[1] ।

शां०ब्रा० में `जामि` रक्त सम्बन्धी स्त्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, और `अजामि` शत्रुओं अथवा रक्त सम्बन्ध से परे के लिए प्रयोग किया गया है[2] ।

निरुक्त में `जामि` शब्द की निरुक्ति करते हुए उल्लेख है कि अन्य व्यक्ति इससे सन्तान उत्पन्न करते हैं, अथवा यह निर्गमन प्राया होता है[3], तात्पर्य यह है कि `जामि` के परिवार से पृथक् अन्य व्यक्ति इससे विवाह करते थे, और यह अपने पितृपरिवार को छोड़कर दूसरे परिवार में जाती थी । जामियों को ऋ० में दायभाग का अधिकारिणी नहीं माना गया है[4] ।

सामान्यतया ऋ०काल की अपेक्षा ऋ०ब्रा० में परिवार के संगठन में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता है, किन्तु स्थायी कृषि जीवन पर आधारित समाज के अनुरूप कुछ विशिष्ट दिशा में परिवर्तन का सूत्रपात तो हो चला था । रक्त सम्बन्ध पर आधारित बड़े परिवारों के विघटन के चिन्ह मिलने लगते हैं और दाम्पत्तिक परिवारों की इकाई के संगठन को ओर अभिरुचि में वृद्धि प्रतीत होती है ।

-0-

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३ जाम्यै वै पूर्वपेयमिति

२ शां०ब्रा० २८.५,६, ३०.११

३ निरुक्त ३.६ जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमते र्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति ।

४ ऋ० ३.३१.२

चतुर्थ अध्याय

- ० -

आर्थिक दशा

१ विषय प्रवेश

२ आर्थिक दशा के प्रमुख आधार

(क) कृषि

(ख) पशु

(१) लम्बी यात्राओं में
(२) स्थलीय यातायात (बोझा ढोना) में
(३) रथों एवं युद्धों में
(४) यज्ञों में बलि एवं दान
(५) अन्य तथ्य
(६) चर्म प्रयोग
(७) अन्य प्रयोग

(ग) उद्योग एवं शिल्प

(१) वस्त्र

१ वस्त्र निर्माण की सामग्री
२ वेश
३ कसीदाकारी

(२) खिलौना

(३) रथ, शकट निर्माण कला

(४) नौका निर्माण कला

(५) धातु विज्ञान तथा शिल्प

१ स्वर्ण
२ रजत
३ अयस्
४ ताम्र तथा कांस्य
५ सीसा या त्रपु

(६) चर्मकल्प
(७) रज्जुग्रन्थन एवं माला निर्माण
(८) अन्य ललित कलायें

३ विनिमय
४ तौल-माप

(१) तौल
(२) माप

चतुर्थ अध्याय

-o-

आर्थिक दशा

सर्व सम्मत है कि प्रागैतिहासिक काल के शिकारी और भोजन-संग्रह पर आधारित घुमन्तु जीवन के पश्चात् मानव जीवन की सभ्यता में पशुपालन और कृषि का आरम्भ हुआ । इन दोनों में से किसका पहले प्रारम्भ हुआ, इसके बारे में सभी सम्मत न भी हों, किन्तु इसमें कोई दो राय नहीं है कि चारण प्रधान सभ्यता कृषि प्रधान सभ्यता से पहले की रही होगी । भारत में कृषि प्रधान सभ्यता का इतिहास इतना प्राचीन है कि चारणयुगीय सभ्यता के शुद्ध रूप का अनुमान ही लगाया जा सकता है[१] । कृषि प्रधान सभ्यता में पशु पालन का भी प्रमुख स्थान है, किन्तु यह पशुपालन चारणप्रधान सभ्यता से भिन्न स्वरूप ले लेता है । आजकल भी भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में कृषि और पशुपालन का यह समन्वय भली प्रकार देखा जा सकता है ।

सिन्धु घाटी सभ्यता कुछ उपर्युक्त जैसी ही कृषि आधारित सभ्यता रही होगी । परन्तु प्रारम्भिक ऋग्वेदीय सभ्यता में पशुधन के ऊपर कुछ इतना अधिक बल दृष्टिगोचर होता है कि उसे पूर्णरूपेण कृषि प्रधान सभ्यता कहने में कुछ संकोच होना अधिक अस्वाभाविक नहीं । डा० राधा कुमुद मुकर्जी का यह कथन कि 'आर्यों का आर्थिक जीवन पशुओं पर केन्द्रित था'[२] इस ओर संकेत है । यह सत्य है कि यह पशु कृषि कार्य को सम्पन्न करने में सहायक

---

१ यहाँ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि वातावरण विशेषता के कारण शिकारी तथा चारण प्रधान व्यवसाय तो आजकल भी देखे जा सकते हैं, किन्तु वे सभ्यता के सामान्य प्रतिमान के रूप में नहीं ।

२ आर०के० मुकर्जी : 'हिन्दू सिविलीज़ेशन' भाग१,पृ०७५,भारतीय विद्या भवन

होते थे । ऋ० के उत्तरकाल में अथवा ब्रा० काल में पशुओं के महत्व में तो कोई विशेष कमी न आई थी, किन्तु ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि आर्य जीवन, विशेषरूप से उनकी बस्तियां अधिक स्थायी, समृद्ध और सुव्यवस्थित बन गई थीं । इसका एक कारण यह अवश्य होगा कि आर्यों के आर्थिक जीवन में खेती का स्थान अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण बन गया था । इस निष्कर्ष के लिए कुछ परोक्ष रूप में प्रमाण मिलते हैं, जिनपर आगे विचार करेंगे । साथ ही साथ तात्कालिक आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर भी दृष्टिपात करेंगे ।

आर्थिक दशा के प्रमुख आधार

कृषि -- ऐ०ब्रा० में होता द्वारा यज्ञ में भली प्रकार स्तुति न किये गये को 'दुष्टुत' एवं भली प्रकार स्तुति किये गये को 'सुष्टुत' कहा गया है । इसी प्रकार बुरे अमात्य द्वारा प्रदान की गई दुर्मति को 'दुर्मतीकृत' कहकर एवं सुमति प्रदान करने वाले बुद्धिमान गुणवान अमात्य द्वारा प्रदान की गई सुमति को 'सुमतीकृत' कहकर साम्य प्रदर्शित किया गया है । इन दोनों की बुरी प्रकार जोते गये 'दुष्कृष्टं' और अच्छी प्रकार जोते गये 'सुकृष्ट' खेत से समता दिखलाई गई[१] । यहां पर अमात्य द्वारा दी गई भली-बुरी मन्त्रणा से अच्छी बुरी प्रकार जोते गये खेत से जो साम्य प्रदर्शित किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अनाज के अच्छे उत्पादन के लिए खेती के जोतने के महत्व से उस समय लोग इतनी अच्छी तरह परिचित थे, कि अच्छी खेती के लिए अच्छी प्रकार जोतना उतना ही आवश्यक समझा जाता था, जितना एक राजा के लिए उसके अमात्य द्वारा दी गई सन्मन्त्रणा । इसी प्रकार यज्ञ में होता द्वारा देवताओं की स्तुतिशंसन अच्छी प्रकार करना और देवताओं को प्रसन्न करना जिस प्रकार आवश्यक था, उसी प्रकार खेत को भली प्रकार जोतना भी आवश्यक माना जाता था । इससे

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.१४ यथा दुष्कृष्टं दुर्मतीकृतं सुकृष्टं सुमतीकृतं .... यज्ञस्य दुष्टुतं दुःशस्तं सुष्टुतं सुशस्तं.... ।

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि खेतो का तात्कालिक जीवन में इतना अधिक महत्त्व बढ़ गया था कि इसके लिए किए गए प्रयास से सम्बन्धित मुहावरे भाषा के अलंकरण तक में प्रयुक्त होने लगे थे ।

बैलों द्वारा हल से खेती जोती जाती थी । ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में `अयौजि` `अयुजि` `युज्जन्ति` आदि कई शब्दों का प्रयोग आया है,[1] जो (बैलों के) कन्धों पर जुआ रखने, (बैलों को) जोड़ने तथा रथ में बैल जोड़ने के लिए भी प्रयुक्त हुआ है । शां०ब्रा० में `शस्याय .... युज्येयातां` से शस्य आदि अन्न के लिए (दो बैलों को हल में) जोड़ने की प्रतीति होती है[2] । इससे हल में दो बैलों को जोड़े जाने का भी अनुमान मिलता है । ऐ०ब्रा० में `पंचकृष्टी` शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका अर्थ संदिग्ध है । सायण ने `पंचकृष्टी` से देवमनुष्यासुरराक्षस गन्धर्व का अर्थ किया है, किन्तु `पंच + कृष्टी` शब्द से पांच बार जोती गई (भूमि) के अर्थ का भी अनुमान होता है[3] । अनाज की अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए कई-कई बार भूमि जोतने की आवश्यकता होती है, यहां तक कि गेहूं बोने के लिए ७,८ बार तक खेत की जुताई की जाती है ।

ऐ०ब्रा० में न्यूङ्०स की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि समय के अनुसार हुई वर्षा और उससे हुई खेतों की समृद्धि को देखकर प्रसन्न होते हुए कृषक जिस प्रकार गीत गाते हैं, उसी प्रकार चौथे दिन का न्यूङ्०स का उच्चारण होता है । अतः इसके उच्चारण से अन्न उत्पन्न होता है[4] । इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि कृषक समय पर प्राप्त वर्षा से हरे भरे अपने खेतों को देखकर प्रसन्न

---

१ ऐ०ब्रा० २.७.८ अयौजि वां वृषणावसुरथो, शां०ब्रा० २२.१ अयुजि शां०ब्रा० २५.१५ युज्जन्ति

२ शां०ब्रा० २६.८ शस्याय .... युज्येयातां

३ ऐ०ब्रा० ४.१८.६ पंचकृष्टी:

४ ऐ०ब्रा० ५.२१.३ यदेलवा अभिगेष्णाश्चरन्त्यथान्नाद्यं प्रजायते

होते थे,और नाच-गाकर आनन्द मनाते थे ।

शां०ब्रा० में विश्वजित यज्ञ करने के पश्चात् इस यज्ञ को करने वाले व्यक्ति के लिए निर्धारित अन्य नियमों के साथ एक यह भी नियम था कि वह `फालकृष्ट` अर्थात् हल से जोतकर उत्पन्न अनाज को प्रतिग्रहण (दान ले) कर उपभोग करे[१] । इस उद्धरण से `फाल लगे हल` से जोतने और अनाज उगाने का पता लगता है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि उन दिनों कृषि पर्याप्त रूप में विकसित और उन्नत हो चुकी थी । जौ,धान आदि विविध अन्नों का समुचित उत्पादन किया जाता था । (देखिए अध्याय ७ `भोजन का प्रसंग) गेहूं,दालें,चना आदि अन्य अनाजों का भी उत्पादन होता होगा,किन्तु उनका उल्लेख नहीं मिलता । ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों में इनके प्रयोग के अभाव के कारण इनका उल्लेख नहीं हो सका है । सिन्धु घाटी सभ्यता में गेहूं उगाये जाने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । अत: पहले से ही उपस्थित गेहूं आदि का प्रयोग में आना कोई अस्वाभाविक बात नहीं प्रतीत होती । अर्वाचीनकाल में भी गेहूं,दालों, चना आदि का भोजन में पर्याप्त प्रयोग होने पर भी पूजा एवं हवन आदि में जौ,धान,तिल आदि का ही प्रयोग किया जाता है ।

पशु -- इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि ऐ०ब्रा० काल में पशु एक प्रमुख आर्थिक आधार थे । ऐ०ब्रा० में पशुओं को दो कोटि का कहा गया है[२],ग्राम्य और आरण्यक । ग्राम्य पशु `सप्त वै ग्राम्या पशव:` के अनुसार सात माने गये हैं । आरण्यक पशुओं की कोई निश्चित संख्या[३] नहीं है । ऐ०ब्रा० में ग्राम्यपशुओं का पृथक् नामोल्लेख नहीं है । सायण ने टिप्पणी में बौधायन तथा आपस्तम्ब के मत उद्धृत किए हैं । बौधायन के अनुसार अज,अश्व,गौ,महिषी,वराह,हस्ति,

---

१ शां०ब्रा० २५.१५ फालकृष्टास्य प्रतिगृह्णन्

२ ऐ०ब्रा० २.७.७

३ तत्रैव

अश्वतरी, सात ग्राम्य पशु हैं । आपस्तम्ब के अनुसार अज,अवि,गौ,अश्व,गर्दभ, उष्ट्र, नर सात ग्राम्य पशु हैं । ऐ०ब्रा० में विविध स्थानों पर आये हुए उल्लेखों के आधार पर अज,अवि,गौ,अश्व,हस्ति,अश्वतर,गर्दभ सात ग्राम्य पशु प्रतीत होते हैं[1]। पुरुष का भी पशुओं के साथ उल्लेख आया है । ऐ०ब्रा० में `षोडशी` सोमयाग के अन्तर्गत उल्लेख है कि षोडशी से घिरे हुए अश्व,पुरुष,गौ,हस्ति, स्वयं ही (लौटकर) आ जाते हैं[2]। अत: आपस्तम्ब मत के अन्तर्गत उद्धृत उपर्युक्त `नर:` तथा षोडशी के अन्तर्गत उक्त `पुरुष` शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि दास बनाकर रखे गये लोगों के लिए यह शब्द प्रयोग किया गया है । यह `दास` लोग आर्यों द्वारा अपनी सुविधा के लिए रखे जाते थे । पशुओं आदि के समान वे उनकी सम्पत्ति माने जाते होंगे और कृषि आदि के कार्यों के लिए बाहर जाते होंगे ।

बौधायन ने `हस्ति` को `ग्राम्य` पशु के अन्तर्गत रखा है, किन्तु आपस्तम्ब में इसका उल्लेख नहीं है । ऐ०ब्रा० में भी आये हुए उल्लेख (४.१६.१) से ऐसा प्रतीत होता है कि हाथी पाला जाने लगा था, और वह इतना पालतू हो जाता था कि जिसके स्वयं अपने स्थान पर लौटकर आ जाने की कल्पना की जा सकती थी[3]। इसके अतिरिक्त हाथी उस समय इतना सुपरिचित था कि शिल्पकला में हस्ती के खिलौने भी बनाये जाते थे[4] (आगे शिल्पों के अन्तर्गत भी देखिये) । ऐ०ब्रा० में उष्ट्र का भी उल्लेख है[5]।आपस्तम्ब ने इसकी ग्राम्य पशुओं में गणना की है[6]। बलि पशु के प्रसंग में ऊंट का मेध(हविर्भाग)त्याज्य

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.८; ४.१६.१; ४.१७.६

२ ,, ४.१६.१

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० ६.३०.१

५ ,, २.६.८

६ ,, (क) २.७.७

तत्पश्चात्
'मेध्यरहित' पशु कहकर उल्लेख हुआ है[1]। इससे यह स्पष्ट है कि यह बलि पशु के रूप में पहले प्रयोग किया जाता होगा, किन्तु फिर अनुचित माना जाने लगा होगा।

आरण्यक पशुओं के अन्तर्गत मार्जारी सिंह, व्याघ्र, वृक, सालावृक, मृग, शरभ, गवय आदि का उल्लेख हुआ है[2]। इन दोनों प्रकार के पशुओं का अनेकशः प्रयोग होता था।

लम्बी यात्राओं में -- अश्व, अश्वतर (खच्चर) एवं बैलों का प्रयोग दूर-दूर की लम्बी यात्राओं के लिए किया जाता था। मार्ग में थके हुए पशुओं को खोलकर विश्राम प्रदान करने का उल्लेख है। ऐसी लम्बी यात्राओं के हेतु विश्राम स्थलों की भी व्यवस्था होगी, जहाँ पशुओं को खोलकर सुरक्षित रूप से पथिक विश्राम कर सकते होंगे। ऐ०ब्रा० में कहा गया है कि 'श्रान्त (पशु) को यदि खोला न जाय तो वह नष्ट हो जायगा। अतः दीर्घ मार्ग में खोलता-खोलता अर्थात् विश्राम देता हुआ जाय'[3]। दीर्घ अरण्यों में विश्रामस्थल कदाचित् नहीं होते थे। कहा गया है कि बहुत से स्तोमों से (एक साथ) शंसन उसी प्रकार दुःखकारक है, जिस प्रकार दीर्घ अरण्य (कदाचित् असुरक्षित विश्राम स्थलों के अभाव से निरन्तर पार करने से) आयास कर होते हैं[4]।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि पशुओं के वाहनों द्वारा दूर-दूर की स्थलीय यात्रायें की जाती थीं। मार्ग में स्थान-स्थान पर विश्राम स्थल होते थे। कदाचित् लोककथाओं में कही जाने वाली सरायों और धर्मशालाओं के अनुरूप ही यह विश्रामस्थल रहे होंगे। बड़े-बड़े जंगलों में विश्राम स्थलों की व्यवस्था नहीं होती थी, अथवा नहीं हो पाती थी। ऐसा निषाद, चौर या पापी द्वारा अरण्य में पाकर धन लूटकर भाग जाने के उद्धरण से प्रकट होता है[5]।

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.८
२ ,, २.६.८ शरभ, गवय, ऐ०ब्रा० ६.३०.६ सिंहो भूत्वा,
,, ७.३५.२ सालावृक, ऐ०ब्रा० ८.३७.२, ऐ०ब्रा० ७.३३.१ अजिनं, ७.३४.५ कृष्ण जिनं
३ ऐ०ब्रा० ६.२६.७ यथा श्रान्तोऽविमुच्यमान उत्कृत्येत... तद्यथा दीर्घाध्व उपविमोकं यायात्।
४ तत्र - दीर्घारण्यानि ह वै भवन्ति यत्र... शस्यते
५ ऐ०ब्रा० ८.३७.७

(भारवहन)
स्थलीय यातायात में-- स्थलीय मार्गों से अश्व,अश्वतर आदि पशुओं द्वारा व्यापार किया जाता था । ऐ०ब्रा० में देविकाओं को प्रदान की जाने वाली हवि के प्रसंग में कहा गया है कि 'जिस प्रकार भार ढोने वाले अश्व और अश्वतर बोझा ले जाने पर (थककर) बैठ जाय, उसी प्रकार छन्द भी देवताओं के लिए हवि ले जाते हुए थक कर एक ओर बैठ जाते हैं[1]।' इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग में उल्लेख है कि 'सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करना ऐसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति दूसरे अश्व का प्रबन्ध किये बिना एक ही अश्व से मार्ग में यात्रा करे । जिस प्रकार एक अश्व से यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यात्रा करना संभव नहीं, उसी प्रकार सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करना फल देने वाला नहीं है[2]।' अश्व और अश्वतर काफी बलिष्ठ पशु माने जाते थे । बोझा काफी दूर तक ले जाने पर ही उनके थकने और थक कर बैठने की बात आती होगी ।

रथों एवं युद्धों में -- ऋ०ब्रा० काल में रथों में अश्व,अश्वतर,गर्दभ एवं बैलों का प्रयोग किया जाता था । देवताओं की एक दौड़ में विविध देवताओं द्वारा इनका प्रयोग किये जाने का उल्लेख है[3]। अश्वरथ का क्षात्रिय के आयुध के अन्तर्गत भी उल्लेख है[4]। इससे प्रतीत होता है कि युद्ध में अश्वरथों का प्रयोग होता था ।

यज्ञ में बलि एवं दान -- यज्ञ में बलि एवं दान देने के लिए अज, अवि,अश्व, गौ आदि का उल्लेख है । राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत उल्लेख है कि 'भरत दौष्यन्ति ने ७८ अश्वमेध यज्ञ गंगा के किनारे और ५५ अश्वमेध यज्ञ यमुना के किनारे किए, १३३ घोड़ों को गंगा यमुना के किनारे बांधा[5]।' विरोचन के पुत्र वैरोचन ने १०८८ सफेद घोड़ों को पुरोहित को दान कर दिया[6]। उदमय राजा ने यज्ञ

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१५.३ यथाऽश्वो वाऽश्वतरो वोहिवांस्तिष्ठेदेवं....
२ ,, ५.२५.५ यथा ह वाऽस्थूरिणैकेन यायादकृत्वाऽन्यदुपयोजनाय... ।
३ ,, ४.१७.३ अश्वतरी रथेनाग्नि... गोभिरुषणः... अश्वरथेनेन्द्र... गर्दभरथेनाश्विना.... ।
४ ,, ७.३४.१
५ ,, ८.३६.६
६ ,, ८.३६.८

में `बल्शे` (शतकोटि के वृन्दों) में से प्रत्येक पुरोहित को दो दो हजार गायें दान में दीं । साचीगुण नामक स्थान में भरत दौष्यन्ति ने सहस्त्रों ब्राह्मणों को `बल्श` (शतकोटि) गायें विभाजित कर दीं[1]। ऋत्विजों को सैकड़ों-हजारों गायें देने का उल्लेख है[2]। दान को तथा यज्ञ में बलि की इतनी महती संख्या उस समय अधिकाधिक संख्या में पाले जाने वाले पशुओं को प्रदर्शित करता है ।

अन्य तथ्य -- `देवों की आजि` (दौड़ प्रतियोगिता)` के प्रसंग से कुछ अन्य तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है । कहा गया है कि अश्वतरी रथ से अग्नि ने दौड़ते समय अश्वतरियों को बार बार तेज दौड़ने के लिए प्रेरित किया, जिससे अग्नि द्वारा बार बार पुच्छ भाग उपस्पर्श करने से उनकी योनियां दग्ध हो गई और वे प्रजनन के अयोग्य हो गई । अत: वह सन्तान उत्पन्न नहीं करती हैं[2]। यह तथ्य देखने में भी आता है कि अश्वतरियां सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य होती है, जिस तथ्य को दैव-प्रभाव के रूप में समझा गया है ।

उषा अरुण वर्ण के बैलों वाले रथ पर दौड़ी । अत: उषा आने पर उषा का अरुण वर्ण चमकता है[3]। बैल की गति अश्व,अश्वतरी तथा गर्दभ आदि से कम होती है । इससे उषाकाल के धीरे-धीरे आगमन को भी प्रतीति होती है ।

इन्द्र अश्व के रथ में दौड़े । उल्लेख है, कि अश्वयुक्त रथ उच्च घोष से युक्त और क्षात्रिय का रूप है[4]। इससे स्पष्ट होता है कि क्षात्रियों द्वारा अश्व और अश्वरथ का अधिकांशतया प्रयोग किया जाता था,तथा अश्वरथ उच्चघोष से युक्त होकर जाता था ।

गर्दभ रथ से अश्विनी कुमार दौड़ जीते । दोनों अश्विनीकुमारों के रथ पर बैठकर दौड़ने से उनके भार के कारण तथा अति वेग से दौड़ने के

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३९.८ व ९
२ ,, ८.३९.८ शतं तुभ्यं शतं तुभ्यं.... सहस्त्रं तुभ्यं ....
३ ,, ४.१७.३
४ तत्रैव
५ तत्रैव

कारण गर्दभ गतवेग और गतभार हो गया, किन्तु उसके वीर्य को अश्विनी-कुमारों ने नहीं हरण किया। अतः गर्दभ 'द्विरेता', अर्थात् गर्दभ और अश्व दोनों में सन्तानोत्पादक हो गया। इसलिए गर्दभ को सभी पशुओं में वेगरहित और दुग्धरहित कहा गया है[1]। उक्त वर्णन गदहा तथा घोड़ी के योग से अश्वतर पैदा करने और साथ ही साथ उस काल के वैज्ञानिक स्तर के अनुरूप उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

चर्म प्रयोग -- ऐ०ब्रा० के अनुसार व्याघ्र चर्म को राजसूय यज्ञ में सिंहासन पर डाला जाता था[2]। शां०ब्रा० के अनुसार विश्वजित करने वाले को यज्ञ के पश्चात् बछड़े का चर्म, 'वत्सत्वची' धारण करने का विधान था[3]। ब्रह्मचर्याश्रम में तथा दीक्षित यजमान को मृगचर्म धारण करने का उल्लेख है[4]। इसके अतिरिक्त जूते चमड़े की रस्सी आदि के रूप में भी प्रयोग होता था। (आगे 'चर्मकला' शीर्षक के अन्तर्गत भी इस विषय में देखिए)

अन्य प्रयोग -- इनके अतिरिक्त पशुओं के दुग्ध, दधि, घृत तथा मांस आदि यज्ञों एवं भोज्य पदार्थों में भी प्रयुक्त होते थे (इनके विशद् वर्णन को 'संस्कृति' अध्याय के अन्तर्गत भोजन एवं यज्ञ सम्बन्धी उल्लेखों में देखिए)। अतः पशुओं का प्रयोग कृषि, यातायात, आवागमन, रथ शकटादि संचालन, दूर यात्रायें, यज्ञ में बलि एवं दान, तथा भोज्य पदार्थों के रूप में होता था।

उद्योग एवं शिल्प कला

शिल्पों के रूप तथा प्रकार आर्थिक दशा तथा सभ्यता के स्तर के तो बोधक होते ही हैं, ऐ०ब्रा० में उन्हें 'आत्म संस्कृति' के लिए भी आवश्यक

---

१ तत्रैव

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.१,२

३ शां०ब्रा० २५.१५

४ ऐ०ब्रा० ७.३३.१; ७.७७ ३४.५

माना है[1]। ऋ०ब्रा० में तो देवशिल्पों का उल्लेख है जो यज्ञ में बोले जाने वाले (नाभानेदिष्ट आदि द्वारा दृष्ट) मन्त्र समुच्चय होते थे। इनको संभवत: इसलिए शिल्प कहा गया है, क्योंकि ये स्तोत्र उसी प्रकार यज्ञ को शोभायुक्त करते थे, जिस प्रकार वास्तविक शिल्प को वस्तुएं अलंकरण की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। सायण ने शिल्प शब्द को 'आश्चर्यकर कर्म' कहा है[2]। आश्चर्यकर कर्म का तात्पर्य, मानव मस्तिष्क की उन नवीन-नवीन रचनात्मक कृतियों से प्रतीत होता है, जो आश्चर्य उत्पन्न करने वाली, आनन्द और सुख-सन्तोष प्रदान करने वाली तथा प्रयोग की वस्तुएं हों।

वस्त्र

वस्त्र मनुष्य की सभ्यता एवं संस्कृति के परिचायक होते हैं। ऋ०ब्रा० में इस सन्दर्भ में एक झांकी मिलती है, परन्तु यज्ञों के प्रसंगों का प्राधान्य होने के कारण काफी सीमित है।

वस्त्र निर्माण की सामग्री -- ऋ०ब्रा० में 'ऊर्णावन्तं परिधयो....ऊर्णास्तुका:', 'ऊर्णा इव' आदि शब्दों के प्रयोग से ऊन का प्रयोग तो स्पष्ट ही है[3]। दीक्षित यजमान को 'कृष्णाजिन' से आच्छादित करने तथा कृष्णचर्म को धारण करने का उल्लेख है[4]। अत: मृगचर्म को भी वस्त्र के रूप में धारण करने की प्रतीति होती है। ऋ० ब्रा० में सूती तथा रेशमी वस्त्रों के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इनके बाद के शत०ब्रा०(५.३.५.२०) में यज्ञीय परिधान में एक रेशमी परिधान (तार्प्य), बिना रंगा हुआ ऊनी वस्त्र, तथा एक चोगा एवं पगड़ी का उल्लेख है[5]। किन्तु 'वास:' तथा 'सुवासा' आदि शब्द ऋ०ब्रा० में आये हैं। शां०ब्रा० में तो

---

१ ऐ०ब्रा० ६.३०.१

२ ,, (क) ६.३०.१

३ ,, १.५.२ ऊर्णावन्तं, ऊर्णास्तुका:,
शां०ब्रा० १.१.३ १६.३ ऊर्णा वा इव

४ ऐ०ब्रा० कृष्णाजिन, ऐ०ब्रा० ७.३४.५ यत्कृष्णाजिनम्... १.१.३

५ वै० इ०हि० भाग २, पृ० ३२७

व्रत में आर्द्र वस्त्र, पहिनने को बताया गया है[१]। युवकों द्वारा 'सुवास:' पहिनने की चर्चा है,[२] और यजमान को वस्त्रों द्वारा आच्छादित करने का प्रसंग है[३]। इन तथ्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सूती तथा रेशमी वस्त्रों का प्रयोग भी होता होगा। चमड़े तथा ऊनी कपड़े का आर्द्र रूप में धारण करना अनुचित सा प्रतीत होता है। फिर, सिन्धु घाटी सभ्यता में सूती कपड़े के प्रयोग का अनुमान लगाया ही जाता है। साथ ही साथ, कसीदागीरी (पेश:) का सांकेतिक प्रसंग ऐ०ब्रा० में मिलता है[४]। अत: यह निष्कर्ष निकालना, कि सूती ऊनी तथा रेशमी कपड़ों का प्रचलन था, अनुचित प्रतीत नहीं होता।

वेश -- वेश में क्या-क्या वस्त्र पहने जाते थे, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख तो दोनों ब्रा० में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु 'वास:' 'सुवास:' 'परिदधीत', परिदधाति' 'परिधयो' आदि शब्द वेश में धारण किये जाने वाले पूरे वस्त्रों को प्रकट करते हैं,[५] जिनको यज्ञ के समय पहनने का विधान होगा। ब्रा० के के आधार पर स्त्री पुरुषों की अलग-अलग वेशभूषा के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

शिर पर पहनने वाले वस्त्र को 'उष्णीष' कहा गया है, जो पगड़ी भी हो सकती है, और टोपी भी। ब्रा० में उष्णीष से आँखें ढकने के लिए कहा गया है[६]। इससे उष्णीष शब्द से पगड़ी ही प्रतीत होती है, क्योंकि टोपी से यह सामान्यतया सम्भव नहीं है।

कसीदाकारी -- ब्रा० में आये हुए 'स्यूत' 'स्यूम' 'सूच्या' शब्द वस्त्रों को उचित वेश के अनुसार सिलकर धारण करने को प्रदर्शित करते हैं[७]। शां०ब्रा०में

---

१ शां०ब्रा० ६.२ व्रतमार्द्रमेव वास: परिदधीत....।
२ ऐ०ब्रा० २.६.२ एवं शां०ब्रा० १०.२ युवा सुवासा: ... परिदधाति।
३ ,, १.१.३
४ ,, ३.११.१० पेश: कुर्यात्।
५ शां०ब्रा० ६.२; १०.२, ऐ०ब्रा० २.६.२; १.५.२
६ ऐ०ब्रा० ६.२६.१ अस्यौष्णीषेणादयांवपिनह्याम ... ।
शां०ब्रा० २६.१ स वा उष्णीष्यपि नह्याद्योऽभिष्टुष्टाव
७ ऐ०ब्रा० ३.१२.७ स्यूम ... तथ्या सूच्या वास: ...
शां०ब्रा०१.५ पुनरुत्स्यूतो

आये हुए `अनुप्रोत`[1] शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि मोती, सितारे आदि जैसी चीज़ों को पिरोकर अलंकरण करने की प्रथा भी सुविकसित थी । `स्यूत` `प्रोत` शब्द आजकल प्रयुक्त `सीने-पिरोने` शब्द के समान सिलने, काढ़ने और अलंकरण करने के द्योतक प्रतीत होते हैं ।

वस्त्रों पर `कसीदाकारी` भी की जाती थी । ऐ० ब्रा० में `पेशा` `पेश:` , `पेशसा` आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है[2] । सायण ने पेश: शब्द से अलंकरण का अर्थ निकाला है, और उसे दूसरे रंग के धागों की बनी कढ़ाई कहा है[3] । ऐ०ब्रा० में निविदों को उक्थों का `पेश:` कहा गया है[4] । उल्लेख है कि प्रात: सवन में उक्थों में पहले निविद कहा जाता है । निविदों का पूर्वकथन ऐसा ही है, जैसे बुनने के प्रारम्भ में ही कसीदा (पेश:) करे । माध्यन्दिन में निविदों को जो मध्य में कहा जाता है, वह वस्त्र के मध्य में अलंकरण (पेश:) के समान है । तृतीय सवन में निविदों का अन्त में पठन वस्त्र के अन्त में अलंकरण (पेश:) करने के समान है[5] । इस उद्धरण से विदित भी होता है कि दूसरे रंगों से वस्त्रों में अलंकरण वस्त्र की बुनाई के साथ आरम्भ में, मध्य में, अन्त में अथवा सम्पूर्ण वस्त्र बन जाने पर अन्त में भी बनाया जाता था ।

पुराने वस्त्रों और पुराने रथ आदि को सिलकर ठीक करने का भी उल्लेख है । ऐ०ब्रा० में धाय्या की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जैसे सुई से वस्त्र को सिलकर ठीक करे, उसी प्रकार यह धाय्या यज्ञ के छिद्र को (कमी को) ठीक करती है[6] । शां०ब्रा० में पुराने रथ को और उसके पुराने हुए वस्त्र को पुन: सिलकर ठीक करके दक्षिणा में देने का उल्लेख है[7] । इस उद्धरणों से स्पष्ट है कि

---

१ शां०ब्रा० १.५ अनुप्रोता भवन्ति
२ ऐ०ब्रा० ३.११.१०
३ ,, (क) ३.११.१०
४ ,, ३.११.१० पेशा वा एत उक्थानां यन्निविद:
५ ,, ३.११.१० पेशा वा एत ... प्रवयत: पेश: कुर्यात् यथैव मध्यत: पेश: कुर्यात् ... यथैवाव प्रच्छनत: पेश: कुर्यात् ।
६ ,, ३.१२.७ तद्यथा सूच्या वास: संदधदियादेवमेव ... छिद्रं संदधद् ... ।
७ शां०ब्रा० १.५ पुनरुत्स्यूतो जरत्संव्याय पुन: संस्कृत: कद्रथ:

वस्त्र ठीक प्रकार सिले जाते थे, उन्हें विविध रंगविरंगे अलंकरण द्वारा आकर्षक बनाया जाता था ।

खिलौने

कोई दो मत नहीं हो सकते हैं कि लोक-संस्कृति शिल्पों में अभिव्यंजित होता है । ऐ०ब्रा० में भी देवशिल्पों के प्रसंग में शिल्पों का उल्लेख मिलता है[1] । ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि इस संसार में देवशिल्पों की अनुकृति ही मानव शिल्प हैं, जैसे हस्ती,कंस,वास,हिरण्य,अश्वतरी रथ इत्यादि[2] । इस उद्धरण में 'हस्ती' के खिलौने का उल्लेख है । हाथी के खिलौने के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य पशु-पक्षियों की आकृति के भी खिलौने बनाये जाते होंगे । हाथी का खिलौने के रूप में विशेष उल्लेख से ऐसा भी प्रतीत होता है कि हाथी कुछ बड़ी और विशिष्ट आकृति का अथवा अधिक मूल्यवान् होने से खिलौने के रूप में इसकी अनुकृति की चर्चा विशेष रूप से हुई है ।

अश्वतरी रथ के उल्लेख से रथ-शकट आदि के खिलौने बनाये जाने का भी अनुमान होता है । यहां अश्वतरी रथ के विशेष उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि जनसामान्य के आवागमन में अधिकांशतया अश्वतरी रथ का प्रयोग ही होता होगा । इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है,क्योंकि खच्चर बोझा ढोने अथवा खींचने में घोड़े से अधिक समर्थ होता है । इन उद्धरणों से यह भी प्रकट होता है कि मानव जीवन में प्रयोग में आने वाले पशु,पक्षी,वाहन तथा अन्य प्रयोज्य वस्तुओं के खिलौने भी बनाये जाते होंगे ।

यह खिलौने किस वस्तु से बनाये जाते थे, इसका उल्लेख नहीं है। धातुओं,मिट्टी अथवा लकड़ी किसी के भी हो सकते थे । सोना,चांदी,तांबा, कांसा,लोहा आदि धातुओं का प्रयोग इस काल में मिलता है(देखिए आगे धातु विज्ञान शिल्प)। लकड़ी के रथ,शकट,और नावों का उल्लेख है (आगे रथ,शकट एवं नौका निर्माण कला देखिए) ।

---

१ ऐ०ब्रा० ६.३०.१, शां०ब्रा० २९.५, ३०.३-५

२ ,, ६.३०.१ देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानाम अनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते हस्ती कंसो वासो हिरण्यमश्वतरीरथः शिल्पम् ।

रथ, शकट निर्माण कला

ऐ०ब्रा० में अश्व, अश्वतर, गर्दभ, बैल के रथों एवं शकटों का उल्लेख है[१]। स्थलीय यातायात इन्हीं के द्वारा होता था। विविध आकार, प्रकार, बल एवं गति के पशुओं के अनुरूप रथ भी भिन्न भिन्न आकार-प्रकार एवं भार के होते होंगे ही, ताकि पशु अपने-अपने बल परिमाण के अनुसार खींचने में समर्थ हो सकें। इन सब के भिन्न-भिन्न प्रकार के निर्माण के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता, यद्यपि ऐ०ब्रा० में 'तदा नू रथं सुवृतं विद्मना', 'रथ्यं' आदि शब्दों से तक्षण कला के विषय में स्पष्ट होता है[२]। इससे ज्ञात होता है कि तक्षण कौशल से बढ़ई लोग सुन्दर रथ आदि तैयार करते होंगे।

नौका निर्माण कला

ऐ०ब्रा० में नौकाओं के अनेक प्रसंग हैं। जलमार्ग से गमनागमन तथा व्यापार के लिए नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। सोमानयन के प्रसंग में उल्लेख है कि यज्ञ रूपी नौका में आरूढ़ होकर विश्व के दुरितों को पार करें[३]। इस नौका को सुतर्मा कहा है[४]। वेद की ऋचाओं तथा बृहद् एवं रथन्तर सामों को भली प्रकार पार करने वाली 'संपारिण्य:' नावें कहा है[५]। 'द्वादशाह' तथा 'संवत्सर' यज्ञों को समुद्र पार करने के समान कहा गया है[६]। इस प्रसंग में त्रिष्टुभ छन्द की 'सैरावती' नौका से तुलना की गई है तथा अन्य छन्दों को त्रिष्टुभ से इस सम्बन्ध में कम शक्तिशाली बताया गया है[७]। इससे ज्ञात होता है कि सैरावती समुद्र पर चलने वाली तथा सुदृढ़ (वीर्यवन्तम्) नौका होती

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१७.३; ७.३२.११ अनो वा रथो वा
२ ,, ४.२०.४, शां०ब्रा० २०.४; २२.२
३ ,, १.३.२ यया ऽतिविश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधिनावं रुहेमेति यज्ञो वै सुतर्मा नौ:।
४ तत्रैव
५ ऐ०ब्रा० ६.२७.३ ता वा एता: स्वर्गस्य लोकस्य नाव: संपारिण्य:।
,, ४.१७.७ बृहद्रथन्तरे साम्नी .... यज्ञस्य नावौ संपारिण्यौ
६ ,, ६.२९.५ तद्यथा समुद्रं प्रप्लवेरन्नेवं .... ये संवत्सरं वा द्वादशाहं वाऽऽसते।
७ ,, ६.२९.५ तद्यथा सैरावतीं नावं पारंकामा: समारोहेयुरेवमेतास्त्रिष्टुभ: .... वीर्यवत्तमं हि।

होगी । 'ईरा' का अर्थ अन्न है । 'ऐरावती' का तात्पर्य अन्नपूर्ण नौका है । ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र की कई-कई दिनों की यात्रा की संभावना के कारण नावों में भोजन तथा विश्राम आदि की व्यवस्था भी होती थी । यह भी हो सकता है कि समुद्र या किसी बड़ी जलराशि को पार करके अन्न के व्यापार के लिए भी इन्हें प्रयोग में लाया जाता होगा ।

शुन:शेप आख्यान में पुत्र को 'इरावती अतितारिणी' नौका कहा गया है[1] । 'ईरावती' शब्द अन्नपूर्ण (नौका) का ही वाचक है । 'अतितारिणी' शब्द से ऐसा प्रकट होता है कि समुद्र में कई प्रकार की नौकाएं चलाई जाती होंगी, जो गति, आकार एवं प्रयोग आदि की दृष्टि से विविध प्रकार की होती होंगी । इनमें यात्राओं की दूरी के अनुसार सुविधाओं और अन्न की व्यवस्था की जाती होगी । प्रकट होता है कि 'अतितारिणी' नौका आत्यन्तिक रूप से पार कर देने वाली अर्थात् सामुद्रिक यात्रा की कठिनाइयों से निश्चित रूप से पार करा देने योग्य सुदृढ़ नौका होती होगी। समुद्र को न क्षीण होने वाला कहा गया है[2], और वाणी से इसकी तुलना की गई है[3] । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में आर्य समुद्र की विशालता से विज्ञ थे, और यह विज्ञता उन्होंने इसके ऊपर नौकारोहण करके प्राप्त की होगी ।

उपर्युक्त उद्धरणों से 'सुतर्मा' 'संपारिणी', 'ऐरावती' 'इरावती अतितारिणी' आदि विविध नौकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है । इनके बनाने की सुव्यवस्था का उल्लेख न होने पर भी अप्रत्यक्षरूप से इस कला के समुचित विकास की प्रतीति होती है । इनसे जलीय आवागमन और यातायात का व्यवस्थितरूप से पाया जाना भी प्रकट होता है ।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ स इरावत्यतितारिणी

२ ,, ५.२३.१ न समुद्रः क्षीयते ।

३ तत्रैव -- वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते ।

धातुविज्ञान तथा शिल्प

ऐ०ब्रा० में उपलब्ध सूचना के आधार पर कह सकते हैं कि आर्यों को धातुओं तथा मिश्रधातुओं का ज्ञान था । सोने, चांदी तथा तांबा का तो बहुत पहले से ही मानव को ज्ञान हो गया था । इस युग में लोहे तथा इस्पात दोनों की ही जानकारी प्रतीत होती है । कांसे का भी अनेकरूप में प्रयोग होता था । ऐ०ब्रा० में स्वर्ण, रजत तथा लौह पुरियों की चर्चा आई है[1] । कहा गया है कि असुरों ने यह पुरियां बनाईं, जिन्हें देवों ने जीता[2] । इसका प्रतीकात्मक अर्थ जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि इन धातुओं का समुचित व्यावहारिक उपयोग था और इनकी प्राप्ति की अधिकाधिक अपेक्षा की जाती थी ।

स्वर्ण -- यज्ञों में स्वर्ण मुद्राओं के दिए जाने का उल्लेख है । 'सहस्त्रं हिरण्यं'[3] शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसे सायण ने सहस्त्र निष्क मुद्राओं का अर्थ किया है[4] । मुद्रा के लिए निष्क शब्द का प्रयोग बाद के साहित्य में तो स्पष्ट है, किन्तु ऐ०ब्रा० में तो प्रासंगिक अर्थ ही लगाया जा सकता है । कहा गया है कि 'निष्ककण्ठ्य'[5] दासियां वैरोचन अंग ने पुरोहित को दी । यहां पर निष्क का स्पष्ट अर्थ कण्ठाभरण ही लगाया जा सकता है । हो सकता है यह आभूषण सोने की मुद्राओं अथवा ऐसे टुकड़ों के बने हों, जिन्हें मुद्रा रूप में प्रयोग किया जाता हो । जो भी हो स्वर्ण मुद्राओं के प्रयोग के लिए प्रमाण मिलते हैं[6] । हाथियों को स्वर्णाभूषणों से सजाते थे । स्वर्ण के आसन 'हिरण्यकशिपु' पर

---

१ ऐ०ब्रा० १.४.६ | अयस्मयीम्... रजताम् ... हरिणीं
  शां०ब्रा० ८.८ |
२ ऐ०ब्रा० १.४.६ असुरा इमानेव लोकान् पुरोऽकुर्वत ।
  ,, १.४.८ एताभि देवा पुरो भिन्दन्त
  शां०ब्रा० ८.८ असुरा एषु लोकेषु पुरोऽकुर्वत... ता वै तिस्त्रो देवता यजति।
३ ऐ०ब्रा० ८.३९.६ अभिषेक्त्रे ब्राह्मणाय हिरण्यं... सहस्त्रं दद्यात् ।
४ ,, (क) ८.३९.६
५ ,, ८.३९.८ देशाद्देशात्... निष्ककण्ठ्य: ।
६ ,, ८.३९.९ हिरण्येन परिवृतान.... मृगान् (गजान)

बैठकर शुनःशेप की कथा कहने और सुनने के बारे में भी कहा गया है[१]। स्वर्ण की 'यश' से तुलना की गई है। यह उसकी मूल्यवत्ता का परिचायक है। आदित्य के प्रकाश को स्वर्ण के समान भास्वर कहा गया है। आदित्य के अस्त होने पर स्वर्ण को, जो कि सूर्य के समान कान्तिमान कहा गया है, देखते हुए अग्नि के उद्धृत करने का उल्लेख है[४२]।

रजत -- ऐ०ब्रा० में शुनःशेप की कथा को सुनाने वाले को श्वेतरथ प्रदान करने को बताया गया है[४३]। सायण ने श्वेत को रजत बताया है[४४]। इस प्रकार की दाक्षिणा कहां तक सम्भव होगी, इसपर विचार किए बिना, यह तो ठीक ही प्रतीत होता है कि रजत का समुचित प्रयोग था, और चांदी के रथ दिये जाने की महत्वाकांक्षा तो की ही जा सकती थी, उस दशा में जब कि स्वर्ण आसन पर बैठकर यह कथा सुनने और सुनाने का विधान था। रात्रि में चन्द्र, तारादि की रजत से उपमा दी गई है[४५]।

अयस -- क्षत्रियों के आयुधों के अन्तर्गत इषु, संनाह, खड्ग आदि का उल्लेख है, यह सब लौह निर्मित होते थे (राजनैतिक अध्याय ५ में 'शस्त्रास्त्र' देखिए)। ऐ०ब्रा० में अयस की पुरी का उल्लेख है[६]। शां०आर० में अश्मा, अयस, लौह, रजत, स्वर्ण आदि धातुओं का यज्ञ के छन्दों के गुणों के स्पष्टीकरण के प्रसंगों में उल्लेख है[७]। अयस और लौह यहां अलग-अलग उल्लिखित हैं। लौह का आशय कच्चा (pig) तथा पिटवा (wrought) लोहा हो सकता है। पिटवां लौहे को इस्पात में बदलकर भाला, तलवार आदि कड़ी धार वाले आयुध बनाये जा सकते हैं। इसे सम्भवतः अयस् कहा गया है।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.६ हिरण्यकशिपावासीन आचष्टे हिरण्यकशिपावासीन प्रतिगृणाति

२ ,, ७.३२.१२ हिरण्यं पुरस्कृत्य ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यं ज्योतिः शुक्रमसौ (आदित्यः) तज्ज्योतिः शुक्रं पश्यन्...।

३ ,, ७.३३.६ श्वेतश्वाश्वतरी रथी होतुः।

४ ,, (क) ७.३३.६

५ ,, ७.३२.११

६ ,, १.४.६, शां०ब्रा० ८.८

७ शां०आर० ११.७ अश्मा जागतमयस्त्रैष्टुभं लौहमौष्णिहं सीसं काकुभं रजतं स्वाराज्यं सुवर्णं गायत्रम्...।

ताम्र तथा कांस्य -- यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र, ताम्र तथा कांस्य के निर्मित होते थे। राजसूय यज्ञ में कांस्य के सुरापात्र का उल्लेख है[1]। शिल्पों के अन्तर्गत उल्लिखित 'कंस' शब्द से सायण ने दर्पणादि अर्थ किया है[2]। शीशे के दर्पण का आविष्कार अर्वाचीन है। उस समय धातु निर्मित दर्पण का ही प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है। ताम्रयुगीय कुल्ली सभ्यता के मही नामक स्थान से प्राप्त पुरातन अवशेषों में तांबे का बना दर्पण पाया गया है[3]।(शीशे के लिए प्रयुक्त कंच और कांच शब्द कदाचित् लो दर्पणवाची 'कंस' और 'कांस्य' शब्द का परिवर्तित रूप हो सकता है। स का च अथवा च का स भाषा के इस विपर्यय के उदाहरण अब भी दृष्टिगत होते हैं। असम प्रदेश में च का स उच्चारण किया जाता है, गोपालचन्द्र नाम गोपालसन्द्र कहा जाता है।)

सीसा या त्रपु -- सीसा या त्रपु का उल्लेख ऋ० तथा ऐ०ब्रा० में तो दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु यजुर्वेद[4], अथर्ववेद[5] तथा शां०आर०[6] में मिलता है। कांस्य के स्पष्ट उल्लेख से भी यह कहा जा सकता है कि 'सीसा' की जानकारी थी, क्योंकि तांबे में सीसा अथवा रांगा के मिश्रण से ही कांसा बनता है।

चर्मकला

ऐ०ब्रा० में व्याहृतियों की प्रशंसा करते हुए लौकिक वस्तुओं से समता प्रदर्शित की गई है कि व्याहृतियां वेदों में उसी प्रकार जोड़ने वाली हैं, जिस प्रकार चमड़े या तांत से चर्म की वस्तुओं को या अन्य (रथ, शकट आदि) किन्हीं शिथिल हुई वस्तुओं को जोड़ा जाता है[7]।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.७ कंसेन, ८.३६.८ सुराकंसं (सुरयापूर्णं कांस्यपात्रम्)
२ ,, (क) ६.३०.१
३ सत्यकेतु विद्यालंकार: भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ०५८ (सरस्वती सदन मसूरी)
४ यजु०माध्य० १८.१३, काठ० १८.५, तैत्ति० ४.७.५.१
५ अथर्व० शौन० ११.३.८, पै० १६.५३.१३
६ शां०आर० ११.७, ११.८, सीसं
७ ऐ०ब्रा० ५.२५.७ यथा श्लेष्मणा चर्मण्यं वाऽन्यद्वा विश्लिष्टं संश्लेषयेदेवमेव...।

शां०ब्रा० में 'अम्युद्रष्टा' इष्टि की दक्षिणा में जूते देने का उल्लेख है[१]। सोमयज्ञ में प्रयुक्त उपकरणों और पात्रों में सोम रस को निकालने के लिए चर्म के बिछौने (अधिषवणं चर्म) का उल्लेख है[२]।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि चमड़ा, चमड़े की रस्सी तथा तांत तैयार करके उनसे वस्तुएं बनाई जाती थीं, और टूटी फूटी तथा विश्लिष्ट चीजें ठीक की जाती थीं। चमड़ा बिछाने, बजाने, सोमरस को निकालने आदि के कार्यों में भी लाया जाता था (इसी अध्याय में 'पशु' शीर्षक के अन्तर्गत भी देखिए)।

रज्जुग्रन्थन एवं माला निर्माण

रस्सी को बटना, बार-बार बटकर मोटी और मजबूत बनाना, बटकर पूर्ण होने पर ग्रन्थि लगाना, जिससे रस्सी न खुले, इत्यादि से रज्जुग्रन्थन कला की चर्चा मिलती है[३]। रराटी (दर्भमाला) का भी उल्लेख है[४]।

अन्य ललित कलायें

शां०ब्रा० में शिल्पों के अन्तर्गत नृत्य, गीत, तथा वादन का उल्लेख किया गया है[५]। इनमें प्रयुक्त होने वाले वाद्य, नृत्य में घुंघरू तथा प्रसाधन के समान एवं अन्य प्रयोज्य वस्तुओं का निर्माण शिल्प कला से सम्बन्धित है। ऋ० में नाड़ी[६] (वाद्यविशेष-वेणु), बाण[७], (विशेष वाद्य), कर्करी[८] (विशेष वाद्य), दुन्दुभि[९]

---

१ शां०ब्रा० ४.३ दण्डोपानहं दक्षिणा

२ ऐ०ब्रा० ७.३५.६

३ ,, ५.२२.१० तद्यथा पुनराग्रन्थं पुनर्निग्रन्थमन्तं बध्नीयात्।

४ ,, १.५.३ विश्वमिव हि रूपं रराट्याः
शां०ब्रा० ६.४, १८.४

५ ,, २६.५ त्रिवृत् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितम्।

६ ऋ० १०.१३५.७ इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः

७ ऋ० १०.३२.४ बाणस्य सप्तधातुरिज्जनः

८ ऋ० २.४३.३ वदसि कर्करि यथा

९ ऋ० १.२८.५ जायतामिव दुन्दुभिः

आदि वाद्यों के नाम और प्रसंग आते हैं । ऋ०ब्रा० में कदाचित् प्रसंगाभाव से वाद्यों के नामों का उल्लेख नहीं है । यद्यपि ऋ० के पूर्व प्रचलित वाद्यों का प्रयोग होता ही होगा । ऋ०ब्रा० में नृत्य एवं गायन का उल्लेख अनेक बार हुआ है[१]।

विनिमय

व्यापार में वस्तुओं के आदान-प्रदान तथा व्यावहारिक जीवन में आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है, जिससे वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण हो सके, और वस्तुओं को उसके बदले आदान-प्रदान किया जा सके ।

ऋ०ब्रा० काल में व्यापार एवं लेन-देन में विनिमय का माध्यम अधिकांशतया पशु दृष्टिगत होते हैं । पशुओं में भी गायें विशेषकर माध्यम थीं[२]। शुनःशेप को गायों के बदले बेचने, यूप से बांधने और वध करने के लिए भी तैयार होने का उल्लेख है[३]। स्त्रियों को भी बदले में दिया जा सकता था[४]। बछिया से सोम को क्रय किया जाता था[५]। शां०ब्रा० में गाय, चन्द्र, वस्त्र और छाग से सोम को क्रय करने का उल्लेख है[६]। इनमें चन्द्र शब्द से रजत अर्थात् चांदी या चांदी के सिक्के कहा जा सकता है, जैसा कि ऐ०ब्रा० में चन्द्र तारकों को रजत कहा गया है[७]। चन्द्र शब्द स्वर्ण का द्योतक भी बताया जाता है[८]। लाल वर्ण का एक प्रकार का मोती तथा स्वर्ण के समान चमकीले पदार्थ के रूप में भी चन्द्र का स्पष्टीकरण मिला है[९]। स्वर्ण के समान कान्तिमान पदार्थ रजत भी हो सकता है जो श्वेत चमक के कारण श्वेत या चन्द्र भी कह दिया जाता था[१०]।

---

१ ऐ०ब्रा० २.७.७; ५.२२.१०; ५.२४.१; ५.२५.५, ७; ८.३६.७, ८.६.७;
शां०ब्रा० २२.४, ५; २३.६, ७, ८; २६.१५, १६, १७; १२.५; १६.३; २७.६

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.३, ४

३ तत्र - शतं दद्‌मो स तमादाय ... अपरं शतं ... अपरं शतं

४ ऐ०ब्रा० १.५.१ मयैव स्त्रिया भूतयां पणध्वम्

५ तत्र - तांमूं ... वत्सतरीमाजन्ति सोमक्रयणीं तया सोमं ... क्रीणन्ति ।

६ शां०ब्रा० १२.५ तं वै चतुर्भिः क्रीणाति गवा चन्द्रेण वस्त्रेण छागया ... ।

७ ऐ०ब्रा० ७.३२.१२ रजतमन्तर्धाय ... एतद् रात्रिरूपं (सायण-रात्रौ चन्द्रतारकादि)

८ वे०इ० हि०(द्वितीय भाग), पृष्ठ २८५

९ मोने० वि०कोष `चन्द्र` पृष्ठ ३८६

१० ऐ० ब्रा० ६.७.३२.१२; ७.३३.६

स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन था, जो कि निष्क कहलाती थी[१]। यज्ञ में सहस्र स्वर्ण को दक्षिणा दिये जाने का उल्लेख है, जिसे सायण ने सहस्र निष्क मुद्रा किया है[२]। 'हजार सोना' शब्द से मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता।

तौल-माप

ऋ०ब्रा० में यद्यपि नाप-जोख के उल्लेख अधिक नहीं मिलते, किन्तु जो भी मिलते हैं, उनके तथा ऋ० के उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर कुछ तथ्यों का पता चलता है।

तौल -- सोमरस को रखने के लिए 'द्रोण कलश'[३] का उल्लेख है। द्रोण एक प्रकार के कलश का नाम है जो विशेष नाप का बना होता था। इससे तरल पदार्थ तथा अनाज आदि दोनों प्रकार के पदार्थ नापे जाते थे। ऋ० में सोम को रखने के लिए 'खारी'[४] का भी प्रयोग किया जाता था, इसको खार भी कहा जाता था। यह द्रोण के समान नाप विशेष का पात्र होता था। मोनियर विलियम कोष में 'खारी' और 'द्रोण' दोनों के नाप निम्नलिखित दिये हैं--

१ खारी -- १८ द्रोण -- लगभग ३ बुशल अथवा $1\frac{1}{2}$ शूर्प या
या खार 3 द्रोण अथवा ४६ गोणी या ४०९६ पलस या ४ द्रोण

१ द्रोण -- ४ आढक -- १६ पुष्कल-- १२८ कंची--१०२४
मुष्टि -- या २०० पलस -- $\frac{1}{20}$ कुम्भ -- $\frac{1}{16}$
खारी -- ४ आढक या -- २ आढक-- $\frac{1}{2}$ शूर्प-
६४ सेर या -- ३२ सेर।

इन तौलों को देखने से ज्ञात होता है कि 'द्रोण' से 'खारी' नाप बड़ा होता था। द्रोण और खारी के अतिरिक्त इन नापों में मुष्टि, कंची, कुम्भ, पलस, आढक, शूर्प, पुष्कल, गोणी आदि नाप भी प्रचलित रहे होंगे। किन्तु प्रसंगाभाव से उल्लेख नहीं आया।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३९.८; ८.३९.६
२ ,, ८.३९.६ हिरण्यं सहस्रं (सहस्रनिष्क परिमितम्)
३ ,, ७.३५.६ द्रोणकलशं, ऐ०ब्रा० ७.३३.५ द्रोणकलशं
४ ऋ० ४.३२.१७ शतं सोमस्य खार्यः, ऋ०१० १०१.७ द्रोणाहावम्, ऋ०९.३.१; १५.७, २८.४; ३०.४; ६७.१४ द्रोण

<u>माप</u> -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि उदुम्बर का लकड़ी की बनी आसन्दी के `प्रादेश` मात्र पैर, और `अरत्नि` मात्र शीर्ष हों[1]। शां०ब्रा० में प्रादेश मात्र समिधा की लम्बाई का उल्लेख है[2]। ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में यूप की लम्बाई तथा कोणात्मक रचना आदि का उल्लेख है[3]। लम्बाई चौड़ाई नापने के लिए मनुष्य के शरीरावयवों `अंगुल`, `प्रादेश:`, `वितस्ति:` आदि और शरीर की लम्बाई `पुरुष:` तथा `शम्या`, `युगम्` आदि कुछ अन्य व्यवहार में आने वाली वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र में विभिन्न प्रकार की वेदिकाओं के निर्माण का उल्लेख है। उन वेदिकाओं के निर्माण हेतु उनके आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में शब्द परिचय के साथ अंगुलियों की माप की लम्बाई के अनुसार माप का निम्नलिखित उल्लेख है, जिनमें `प्रादेश` तथा `अरत्नि` का `सिंहासन` तथा `समिधा` के प्रसंग में ऐ०ब्रा० में उल्लेख है। चूंकि इन दोनों में १२ का गुणनखण्ड है, अत: नीचे दिये गये मापों में `शम्या` तथा `पुरुष` सम्भवत: माप की एक ही श्रेणी क्रम में हों। युज धातु से निर्मित `युज्जन्ति`, `युज्येयाताम्`, `अयुजि` `अयोजि` आदि अनेक शब्दों का तो ऐ०ब्रा० में अनेक बार प्रयोग हुआ है[4], किन्तु `युगम्` शब्द का उल्लेख नहीं आया है, और `शम्या` का भी प्रयोग नहीं हुआ है। इन शब्दों के प्रयोगाभाव से यह नहीं कहा जा सकता, कि `युग` और `शम्या` का माप अर्थ में प्रयोग नहीं होता था, बल्कि `जुआ`, `हल` आदि के प्रयोगाधिक्य से ही इनका माप हेतु भी प्रयोग में आना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इनमें `युग` शब्द बैलों के कन्धे पर रखे जाने वाले

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ औदुम्बर्यासन्दी तस्यै प्रादेशमात्रा: पादा: स्युररत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि।

२ शां०ब्रा० २.२ पालाशीं समिधम्... सा.. प्रादेशमात्री भवति ...द्व्यंगुलं समिधो.. अथ यदि ि: प्रदेशिन्या प्राश्नाति...

३ शां०ब्रा० १०.१ त्र्यरत्नि:...चतुररत्नि:...(इसी प्रकार द्वादशारत्नि तक कहा गया है इसके बाद) सप्तदशारत्नि: सोऽष्टाश्रि:
ऐ०ब्रा० २.६.१ यूप: सोऽष्टाश्रि: कर्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्र:

४ ,, २.७.८, शां०ब्रा० २२.१; २५.१५; २६.८

जुये (युग) के बराबर लम्बे माप के लिए प्रयुक्त हुआ है । 'युग' में बैलों की गर्दन को बीच में ही ठीक स्थान पर रखने के लिए लगी कीलों को 'शम्या' कहा जाता था । 'शम्या' शब्द उन्हीं कीलों के बीच की दूरी के माप का बोधक है ।

आपस्तम्ब शुल्वसूत्र में दिये गये माप

तिल:	-- १४ अणव:
अंगुल:	-- ३२ तिला: (कहीं-कहीं पर ३४ तिलों का उल्लेख है ।)
प्रादेश:	-- १२ अंगुला:
वितस्ति:	-- १३ अंगुला:
पदं	-- १५ अंगुला:
अरत्नि:	-- २४ अंगुला:
जानु:	-- ३२ अंगुला:
शम्या	-- ३६ अंगुला:
युगम्	-- ८६ अंगुला:
पुरुष:	-- १२० अंगुला:
अक्ष	-- ४०० अंगुला:

प्रबल घोड़े द्वारा एक दिन में तय की जाने वाली दूरी से मार्ग की दूरी का माप किया जाता था । ऐ०ब्रा० में स्वर्ग की दूरी का माप सहस्र आश्वीन बताया गया है । एक प्रबल घोड़ा एक दिन में जितने योजन मार्ग तय करे, उसको एक 'आश्वीन' कहा जाता था[१] ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत में ऋ०ब्रा० के समय में आर्यों की आर्थिक स्थिति सामान्यतया कृषि सभ्यता के अनुरूप थी, जिसमें चारण युग के प्रभाव स्पष्टत: विद्यमान थे । एक प्रकार से आर्य लोग मिश्रित कृषि में संलग्न थे, जिसमें अन्नोत्पादन तथा पशुपालन दोनों

१ ऐ०ब्रा० २.७.७ सहस्रमुनुच्य स्वर्गकामस्य सहस्राश्वीने वा इत: स्वर्गो लोक: ।

ही अन्योन्याश्रित होते हैं । शिल्प तथा व्यापार भी कृषि के आस पास केन्द्रित था । लोहा तथा उसके प्रयोग का स्पष्टप्रभाव था। ~~किन्तु~~ स्वर्ण तथा रजत श्रेष्ठ धातुओं के रूप में प्रयोग होते थे । वस्तु विनिमय का प्राधान्य था, किन्तु मुद्रा का चलन प्रारम्भ हो चुका था । लोग दूर-दूर आते जाते थे, समुद्रपर्यन्त तथा उसके पार भी कहीं-कहीं । नगरों से दूर ~~एक अभाव-मुक्त~~ आजकल के एक स्वावलम्बी ग्रामीण समाज से अधिक भिन्नावस्था नहीं दीख पड़ती है । यह सच है कि जनसंख्या तो कम होगी ही, किन्तु यज्ञ-युग अनुष्ठानों में अभाव नहीं खटकता है, वरन् प्राचुर्य की झलक है ।

पंचम अध्याय
-0-

राजनैतिक स्थिति

परिचय :

राजत्व का प्रारम्भ -- चुनाव द्वारा राजा बनाना, वंशानुगतता ।

राजपरिवार के सदस्य

राजत्व के स्वरूप एवं प्रकार -- साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, समन्तपर्यायी सार्वभौम ।

शासनतंत्र -- सभा और समिति, सभासद, सभा और समिति का प्रयोजन ।

शासनतंत्र में पुरोहित का स्थान-- सम्बन्ध, वंशानुगतता, राष्ट्ररक्षक, प्रसन्न और शान्ततनु पुरोहित, पंचमेनि, राजा को शपथ दिलाना, ब्रह्मपरिमर, पुरोहित का सेनापतिरूप, पुरोहित की विद्वता और योग्यता ।

बलि (कर) व्यवस्था

दण्डनीति

युद्धव्यवस्था -- सांनाहुक होना क्षत्रिय के लिये श्रेष्ठ, युद्ध के समय कर्मचारियों से विमर्श, युद्ध के समय सुरक्षा हेतु राजा के यहां परिवारों को रखना, राजा के लिये सुरक्षा दल, युद्ध में सेनापति, युद्ध के नियम, युद्ध में व्यूह रचना, युद्ध में विजय-प्राप्ति हेतु आभिचारिक कृत्य, नष्ट राज्य की पुन: प्राप्ति, विविध-प्रकार की विजय, युद्ध में पराजित होकर पीछे हटना ।

शस्त्रास्त्र -- धनुष व बाण, वज्र, अंकुश, परशु, दण्ड, असि, शास ।

राजत्व सम्बन्धी यज्ञ -- राजसूय, ऐन्द्रमहाभिषेक, वाजपेय, अश्वमेध ।

- 0 -

पंचम अध्याय

-0-

राजनैतिक स्थिति

वैदिककालीन राजनीति तथा शासन-व्यवस्था के अनेकानेक पक्षों का अध्ययन कुछ हुआ है, जैसे शासनतंत्र, राज्य संगठन, ग्रामीण शासन पद्धति, सैन्य व्यवस्था, न्याय प्रणाली आदि । ऋ०ब्रा० इनमें से कुछ ही पक्षों के बारे में सूचना प्रस्तुत करते हैं । यह स्वाभाविक है, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ अनुष्ठानों का वर्णन होता है, जिनमें राजनीति सम्बन्धी कतिपय प्रसंग ही आ सकते हैं । अधिकांश सामग्री ऐ०ब्रा० से प्राप्त होती है, जिसकी दो पंचिकायें (सातवीं तथा आठवीं) में राजसूय यज्ञ की चर्चा है । इसके विपरीत शां०ब्रा० में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है । राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त कुछ निष्कर्ष सोमयज्ञ के प्रसंगों से भी निकाले जा सकते हैं, जो ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० दोनों का ही प्रमुख विषय है । जिन विषयों के बारे में सामग्री मिलती है, वे मुख्यत: निम्नलिखित हैं:--

(१) राजत्व का प्रारम्भ, स्वरूप तथा प्रकार ।

(२) पुरोहित का राजनीति पर प्रभाव ।

(३) राजा के अधिकार तथा कर्तव्य ।

(४) युद्ध नीति तथा आयुध ।

राजत्व का प्रारम्भ

यद्यपि ऋ० में राजा के पद इत्यादि की समुचित चर्चा है, किन्तु उसकी उत्पत्ति के बारे में कोई सिद्धान्त नहीं मिलता । ऐ०ब्रा० में देवासुर संग्राम की आख्यायिका से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । कहा गया है कि जब असुर जीतने लगे, तब देवों को सूझा कि नेतृत्व के लिए उन्हें राजा चाहिए, अन्यथा वे हार जायेंगे । फलत: उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया और असुरों को

जाता[1]।

इसी प्रकार ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में उल्लेख है कि प्रजापति सहित देवों ने कहा, 'इन्द्र उनमें ओजस्वी, बलिष्ठ, सहिष्ठ सत्म और पारयिष्णुतम है, अतः इन्द्र को ही राजा बनायें[2]।' ऐसा विचार कर उन्होंने इन्द्र का अभिषेक किया।

परवर्ती साहित्य में भी इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजत्व के बारे में ऐ०ब्रा० कालीन मान्यता इस सीमा तक परिष्कृत हो चुकी थी कि बाद में भी उसका ज्यों-का-त्यों स्वीकृत स्वरूप उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, तैत्ति०ब्रा० में भी देवासुर संग्राम की आख्यायिका का कुछ परिवर्तित रूप दोहराया गया है। किन्तु यहाँ पर भी इन्द्र को राजा बनाने के लिए ऐ०ब्रा० में सोम को राजा बनाने वाले तर्क का ही सहारा लिया गया है। कहा गया है कि प्रजापति से देवों ने कहा कि राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है। अतः यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की[3]।

<u>चुनाव द्वारा राजा बनाना</u> -- उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि युद्ध में नेतृत्व की आवश्यकता राजत्व आरम्भ होने का कारण बना। 'युद्ध राजा का उत्पादक है', ऐसा अन्य विद्वानों का भी मत है[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि उपस्थित संघर्ष अथवा युद्ध के समय अपनों में से ओजस्वी, बलिष्ठ, सहिष्ठ, सत्म और पारयिष्णुतम को राजा चुन लिया जाता था, जो उसका संचालन करने में समर्थ होता था। इससे आधुनिक राजनीतिशास्त्र की बहुकथित धारणा की भी पुष्टि होती है कि बाहर के

---

१ ऐ०ब्रा० १.३.३ ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वन्।

२ ,, ८.३८.१ अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिंचामहै.... ।

३ तैत्ति०ब्रा० १.५.६.१

४ आर०के० मुकर्जी -- एन्शेंण्ट इण्डिया, पृ०५८
आर०सी० मजूमदार -- दि वैदिक एज भाग १ अध्याय १७ व २१
बेनीप्रसाद -- हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता (हिन्दी), पृ०९७

शत्रुओं से सुरक्षा राष्ट्र (स्टेट) का सबसे अधिक आवश्यक कर्म है । इसके बाद ही आन्तरिक शान्ति आदि का स्थान आता है ।

देवों में इन्द्र को क्षात्र(बल) सम्पन्न क्षात्रिय(राजा) कहा गया है[1]। सोम को भी ऐ०ब्रा० में राजा कहा गया है[2]। इन्द्र और सोम को राजा के पद पर चुने जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है । क्षात्रिय वर्ण को विराट् पुरुष की बाहुओं से उत्पन्न, क्षात्र से युक्त, युद्ध करने वाला, रक्षा करने वाला, राज्य करने वाला, राज्य में रहकर प्रतिष्ठित होने वाला कहा गया है[3]। (वर्ण-व्यवस्था अध्याय के अन्तर्गत 'क्षात्रिय' प्रसंग भी देखिए) । अत: यह भी कहा जा सकता है कि ओज,बल पराक्रम आदि से युक्त क्षात्रिय वर्ण के श्रेष्ठ व्यक्ति को युद्ध अथवा नेतृत्व की आवश्यकता पड़ने पर परिस्थिति संभालने के लिए अति प्रारम्भकाल से चुन लिये जाने का प्रचलन था ।

युद्ध और संघर्ष काल के अनन्तर भी 'जन' या 'विश' में नेतृत्व करने, शान्ति-सुव्यवस्था बनाये रखने, दण्ड धारण करने आदि के लिए भी राजा की आवश्यकता से राजसत्ता को स्थायित्व मिला । धीरे-धीरे यह पद वंशानुगत बन गया । ऐ०ब्रा० में 'राजकर्तार:' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है, जो राजसूय यज्ञ में राजा का राज्याभिषेक करने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है । कहा गया है कि सिंहासन पर आसीन इस अभिषिक्त राजा का 'राजकर्तार:' लोगों के द्वारा अभ्युत्क्रोशन(गुणकीर्तन) करना चाहिए । अभ्युत्क्रोशन के बिना राजा पराक्रम नहीं कर सकेगा । अत: हम 'राजकर्तार:' इस राजा का गुणकीर्तन

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३४.५ इन्द्रो वै देवतया क्षात्रियो भवति.... क्षात्रिय: सन्

२ ,, १.३.२ सोमे राजनि प्रोह्यमाणे.... यशो वै सोमो राजा...
सोमो राजा .... सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो .... विम्यति वै
सोमाद् राज्ञ:....

,, १.३.३ सोमं राजानमकुर्वन्.... सोमेन राज्ञा... ।

३ ,, ७.३५.५ क्षात्रियो राष्ट्रे वसन् भवति प्रतिष्ठित:....

,, ७.३३.२ यदा वै क्षात्रियो सांनाहुको भवति... ,ऐ०ब्रा०७.३४.१ ,
७.३४.४ क्षात्रप्रपंथे... क्षात्रप्रपन्नं, ऐ०ब्रा० ७.३५.८ आदित्य इव ह वै
श्रियां ... उग्रं हास्य राष्ट्रमव्यथ्यं भवति... ।

करें। ऐसा कहकर वे राजा का गुणकीर्तन करते हुए कहते हैं कि साम्राज्य के लिए सम्राट्, भौज्य के लिए भोज, स्वाराज्य के लिए स्वराट्, वैराज्य के लिए विराट्, पारमेष्ठ्य के लिए परमेष्ठी, राज्य का पिता राजा उत्पन्न हुआ है। इससे आगे राजा को क्षत्र अर्थात् बल, क्षत्रिय(राजा) अर्थात्संसार के प्राणियों का अधिपति, विशों का भोक्ता, शत्रुओं का हन्ता, ब्राह्मणों और धर्म का रक्षक उत्पन्न होने वाले के रूप में गुणगान किया गया है[1]।

ऐ०ब्रा० में प्रयुक्त `राजकर्तार:` शब्द से किन लोगों का तात्पर्य है, यह इस ग्रन्थ में स्पष्ट नहीं किया गया है। सायण ने `राजकर्तार:` शब्द से पिता, भ्राता आदि अर्थ किया है। राजसूय यज्ञ में राजा का अभिषेक करने वाले पुरोहित और यज्ञकर्ता ऋत्विजों का उल्लेख है। अत: `राजकर्तार:` लोगों में पिता, भ्राता, पुरोहित और ऋत्विज तो कहे ही जा सकते हैं। अन्य राजकीय कर्मचारी भी होते थे या नहीं, कहा नहीं जा सकता है। तै०ब्रा० में `राजकर्तार:` लोगों को `राजप्रदातार:` और `रत्निन:` भी कहा गया है। इन रत्नियों के घर राजा को विविध देवताओं को हवि प्रदान करनी होती थी, इनको `रत्निनाम् हवींषि` कहा है[2]। ऐसे रत्नियों का उल्लेख तै०ब्रा०, शत०ब्रा० आदि में भी आया है। इनमें निम्नलिखित रत्नियों का उल्लेख है[3]:-

(१) पुरोहित (२) राजन्य (३) सेनानी (४) महिषी (५) वावाता
(६) परिवृक्ति (७) ग्रामणी (८) सूत (९) क्षत्तृ (१०) संगृहीतृ
(११) भागदुघ (१२) अक्षावाप।

इससे यह प्रतीत होता है कि `राजकर्तार:` के समुदाय में वे व्यक्ति सम्मिलित थे, जो औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से किसी राजा

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३९.३ तमेतस्यामासन्द्यामासीनं राजकर्तारो ब्रुयुर्न वा अनाभ्युत्क्रुष्ट: क्षत्रियो वीर्यं कर्तुमर्हति... धर्मस्य गोप्ता जनीति...।

२ तै०ब्रा० १.७.३.१-८ रत्निनामेतानि हवींषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातार:।

३ तत्रैव।

को बनाये जाने के लिए सम्मति देते थे, और बाद में रत्नों का भेंट भी प्रदान करते थे। यह भी प्रतीत होता है कि राजा के चुनाव में भाग लेने वाले विशेष व्यक्ति होते थे। आरम्भ में कदाचित् सभी उपस्थित जनता भाग लेता होगा, जैसा कि स्वाभाविक भी है, परन्तु बाद में सामन्ती सत्ता के उदय के साथ यह अपना स्वत्व खो बैठी होगी।

<u>वंशानुगतता</u> -- इस काल तक वंशानुगत राजा होने की परम्परा भी बन गई थी, किन्तु ऐसी सुव्यवस्थित न हो पाई थी, कि वह सामान्यतया न तोड़ी जा सकती हो। इसके लिए कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्रथम, ऐ०ब्रा० में राज्य की पीढ़ी, तीन पीढ़ी (द्विपुरुषं, त्रिपुरुषं) अर्थात् पुत्र, पौत्र तक चलने का उल्लेख है[1]। यह परंपरा आगे और सुदृढ़ होती गई। फलतः शत०ब्रा० में दश पीढ़ियों के राज्य (दशपुरुषं राज्यं) का भी उल्लेख प्राप्त होता है[2]। द्वितीय, ऐ०ब्रा० में आये राजपितृ, राजभ्रातृ राजपुत्र शब्द भी वंशानुगत राज्य व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं[3]। तृतीय, सोम आनयन के प्रसंग में ऐ०ब्रा० में कहा गया है कि मनुष्य (साधारण) के भाई आदि भी मनुष्य साधारण होते हैं और राजा के साथ आने वाले भाई आदि भी राजजातीय होते हैं[4]। चतुर्थ, ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग में अनेक राजाओं का उनके पैतृक परम्परा के साथ उल्लेख है, जिससे उन राजाओं के वंश परम्परागत राज्य प्राप्त करने की प्रतीति होती है[5]।

उपर्युक्त प्रसंगों से प्रतीत होता है कि वंशानुगत राज्य और राजसत्ता की परम्परा इस काल तक चल पड़ी थी, यद्यपि राजा के चुने जाने की प्रणाली भी विद्यमान थी।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.३ द्विपुरुषं ... त्रिपुरुषं

२ शत०ब्रा० १२.९.३.३

३ ऐ०ब्रा० १.३.२ राजभ्रातरः, ८.३८.१; ८.३९.३ राजपितरं ७.३३.५ राजपुत्र

४ ,, १.३.२ सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य तैरेवैनं तत्सहागमपति

५ ,, ८.३९.७-९

राजपरिवार के सदस्य

उपर्युक्त 'चुनाव द्वारा राजा बनाना' तथा 'वंशानुगतता' के प्रसंगों के अन्तर्गत राजपरिवार के सदस्यों में 'राजपितृ', 'राजभ्रातृ', 'राजपुत्र' तथा 'द्विपुरुष', 'त्रिपुरुष' से पुत्र, पौत्र,प्रपौत्र का उल्लेख है । ऐ०ब्रा० के उल्लेख कि 'राजा के साथ आने वाले भाई आदि भी राज जातीय होते हैं'[१] से राजपरिवार के अन्य सदस्यों का होना भी प्रकट होता है । इनके अतिरिक्त राजा की कई पत्नियाँ होने का भी उल्लेख है । उत्तम जाति की 'महिषी', मध्यम जाति की 'वावाता', और अधम जाति की 'परिवृक्ति' कहलाती थी[२] । शची इन्द्र की प्रधान महिषी थी और प्रिय पत्नी प्रासहा थी[३] । वावाता को प्रासहा भी कहा जाता था[४] । कदाचित् सबसे प्रिय होने के कारण उसे ऐसा कहा जाता होगा,क्योंकि वह प्रसह्यपूर्वक सब कार्य कराने में समर्थ होती था,इसीलिए प्रासहा वावाता राजा और उसके अधिकारियों या जनता के मध्य प्रमुख स्थान रखती थी[५] । ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि एक बार देवताओं ने अपना मनोरथ इन्द्र से उसकी प्रिय पत्नी प्रासहा वावाता द्वारा कहलाया[६] । रत्नियों के घर हवि प्रदान करने के समय राजा को इन पत्नियों के घर भी देवताओं को हवि प्रदान करनी होती थी । अश्वमेध यज्ञ में भी अश्व के प्रति इन राजपत्नियों के वर्तक-विशेष बताये गये हैं[७] ।कई पीढ़ी तक चलने वाले राजपरिवार में अन्य सम्बन्धी सदस्य भी होते होंगे,किन्तु प्रसंगाभाव से अन्य उल्लेख नहीं है ।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.२.२
२ ,, (क) ३.१२.११
३ ,, ३.१२.११
४ तत्रैव
५ तत्रैव
६ तत्रैव
७ तत्रैव

राजत्व के स्वरूप एवं प्रकार

ऐ०ब्रा० में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में पुनराभिषेक[1] तथा ऐन्द्रमहाभिषेक[2] की चर्चा आई है। सोम याग की समाप्ति पर राजा का पुनराभिषेक किए जाने का विधान था, तत्पश्चात् ऐन्द्र महाभिषेक का अनुष्ठान भी क्षत्रियराजा के लिए अपेक्षित था। इन चर्चाओं के अन्तर्गत राज्यों के प्रकारों की ओर भी प्रासंगिक संकेत किया गया है। यह तथ्य किसी-न-किसी रूप में १५ स्थलों पर उल्लिखित है[3]। पुनराभिषेक के प्रसंग में सिंहासनारोहण के अवसर पर निम्नलिखित १०प्रकार के राज्यों की प्राप्ति हेतु कामना की गई है :-

(१) साम्राज्य (२) भौज्य (३) स्वाराज्य

(४) वैराज्य (५) पारमेष्ठ्य (६) राज्य

(७) माहाराज्य (८) आधिपत्य (९) स्वावश्य

(१०) आतिष्ठ ।

सायण ने अपनी टीका में इनको स्पष्ट करते समय दो विभागों में विभक्त किया है --(क) ऐहिक तथा (ख) आमुष्मिक। इनकी ओर मूलग्रन्थ में भी संकेत मिलता है[4]। ऐहिक कोटि में प्रथम चार तथा राज्य को सम्मिलित किया है तथा आमुष्मिक वर्ग में राज्य को तथा शेष ५ को रखा है। इस तरह ११ प्रकार बन जाते हैं, जिनमें राज्य दोनों में सम्मिलित है। इन १० वर्गों में ८ ही शासन तंत्र के रूप हो सकते हैं और अन्तिम दो (स्वावश्य तथा आतिष्ठ) राजा की शक्ति मात्र के परिचायक हैं। ऐसा अन्य स्थलों के वर्णन की समीक्षा करने से ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, एक दूसरे स्थल पर शपथ दिलाने के अवब अवसर पर राजा को केवल ८ प्रकार के राज्यों की शक्तियों को प्राप्त करने की कामना है, और साथ ही साथ अन्य राजोचित विशेष-

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.१
२ ,, ८.३८.१
३ ,, ८.३७.२; ८.३८.१, २,३; ८.३९.१,२,३,४,५
४ ,, ८.३७.२

गुणों को भी प्राप्त करने की अपेक्षा की गई है।[1] ये आठ राज्य निम्नलिखित हैं,[2]

(१) साम्राज्य (२) भौज्य (३) स्वाराज्य (४) वैराज्य

(५) राज्य (६) पारमेष्ठ्य (७) महाराज्य (८) आधिपत्य ।

राजा में अपेक्षित राजोचित गुण इस प्रकार हैं;[3]--

(१) प्रतिष्ठता (२) श्रेष्ठता (३) परमता (४) सार्वभौमता

(५) समुद्र पर्यन्त एकछत्र राजत्व (एकराट्) ।

इसी प्रकार कुछ अन्य स्थलों पर भी राजा की ऐश्वर्य सम्बन्धी विशेषताओं की ओर संकेत किये गये हैं।[4] इस सामग्री को देखने से निष्कर्ष निकलता है कि इस समय तक कुछ प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाओं के रूप निखर आये होंगे, जिनमें निम्नलिखित राजनैतिक व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है ।

साम्राज्य -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि पूर्व दिशा के राजाओं का साम्राज्य के लिए अभिषेक किया जाता है, और वह सम्राट् कहलाते हैं।[5] ऐ०ब्रा० में ऊपर दिए गए राजतन्त्र सम्बन्धी प्रत्ययों में सम्राट् का प्रथम उल्लेख है, जो अपेक्षाकृत उसके अधिक स्वत्व की ओर संकेत करता है । शत०ब्रा० में वाजपेय और राजसूय यज्ञों के सम्पादन के आधार पर सम्राट् को राजा की अपेक्षा उच्च कहा गया है ।[6] इससे भी इसकी पुष्टि होती है । "सम्यक् राजते" व्युत्पत्ति पूर्वक सम्राट् शब्द से भी यह स्पष्ट होता है । अत: साम्राज्य अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ और उच्च कहा जा सकता है । यह कहा जा सकता है कि सम्राट् के अधीन कई राजा हो सकते हैं । उपर्युक्त पूर्वदिशा में साम्राज्य के लिए अभिषेक के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में छोटे-छोटे राज्यों का संगठित रूप रहा होगा । यह भाग अधिक उपजाऊ तथा अधिक जनसंख्या वाला उस समय भी रहा होगा ही । फलत: आगे चलकर महाजनपद काल में तथा

---

१ ऐ० ब्रा० ८, ३६, १

२ तत्रैव

३ ऐ०ब्रा० ८, ३६, १; ८, ३८, २; ८, ३८, ३

४ ,, ८, ३६, १; ८, ३६, ३

५ ,, ८, ३८, ३

६ शत० ब्रा० ५, १, १, १३

उसके उपरान्त कौशाम्बी, कौशल तथा मगध आदि के साम्राज्य इसी तथ्य के सातत्य को बतलाते हैं ।

भौज्य -- ऐ०ब्रा० में भौज्य राज्य प्रणाली का क्षेत्र दक्षिण दिशा कहा गया है[१]। उपभोग अर्थ वाली भुजधातु से निष्पन्न भोज शब्द का तात्पर्य ऐश्वर्य सम्पन्न समृद्धि का उपभोग प्रतीत होता है । सायण ने भी अपनी टिप्पणी में इसी की पुष्टि की है[२]। भारत का दक्षिण भाग बाहरी आक्रमणों आदि से सदा सुरक्षित रहा है । अत: वहां के सात्वत(यदुवंशी)[३] राजा लोग अपने राज्यैश्वर्य को सुखशान्तिपूर्वक उपभोग करते रहे होंगे । कदाचित् इसी कारण वहां के राजाओं को भोज और वहां का राज्य भौज्य कहलाया होगा[४] । यह प्राचीन परम्परा पर्याप्त अर्वाचीन काल तक प्रचलित रही प्रतीत होती है । लौकिक कथाओं में आने वाले राजा भोज कदाचित् इसी प्राचीन परम्परा के राजाओं में से रहे होंगे । यही दन्त कथाएं बाद में राजा भोज प्रतिहार से जुड़ गई हों, ऐसी सम्भावना है ।

स्वाराज्य -- ऐ०ब्रा० में स्वाराज्य को पश्चिम दिशा में स्थित कहा गया है[५]। भारत का पश्चिमी क्षेत्र ऐसा है, जहां बाहरी लोग स्थल मार्ग से भारत में आते रहे, और आक्रमण आदि करते रहे । इतिहास इसका साक्षी है । यहां छोटी जनजातियां बस गई होंगी, जो शुद्ध रूप से भारत ईरानी शाखा की आर्य नहीं रही होंगी । इन्हें ऐ०ब्रा० में नीच्य तथा अपाच्य कहा गया है[६], जो पश्चिमी भाग में अपने छोटे-छोटे राज्य बनाकर स्वशासन करने लगी होंगी । सम्भवत: इनका शासन प्रबन्ध छोटे-छोटे गण राज्यों अथवा प्रजातंत्रों के रूप में चलता होगा । ऐसे गण राज्यों

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.३
२ ,,(क) ८.३७.२
३ ,, ८.३८.३ सत्वतां राजानो भोज्याय
४ तत्रैव- भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते भोजेत्येनान्...आचक्षते
५ ऐ०ब्रा० ८.३८.३ स्वाराज्यायाण...एतस्यां प्रतीच्यां दिशि
६ तत्रैव -- ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ।

का बाद के साहित्य में उल्लेख मिलता है, जैसे मद्र, शुद्रक, ... आदि । स्वाराज्य ऐसे शासन और स्वराट् ऐसे गण राज्य के चुने हुए नेता का द्योतक प्रतीत होता है ।

वैराज्य -- ऐ०ब्रा० में उत्तर दिशा में वैराज्यों की स्थिति बताई गई है[१]। यह क्षेत्र अनुमानतः बाहरी हिमालय, शिवालक और तराई प्रदेशों की ओर संकेत करता है, जिसे दो-आबा, कांगड़ा, कुल्लू, चौ क्षेत्र तथा दून प्रदेश के समकक्ष माना जा सकता है । ऐसे प्रदेश में छोटे-छोटे जनपदों का स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई बन जाना स्वाभाविक ही है । ऐसी इकाइयों का शासन जनसभाओं से मर्यादित कुछ कुलविशेष करते देखे गये हैं । यही बात विराट्[२] (वैराज्य का शासक) शब्द से स्पष्ट होता है । इन छोटे-छोटे राज्यों का शासन तंत्र विराट्(वि+ राट्) किसी कुलीन पुरुष विशेष के व्यक्तित्व के आस पास चलता होगा । हो सकता है कि वैराज्य कुलीन अल्पतंत्र (OLIGARCHY) का मिलता-जुलता रूप हो । महाभारत का विराट् राजा भी इसी क्षेत्र का बताया जाता है। आधुनिक नेपाल की सीमा में स्थित प्राचीन शाक्य राज्य भी बहुत कुछ इसी प्रकार शासित था । ऐ०ब्रा० में उत्तरकुरु तथा उत्तर-मद्र राज्यों की चर्चा हुई है[३], जिन्हें वैराज्य बताया गया है[४]। इनकी स्थिति हिमालय के पहाड़ी भागों में कही गई है[५]।

राज्य -- ऐ०ब्रा० में मध्यदेश में 'राज्य' की स्थिति बताई गई है[६]। मध्यदेश में कुरुपांचाल और वश उशीनरों का शासन कहा गया है[७]। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के राजा अपने राज्य में सामान्यतया निर्विघ्न रूप से शासन करते रहे होंगे, और प्राचीन शासन-व्यवस्था का रूप अनवच्छिन्न रूप से ऐ०ब्रा०काल तक चलता रहा होगा।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.३ वैराज्याय... एतस्यामुदीच्यां दिशि
२ तत्रैव विराटिति... एनान् आचक्षत
३ ऐ०ब्रा० ८.३८.३ जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा ।
४ तत्रैव इति वैराज्ययैव ते ऽभिषिच्यन्ते ।
५ तत्रैव -- परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तर कुरव उत्तरमद्रा ।
६ तत्रैव -- राज्याय.. एतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ।
७ तत्रैव -- ये के च कुरुपंचालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते ।

अत: मध्यदेश के ये शासक राजा ही कहलाते रहे और ध्रुव मध्य में प्रतिष्ठित उनका राज्य 'राज्य' कहलाता रहा[1]।

उपर्युक्त पांच प्रकार के राज्यों के बारे में ऐ०ब्रा० में क्षेत्र विशेषों की ओर संकेत किया गया है, जिसके विकासीय विभेद के लिए सामाजिक राजनैतिक और भौगोलिक कारण हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य राज्यों की चर्चा है,[2] जिनका किसी क्षेत्रविशेष से सम्बन्ध नहीं बताया गया। कुछ स्थलों पर उन्हें स्वर्गिक राज्य की संज्ञा दी गई है[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पांच प्रकार के राज्य लोकपरक हैं, इनके अतिरिक्त अधिभौतिकतापरक तीन अन्य राज्यों की कल्पना की गई है[4]। यह तीन आधिभौतिक अथवा स्वर्गिक राज्य इस प्रकार हैं :--

पारमेष्ठ्य -- परमेष्ठी शब्द प्रजापति के लिए प्रयुक्त हुआ है और पारमेष्ठ्य राज्य प्रजापति द्वारा शासित राज्य माना जा सकता है। इसका क्षेत्र ऊर्ध्व दिशा बतलाई गई है,[5] अर्थात् स्वर्ग की ओर संकेत है। इससे दो अर्थ निकलते हैं। प्रथम, अभिषिक्त राजा, यदि कार्य के द्वारा देवत्व के लिए[6] चेष्टा करे। दूसरा, राजा प्रजापति के प्रतिनिधि के रूप में शासन करे। कुछ लेखकों ने ऐसी व्याख्या करने की चेष्टा की है, जो 'राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त' के समकक्ष कही जा सकती है। बाद के साहित्य तथा परम्पराओं के अनुसार उनके तर्क में सत्यता हो सकती है। उदाहरणार्थ, उदयपुर के महाराणा अपने को मेवाड़ का स्वयं राजा न कहकर एकलिंग जी को मेवाड़ का राजा बतलाते थे। किन्तु इसपर भी यह दूसरा अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ऐ०ब्रा०कालीन क्षत्रिय राजा देवत्व तथा अमरत्व की प्राप्ति

---

१ तंत्र -- राज्याय ... राजा
२ ऐ०ब्रा० ८.३८.३; ८.३८.१
३ ऐ०ब्रा० ८.३९.६
४ ,, (क) ८.३७.२, ऐ०ब्रा० ८.३८.३
५ ,, ८.३८.३ ऊर्ध्वायां दिशि, ऐ०ब्रा० (क) ८.३७.२ पारमेष्ठ्यं प्रजापतिलोकप्राप्ति:।
६ वाचस्पति गैरोला -- वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४४५

हेतु सोमयज्ञ, राजसूय यज्ञ इत्यादि सभी कार्यों को सुरुचिपूर्वक करते हुए प्रतीत होते हैं । वे अपने अधिकार को उत्तराधिकार के रूप में आरोपित करते दृष्टिगोचर नहीं होते, वरन् स्वयं को सुसंस्कृत करने और समाज में ऐश्वर्यसम्पन्न होने की दृष्टि से यज्ञादि करते हुए दिखाई पड़ते हैं । पुरोहित वर्ग से इस प्रसंग में कोई विरोध दृष्टिगत नहीं होता है । अतः प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त है । यद्यपि यह स्वाभाविक है कि राजा की निरंकुशता बढ़ने पर प्रथम प्रयोजन दूसरे प्रयोजन में परिणत हो जाये । ऐ० ब्रा० काल तक ऐसी स्थिति पूरी तौर पर न पहुंच पाई थी । जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, अभी वंशपरम्परागत राजसत्ता की नींव भी पूरी तौर पर पक्की नहीं थी ।

माहाराज्य -- माहाराज्य का एक लौकपरक अर्थ सीधा-साधा निकलता है । राजा से बड़ा महाराजा और राज्य से बड़ा माहाराज्य, किन्तु ऐ० ब्रा० में माहाराज्य को भी ऊर्ध्व दिशा में बतलाया गया है[१] । इसका भी स्वर्ग की ओर संकेत है[२] । कुछ स्थलों पर इसका लौकिक अर्थ में भी प्रयोग होने का आभास मिलता है[३], जहां इसका उपर्युक्त अर्थ राजा से बड़ा महान राजा और राज्य से बड़ा महान राज्य ही कहा जा सकता है ।

आधिपत्य -- आधिपत्य राज्य भी स्वर्गिक राज्य की कल्पना है[४] । कुछ लेखकों ने अधिपति शब्द के आधार पर ऐसे राज्य की कल्पना की है, जिसकी बिखरे हुए राज्य की सुव्यवस्था के लिए राज्याधिकारियों द्वारा संचालन होता था[५] । यह अनुमान अतिसन्दिग्ध प्रतीत होता है । प्रथम तो, बिखरे राज्यों के किसी प्रणाली के अनुसार सुव्यवस्थित होने की कल्पना न तो उस काल में मिलती है और न उस काल के शासन-

---

१ ऐ० ब्रा० ८.३८.३
२ तत्रैव, ऐ० ब्रा० (क) ८.३७.२ माहाराज्यं तत्रत्येभ्य इतरेभ्य आधिक्यम् ।
३ ऐ० ब्रा० ८.३८.३; ८.३९.२
४ ,, ८.३८.३
५ वाचस्पति गैरोला -- 'वैदिक साहित्य और संस्कृति', पृ० ४४६

शास्त्र में ऐसी औपचारिकता का पाया जाना सम्भावित है । दूसरे, ऐ०ब्रा० में स्वर्गिक राज्य के अर्थ में ही इसका स्पष्ट प्रयोग किया गया है[1]। लौकिक अर्थ में तो इसके प्रयोग का आभास मात्र ही मिलता है[2], जहां इसका अर्थ श्रेष्ठता का द्योतक ही दृष्टिगत होता है[3]। अभिषेक के प्रसंग में `अधिराज` शब्द का ऐ०ब्रा० में उल्लेख है । पुरोहित कहता है कि `जिन जलों से प्रजापति ने इन्द्र,सोम,वरुण,यम,मनु को अभिषिक्त किया, उन्हीं जलों से मैं तुम्हें अभिषिक्त करता हूं, तुम राजाओं में अधिराज बनो[4]। इस शब्द से प्रकट होता है कि कई राजाओं में श्रेष्ठ `अधिराज` होता होगा और अनेक सामन्त उसकी श्रेष्ठता स्वीकारते होंगे और सम्भवत: `कर` भी देते हों । इससे किसी राज्य विशेष के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है ।

समन्त पर्यायी सार्वभौम -- सार्वभौम शब्द सर्वभूमि शब्द से बना है, जिसका तात्पर्य सर्वभूमि को धारण करने वाला राजा हो सकता है । इस सार्वभौम शब्द का पर्यायी एकराट् भी कहा जा सकता है । ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का सम्पूर्ण `आयुपर्यन्त` एकछत्र राजा होकर राज्य करने वाला सार्वभौम राजा हो[5]। `आयुपर्यन्त` विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक वंशपरम्परागत उत्तराधिकार के प्रचलन को यदि नहीं कहने में संकोच हो तो कम कहने में तो सन्देह नहीं है । सार्वभौमराज्य के प्रसंग में तो `आयुपर्यन्त` राज्य की ही कल्पना की गई है ।

ऐ०ब्रा० में राजा के अभिषेक के प्रसंग में पुरोहित राजा को उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के राज्यों की विशेषताओं को प्राप्त करने की कामना करता है[6], और राजा इस सम्बन्ध में शपथ ग्रहण करता है[7]। इससे दो निष्कर्ष

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.३, ऐ०ब्रा०(क) ८.३७.२ आधिपत्यं तानितरान् प्रति स्वामित्वम् ।
२ ,, ८.३८.३, ८.३९.२
३ ,, ८.३८.३, ८.३९.१ आधिपत्यमहं समन्तपर्यायी स्यां
४ ,, ८.३७.३ याभिरिन्द्रमभ्यषिंचत्प्रजापति: ... राज्ञां त्वमधिराजो भवेह ।
५ ,, ८.३९.१ अहं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौम सार्वायुष आन्तादा परार्धात्पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एकराडिति ।

६ तत्रैव

७ तत्रैव

निकाले जा सकते हैं-- प्रथम, पुरोहित यह सब कामना अतिशयोक्ति के रूप में करता होगा। दूसरे, विभिन्न प्रकार के राज्य क्षेत्रीय पक्ष के अतिरिक्त शासनिक स्वरूप के भी प्रतीक रहे होंगे। जैसा कि सायण की टिप्पणी से प्रकट होता है--"साम्राज्य में धर्म से पालन, भौज्य में भोगसमृद्धि, स्वाराज्य में अपराधीनत्व,, वैराज्य में अन्य राजाओं से वैशिष्ट्य इत्यादि[1]। इस दशा में पुरोहित की यह अपेक्षा, कि राजा सभी प्रकार के शासकीय विशेषताओं से युक्त हो, समीचीन ही है। यहां पर यह तो स्वीकारना पड़ेगा कि अभिषेक के अवसर पर पुरोहित किसी राजा की छोटाई-बड़ाई की परवाह किए बिना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करता होगा, क्योंकि यज्ञ में विभिन्न प्रकार तथा स्तर के राजाओं के लिए भिन्नता करने का उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यों के जिन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख आया है, उनका एकक्षेत्रीय वितरण भी रहा होगा और उनकी कुछ शासकीय विशेषताएं भी रही होंगी, जिनके लिए वे विख्यात होंगे।

इनके अतिरिक्त आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर भी इन राजसत्ताओं का वर्गीकरण सम्भव हो सकता है। जैसा कि आगे चलकर शुक्रनीति में स्वर्ण या रजत के सिक्के, पण, कर्ष आदि की अधिकता के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया है[2]।

शासनतंत्र

शासनतंत्र में राजा के सहायतार्थ सभा, समितियां तथा कर्मचारीगण होते थे, जिनके विभिन्न अधिकार और कर्तव्य थे। इनके बारे में यहां विचार किया जायगा।

---

१ ऐ०ब्रा० ७० ८.३७.२ साम्राज्यं धर्मेणपालनम्। भौज्यं भोगसमृद्धिः। स्वाराज्यमपराधीनत्वम्। वैराज्यमितरेभ्यो भूपतिभ्यो वैशिष्ट्यम्।

२ शुक्रनीति -- चतुर्थ अध्याय

<u>सभा और समिति</u> -- ऐ०ब्रा० में सभा और समिति शब्दों का उल्लेख नहीं आया है, किन्तु इससे सम्बन्धित `सभासाह:`[1] तथा `सभासद`[2] शब्दों का प्रयोग हुआ है । शां०ब्रा० में `सभा`[3] शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है । साथ ही उसे `संगतां भ्रुमानं`[4] मिलने का स्थान कहा गया है । `संगतां भ्रुमानं` शब्द दो बार उल्लिखित हुआ है । इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय सभा और समिति की प्राचीन परम्परा ब्रा० काल तक भी भली भांति प्रचलित थी । ऋ० में सभा और समिति दोनों का उल्लेख कई बार हुआ है । सभा के प्रसंग ऋ० में छठें तथा आठवें मण्डल में[5] आये हैं, और समिति के प्रसंग पहले, नवें तथा दसवें मण्डल में आये हैं । ऋ० में सभा शब्द का प्रयोग प्राचीन प्रतीत होता है और समिति का प्रयोग अपेक्षाकृत बाद का दृष्टिगत होता है, क्योंकि `सभा` शब्द ऋ० के उन मण्डलों (छठे, आठवें) में है, जो प्राचीन भाग कहे जाते हैं । दशम मण्डल में सभा का केवल एक बार उल्लेख आया है । ऋ० ब्रा० में भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, `सभा` और `सभा` से बने `सभासाह` तथा `सभासद` शब्दों का ही प्रयोग हुआ है, समिति शब्द का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता । इससे भी समिति शब्द सभा की अपेक्षा बाद का कहा जा सकता है ।

सभा का स्थायी रूप तथा स्थायी स्थान भी रहा हो, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में भी आवश्यकतानुसार सभा का आयोजन किया जाता होगा और विचार-विमर्श

---

१ ऐ०ब्रा० १.३.२ सभासाहेन... सभासाह:

२ ,, ८.३६.७ सभासद

३ शां०ब्रा० ७.६ सभा

४ तत्रैव - संगतां भ्रुमानं

५ ऋ० ६.२८.६; ८.४.६; १०.३४.६.

६ ऋ० १.९५.८; ९.९२.६; १०.९७.६; १०.११.८; १०.१६१.३; १०.१६६.४.

किया जाता होगा। और शां०ब्रा० में उल्लेख है कि "जहां सभा का आयोजन (संगतां भुमानं) किया गया है, उसमें देवपात्नियाँ को ठायें"[1]। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सभा की बैठक के लिए कोई एक ही निश्चित स्थान नहीं होता था। जहां सभा बुलाई जाती होगी, उसकी सूचना दी जाती होगी। विशेष सभागार या सभागृहों के बनाये जाने की सूचना ऋ० ब्रा० में नहीं मिलती है।

सभासद -- सभा के सदस्य 'सभासद' और 'सभासाह' कहलाते थे। ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त मरुत नामक राजा के यहां मरुद् देवता भोजन परोसने वाले और सम्पूर्ण देवता राजा के 'सभासद' थे[2]। इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा के सभासद श्रेष्ठ, विद्वान् और राज्य के समान उच्च स्तर के लोग होते थे।

ऐ०ब्रा० में यह भी प्रसंग है कि सभा मित्र (ऋत्विक यजमान आदि) 'सभासाह' मित्र सोम के आने पर प्रसन्न होते हैं। सोम रूप (सभासाह) सखा पाप से बचाता है। यह 'सभासाह' शब्द सभासद का ही पर्याय है। सायण ने व्युत्पत्ति के अनुसार 'सभासाह' का अर्थ 'विद्वानों की सभा को अपने विद्या ज्ञान से पराभूत करने वाला' स्पष्ट किया है[3]। सभा के सभासद में भी जो अधिक विद्वान् होता था, उसका सब सम्मान करते थे। विद्वान् सभासद अपने अन्य ~~व~~ मित्रों को पाप से बचाता था[4]।

---

१ शां०ब्रा० ७.६ यथा संगतां भुमानं.... संगतां वा अयं भुमानं देवानां पत्नी... सभामस्य।

२ ऐ०ब्रा० ८.३६.७ मरुतः परिवेष्टारो... विश्वेदेवाः सभासद इति।

३ ऐ०ब्रा० (क) १.३.२ सभासाहेन विद्वत्सभां विद्याप्रसंगेन सहतेऽभिभवति सभासाहस्ताहृशेन।

४ ऐ०ब्रा० १.३.२ किल्बिषस्पृद्

सभा और समिति का प्रयोजन -- सभा और समिति का रूप ऋ० में अपेक्षाकृत कुछ अधिक स्पष्ट दृष्टिगत होता है । ऋ० में उल्लेख है कि 'औषधियां समिति में राजाओं के समान मिलती है, और व्याधियों को दूर करती हैं'[1] । इससे व्यक्त होता है कि राजा लोग समितियों में एकत्र होकर विचार-विमर्श करके समस्याओं को सुलझाते थे । ऋ० में उल्लेख है कि 'समिति में जाने वाले सच्चे राजा के समान सोम कलश में पहुंच जाता है'[2] । इस उल्लेख से प्रकट होता है कि समिति में राजा के लिए जाना आवश्यक होता था और तभी वह सच्चा राजा माना जाता था । ऋ० के आठवें मण्डल में[3] उल्लेख है कि "हे इन्द्र, तुम्हारा मित्र प्रसन्न होकर समिति में जाता है ।" ऋ० में दसवें मण्डल में "समान समिति और समान मन एवं चित्त होने की कामना की गई है"[4] । समानता बनाए रखने की कामना करने से प्रकट होता है कि ऐसी सभाओं में सदस्यों के अधिकारों तथा विचारों में असमानता की समस्या उठ खड़ी होती होगी, जो स्वाभाविक है । उपर्युक्त उद्धरणों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि राजा के शासन कार्य में सहायता हेतु सभा और समितियां थीं, जिनमें राजा को अनिवार्य रूप से जाना होता था । इन समितियों और सभाओं में विचारपूर्वक राजा समस्याओं को हल करता था । इन "सभा" और "समितियों" का अलग-अलग क्या रूप और कार्य थे, अधिक स्पष्ट नहीं होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों के कार्य अलग-अलग स्पष्ट नहीं हुए थे । दोनों एक-दूसरे की पर्याय भी प्रतीत होती है । सभा और समितियों की परम्परा आगे तक भी अविच्छिन्न

---

१ ऋ० १०.९७.६ राजा नः समिताविव

२ ऋ० ९.९२.६ राजा न सत्यः समितिरियानः ।

३ ऋ० १०. १९१.३ समानो मनः समितिः समनो ।

४ ऋ० ८.४.९ सदा चन्द्रो याति सभामुप ।

रूप से दृष्टिगत होता है । अथर्व सं० में इन सभा और समिति को प्रजापति को दो पुत्रियां कहा गया है,[1] क्योंकि आगे चलकर इनके प्रयोजन में भेद होने लगा था ।

शासन तंत्र में पुरोहित का स्थान

सम्बन्ध -- ऐ०ब्रा० में पुरोहित और ~~अपना~~ राजा का सम्बन्ध द्यौ और पृथिवी, साम और ऋक् के समान कहा गया है,[2] तथा पुरोहित को राजा का 'तनु' (शरीर) तक भी कह दिया गया है ।[3] इससे ब्रा० काल में राजा और पुरोहित के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुमान लगाया जा सकता है तथा राजा का 'तनु' कहे जाने से राजा के लिए पुरोहित के प्राधान्य का पता लगता है ।

वंशानुगतता-- पुरोहित राजा के वंशानुगत चलता रहता था । ऐ०ब्रा० में अनेक राजाओं का उनके पुरोहितों के नाम के साथ उल्लेख है ।[4] प्रत्येक राजा के यहां एक पुरोहित होता था । कहीं-कहीं पर एक से अधिक पुरोहित होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है । ऐ०ब्रा० में पर्वत और नारद दो पुरोहितों द्वारा युधांश्रौष्टि राजा का तथा आम्बष्ठ्य राजा का अभिषेक किये जाने का उल्लेख है ।[5] राजा अपने पिता के पुरोहित को कभी-कभी हटा भी सकता था ।[6]

---

१ अथर्व सं० ७.१२.१ सभा च मा समितिश्चावतांप्रजापते र्दुहितरौ

२ ऐ०ब्रा० ८.४०.४ द्यौरहं पृथिवी त्वं सामाहमृक्त्वं

३ तत्रैव -- तनुरसि तन्वं मे पाहि ।

४ ऐ०ब्रा० ८.३६.७-६

५ ऐ०ब्रा० ८.३६.७ पर्वतनारदावाम्बाष्ठ्यमभिषिषचतुः ।

....पर्वतनारदौ युधांश्रौष्टिमौग्रसैन्यमभिषिषिचतुः ।

६ ऐ०ब्रा० ७.३५.१

राष्ट्ररक्षक -- पुरोहित को राष्ट्र का रक्षक कहा गया है[1]। वह ज्वलन्त अग्नि के समान होता था और राष्ट्र की रक्षा करता था[2]। पुरोहित अपनी शक्तियों से राजा को, भूमि को समुद्र के समान घेर कर सुरक्षित रखता था। वह राजा पूर्ण आयु पर्यन्त राष्ट्र का उपभोग करता था[3]।

प्रसन्न और शान्ततनु पुरोहित -- राजा को पुरोहित को प्रसन्न और 'शान्ततनु' रखना होता था। ऐसा करने से उस राजा का शौर्य, बल, राष्ट्र, प्रजा, सब बढ़ता था और अन्त में वह स्वर्ग को प्राप्त करता था[4]। पुरोहित के अप्रसन्न और अशान्त तनु होने पर राजा की उपर्युक्त सब वस्तुएं नष्ट हो जाती थीं[5], ऐसा कहा गया है।

पंचमेनि -- पुरोहित की क्रोध रूपी शक्ति 'मेनि' कही गई है, जो पांच प्रकार की होने से 'पंचमेनि' कहलाती थी[6]। इसके (क) वाणी, (ख) पाद, (ग) त्वचा, (घ) हृदय एवं (ड०) उपस्थ पांच प्रकार हैं[7]। यह अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होती थी[8]। उदाहरणार्थ, पुरोहित के आने पर सम्मानपूर्वक आसन देने से वाणी की मेनि, पाद्योदक देने से पैरों की, वस्त्रालंकरण देने से त्वचा की, धनादि देने से हृदय की तथा राजा के घर में अनिरुद्ध रूप से रहने से उपस्थ मेनि शान्त रहती थी[9]। इन पांचों प्रकार के क्रोधों से शान्त पुरोहित

---

१ ऐ०ब्रा० ८.४०.२-४

२ ,, ८.४०.१-४ अग्निर्वा एष वैश्वानर.... राष्ट्रगोपः पुरोहितः।

३ ,, ८.४०.२ राजानं परिगृह्य तिष्ठति समुद्र इवभूमिम्.. आजरसं जीवति सर्वमायुरेति.. यस्य राष्ट्रगोपः पुरोहितः।

४ ,, ८.४०.१ स एवं शान्ततनु ... स्वर्गं लोकं ...क्षात्रं च बलं च राष्ट्रं चविशं

५ तत्रैव - अशान्ततनु...स्वर्गाल्लोकाच्च्यवते क्षात्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च

६ ऐ०ब्रा० ८.४०.१-२ पंचमेनि

७ ,, ८.४०.१ पंचमेनि.. वाच्येवैका.. पादयोरेका त्वच्येका हृदय एकोपस्थ एका ।

८ तत्रैव - अग्निर्वा एष वैश्वानरः पंचमेनिः

९ तत्रैव

'शान्तितनु' होता था[1] । राजा को पुरोहित के इन पंक्तियों को शान्त रखना होता था ।

राजा को शपथ दिलाना -- ऐ०ब्रा० में अभिषेक करते हुए पुरोहित राजा से कहता है--' मैं तुम्हें सविता देव की अनुज्ञा से, अश्विनों की बाहुओं से, पूषा के हाथों से, अग्नि के तेज से, सूर्य के वर्चस से, इन्द्र की इन्द्रिय से बल, यश, श्री, और अन्नादि के लिए अभिषिक्त करता हूं[2] । ' अभिषेक के समय पुरोहित राजा को शपथ ग्रहण कराता था कि राजा पुरोहित से द्रोह नहीं करेगा । यदि द्रोह करेगा तो जिस रात उत्पन्न हुआ और जिस रात मरे, उसके मध्य किए हुए सब सुकृत, आयु, प्रजा आदि नष्ट हो जाएं[3] ।

ब्रह्म परिमर (अभिचारात्मक कृत्य) -- पुरोहित राजा के शत्रु-नाश करने के लिए अभिचारात्मक कृत्य भी करता था । ऐ०ब्रा० में ब्रह्म परिमर (परि+मर) नामक प्रयोग शत्रु-नाश के लिए किए जाने का उल्लेख है[4] । यहां ब्रह्म शब्द से वायु विवक्षित है । वायु के चारों ओर पांच देवताओं (विद्युत, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि) का मरण प्रकार 'परिमर' (एवं परितो म्रियन्ते) कहा गया है । इन देवताओं के पहले वायु में समाहित होने तथा पुनः इनके पृथक् होने की अपेक्षा की जाती थी । इस प्रकार चारों ओर से राजा के शत्रुओं के मरने की कामना की जाती था ।

पुरोहित का सेनापति रूप -- पुरोहित राजा के सहायक और पौरोहित्य कर्म के अतिरिक्त सेनापति का पद भी आवश्यकतानुसार संभालता था ।

---

१ तत्रैव

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.३ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेणाभिषिञ्चामि बलाय श्रियै यशसेऽन्नाद्याय ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३८.१ यां च रात्रीमजायेथा यां च प्रेतासि तदुभयमन्तरेणेष्टा-पूर्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीय यदि मे द्रुह्येः ।

४ ऐ०ब्रा० ८.४०.५ अथातो ब्रह्मणः परिमरो ... सन्दिवन्तो भ्रातृव्याः परिसपत्नाः म्रियन्ते ... स्तृणुते ।

अग्नि को देवताओं का पुरोहित, रक्षक (गोपा) तथा सेना का अग्रणी अथवा सेनापति कहा गया है[१]। ऐ०ब्रा० में अत्यराति जानंतपि ने अपने गुरु वशिष्ठ सातहव्य को राजा बनने और स्वयं उनका सेनापति बनने का प्रस्ताव रखा।[२] पुरोहित के सेनापति बनने की यह परम्परा ऋ० में भी दृष्टिगत होती है। ऋ० में अग्नि को देवताओं का पुरोहित और सेनानायक कहा गया है[३]। इसके अतिरिक्त ऋ० के तृतीय और सप्तम मण्डल में विश्वामित्र और वशिष्ठ का राजा सुदास के पुरोहित और सेनापति होने का उल्लेख है।

बृहस्पति देवताओं के पुरोहित कहे गये हैं[४]। उन्हीं का अनुसरण करके लौकिक राजाओं के भी पुरोहित होने का उल्लेख है कि जो राजा पुरोहित को भली प्रकार रखता है, वह बृहस्पति को धारण करता है[५]।

<u>पुरोहित की विद्वत्ता तथा योग्यता</u> -- राजा के यहाँ होने वाला पुरोहित पढ़ा-लिखा विद्वान्, गुणवान, योग्य तथा ब्रह्मवर्चसयुक्त होता था। अयोग्य पुरोहित, जो राजा का अभिषेक तथा यज्ञ कराकर दक्षिणा ग्रहण करता था, वह उसी प्रकार धन लूटने वाला बताया गया है, जैसे कोई निषाद, चोर व पापी किसी धनी को अरण्य में पाकर उसका धन लूटकर भाग जाते हैं[६]।

---

१ ऐ०ब्रा० १.४.८ तस्याग्निरनीकमासीत्, ऐ०ब्रा० १.५.२ दम्योभिरनीकैः शृणोतु अग्निर्वै देवानां गोपा। शां०ब्रा० ५.५ अग्निमनीकवन्तं प्रथमं देवतानाम्।

२ ऐ०ब्रा० ८.३६.६

३ ऋ० ७.१.१ अग्निमीळे पुरोहितं ... ऋ० २.६.६ सेनानीकेन ... अदब्धोगोपा ऐ०ब्रा० ८.४०.३ बृहस्पति

४ ऐ०ब्रा० ८.४०.३ बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितः

५ तत्रैव - तमन्वन्ये मनुष्यराज्ञां पुरोहितः। बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्तीति।

६ ऐ०ब्रा० ८.३७.७

जिस राजा का यज्ञ विद्वान् ऋत्विक कराता था, उसके बारे में कहा गया है कि वह कभी नहीं हारता था, और सम्पूर्ण पृथ्वी तथा पूर्ण आयु प्राप्त करता था[1]।

पुरोहित राजा की सब प्रकार सहायता करता था। बदले में राजा से आदर-सम्मान सुखैश्वर्य प्राप्ति की आकांक्षा ही नहीं वरन् अधिकार भी रखता था[2], परन्तु पुरोहित का स्वयं राज्य प्राप्ति की इच्छा करना अनुचित माना जाता था। ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि अत्यराति जानंतपि (शिष्य) ने सातहव्य वसिष्ठ (गुरु) से कहा, "हे ब्राह्मणाचार्य, जब मैं उत्तर कुरु नामक हिमवान पर्वत के उत्तर देशों को जीत लूं, तब तुम्हीं पृथ्वी के राजा बनो और मैं तुम्हारा सेनापति बनूं।" इस पर वसिष्ठ सातहव्य ने उस क्षेत्र को देवक्षेत्र और मानवों द्वारा अजेय बताते हुए उससे कहा है, "तुमने मेरी बताई हुई विद्या का अनुचित प्रयोग करना चाहा है, अतः शपथोल्लंघन करने वाले तुम गुरुद्रोही हो। मैं तुम्हारी सामर्थ्य का अपहरण करता हूं[3]।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण एवं पुरोहितों द्वारा उस समय राज्याकांक्षा अनुचित मानी जाती था, किन्तु ब्राह्मणों द्वारा राज्य प्राप्ति की इच्छा की जाने लगी थी।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि राजाओं के लिए पुरोहित का समुचित महत्व था। शासन कार्य में भी उसका प्रमुख स्थान था। और वह शासन कार्य में धार्मिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं अभिचारात्मक रूप से भी सहायता करता था। उसका

---

१ तत्रैव -- न ह वा एनं दिव्या न मानुष्य इषव आच्छन्त्येति सर्वमायुः सर्व भूमि....यमेवंविदो याजयन्ति।

२ ऐ०ब्रा० ८.४०.१-३

३ ,, ८.४०.१ स होवाच वासिष्ठः सात्यहव्योऽजैषीर्वै...त्वमु हैव पृथिव्यै राजा स्याः सेनापतिरेव तेऽहं स्यामिति।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में शासनतंत्र पर प्रभाव था ।

बलि(कर) व्यवस्था

`बलि` शब्द का देवों को समर्पित `हवि` रूप उपहार तथा राजा को प्रदत्त `कर` दोनों अर्थों में प्रयोग किया जाता है । ऐ०ब्रा० में बलि शब्द `कर` के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है[1] । अभिषेक के वर्णन में राजा के द्वारा फल तथा फलों के रस आदि के भक्षण की प्रशंसा में तीन बार इसका उल्लेख हुआ है[2] । राजा के लिए वर्जित तथा वैश्यों के भक्ष्य `दधि` खाने वाले क्षत्रिय (राजा) का पुत्र वैश्य के समान बलि प्रदान करने वाला बताया गया है[3] । फलों तथा फलों के रस आदि का भक्षण करने वाले राजा के लिए कहा गया है कि वह सम्पूर्ण दिशाओं से बलि ग्रहण करने वाला हो[4]। शां०ब्रा० में आग्रयण यज्ञ के प्रसंग में उल्लेख है कि सोम राजा को मधुपर्क प्रदान करना, उसको अपना विश(कर) से प्रसन्न करना है,क्योंकि मधुपर्क अरण्योत्पन्न वस्तुओं का रस है[5] । यहाँ विश से तात्पर्य विश से प्राप्त बलि(कर) से है । जिस प्रकार विशों से प्राप्त बलि से राजा को प्रसन्न किया जाता है, उसी प्रकार सोमराजा को अरण्यों से उत्पन्न वस्तुओं के रस से बने मधुपर्क से प्रसन्न किया जाता है[6] । उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजा `कर` ग्रहण करता था । यह `कर` वह अपने अधीनस्थ राजाओं तथा प्रजा, विशेषरूप से वैश्यों से प्राप्त

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.३, ७.३५.८

२ तत्रैव

३ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ ... दधि वैश्यानां स भक्षो... अन्यस्य बलिकृद्

४ ,, ७.३५.८ ... सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमावहन्त:....

५ शां०ब्रा० ४.१२ तदेनं स्वया विशा प्रीणात्यथ यन्मधुपर्कं ददात्येष ह्यारण्यानां रस: ।

६ तत्रैव

करता था । ऐ०ब्रा० में सब दिशाओं से बलि ग्रहण करना `सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमावहन्त:` कहा गया है । सब दिशाओं का तात्पर्य सब ओर स्थित अधीनस्थ राजा अथवा सब ओर रहने वाली प्रजा हो हो सकता है । सायण ने इसका अर्थ सब दिशाओं में स्थित राजालोग किया है[1] । वैश्यों का एक गुण `अन्यस्य बलिकृत` भी कहा गया है[2] । जिसका तात्पर्य है कि वैश्य अन्यों अर्थात् राजा को बलि देने वाला होता था । शां०ब्रा० में `विशा` शब्द से प्रजा का अर्थ प्रतीत होता है[3], जैसा कि विश और वैश्य शब्द को वर्णव्यवस्था अध्याय में स्पष्ट किया गया है ।

बलि ग्रहण की यह परम्परा ऋ० ब्रा० से पूर्व ऋ० में भी विद्यमान प्रतीत होती है । ऋ० में उल्लेख है कि इन्द्र एवं अग्नि ने प्रजा को बलिप्रदान करने वाली बना दिया है[4] । प्रजा स्वर्ण, गौ, अश्व, धन, आदि प्रदान करती है[5] ।

यह परम्परा आगे बढ़ती गई । ऐत०आर० तथा शांख०आर० में महाव्रत के प्रसंग में विशों (वैश्यों) को पुष्टिमान कहा गया है[6] । वैश्य `कर` प्रदाता कहे जा चुके हैं । अत: वैश्य जितने सम्पन्न होंगे, उतना ही अधिक कर प्रदान करेंगे । इसीलिए विशों को पुष्ट कहा गया है । सायण ने भी व्याख्या की है कि विश(वैश्य) वाणिज्य से बहुत

---

१ ऐ०ब्रा० (क) ७.३५.८

२ ,, ७.३५.३

३ शां०ब्रा० ४.१२.

४ ऋ० १०.१७३.६ इन्द्र: केवली विंश: बलिहृतस्करत ।
ऋ० ७.६.५ ... अग्नि विंशश्चक्रे बलिहृत: ।

५ ऋ० ७.६०.६ ये दधते स्वर्णं गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यै:

६ ऐत०आर० १.१.१ विशो विशो वो अतिथिमिति पुष्टिकाम: ।
पुष्टिर्वै विश: पुष्टिमान् भवतीति ।
शांख०आर० १.२ विशो विशो वो अतिथिमिति.... ।

धन अर्जित करते हैं और बहुत कर देते हैं । यह विशों की पुष्टि स्वरूप है[१] ।

इस बलि का उस समय क्या स्वरूप था, और कितना ग्रहण किया जाता था, इसके विषय में कोई निश्चित उल्लेख नहीं प्राप्त होता । कुछ उद्धरणों से ही अनुमान लगाया जा सकता है । ऋ० में समर्थ जनों द्वारा स्वर्ण, गौ, अश्व, वसु, हिरण्य आदि देने का तथा अथर्व० में ग्राम का हिस्सा, अश्व, गौ आदि देने का उल्लेख है[२] । आगे मनुस्मृ० (७.८०, १३०), रामायण (३.६.११), मत्स्य पुरा० (२१५.५७) आदि में राजा को उपार्जित वस्तु के षष्ठांश को बलिरूप में दिये जाने का उल्लेख है ।

दण्डनीति

राजा को प्रजा का अधिपति, ब्राह्मणों और धर्म का रक्षक, शत्रुओं का नाशक आदि कहा गया है[३], किन्तु राजा द्वारा विधान और दण्ड व्यवस्था के नियमों के लागू करने के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होते । कुछ अप्रत्यक्षरूप से निष्कर्ष मात्र निकाले जा सकते हैं ।

ऋ०ब्रा० काल में यातायात के लिए अश्व, रथ, बैलगाड़ियां और शायद हाथी, ऊंट आदि का भी प्रयोग किया जाता था । जलमार्गों में विविध प्रकार की नौकाओं के प्रयोग का उल्लेख प्राप्त होता है (देखिये आर्थिक दशा अध्याय ४)। ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि अरण्य में चोर लुटेरे धनिकों को पाकर उनका धन लूट कर उन्हें कूपादि में गिरा कर भाग जाते थे[४] । किन्तु ऐसे अपराध के लिए किसी दण्डव्यवस्था का उल्लेख नहीं है । प्रसंगाभाव के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है ।

---

१ ऐत०आर०(क) १.१.१

२ ऋ० ७.६०.६

अथर्व० ४.२२.२,३ ग्रामे अश्वेषु गोषु ... विश्पतिरस्तुराजा ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३८.१ , ८.३६.३

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.७

ऐ०ब्रा० में राजा विश्वन्तर सौषद्मन का श्यापर्णों को अपने कर्मचारियों द्वारा यज्ञ से बाहर निकलवा देने का उल्लेख है[1]। इससे प्रतीत होता है कि किसी प्रकार के अनुपयुक्त कार्य के लिए राजा ब्राह्मण ऋत्विजों तक को भी दण्ड दे सकता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि दण्ड देने तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए राजा द्वारा कर्मचारियों को नियुक्त किया जाता था। सायण ने इन कर्मचारियों को 'वेत्रपाणि' (बेंतधारी) कहा है[2]। ऋ०ब्रा० में इससे अधिक स्पष्ट उल्लेख दण्ड व्यवस्था के लिए नियुक्त विभाग अथवा कर्मचारियों के विषय में नहीं मिलता है। ऋ० में प्राप्त कुछ उल्लेखों से दण्ड व्यवस्था के विषय में पता लगता है। पूषा देवता को तो ऋ० में मार्गों के रक्षक देवता ही माना गया है और उनसे मार्गों की, अथवा यह कहा जा सकता है कि मार्ग में जाने वाले यात्रियों की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। उल्लेख है, 'हे पूषन्, हिंसक, चोर, लुटेरों आदि को हमसे दूर कर दो। मार्ग रोकने वाले, चोरी एवं लूट करने वाले कुटिल दस्युओं को हमारे मार्ग से हटा दो।' 'हे पूषन, तुम पाप को बढ़ावा देने वालों को अपने पैरों से कुचल डालो[3]।' इस उल्लेख में तो अपराधियों को कुचल तक डालने के लिए उचित समझा गया। इस उद्धरण में मार्ग रोकने वाले हिंसक, चोर, लुटेरे, कुटिलदस्यु आदि और ऐ०ब्रा० में उल्लिखित और पापी निषाद जो धनिकों को अरण्य में पाकर लूटते हैं और मार डालते हैं[4], दोनों समान तथ्य प्रतीत होते हैं।

ऋ० में अक्षसूक्त में एक जुआरी के विषय में उल्लेख है कि उसके माता-पिता तथा भाई भी कह देते थे कि इसको बांधकर ले जाओ,

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.१ विश्वन्तरो ह सौषद्मनः ..... तानुत्थापयांचक्रुः

२ ऐ०ब्रा०(क) ७.३५.१

३ ऋ० १.४२.२-४; १.६५.१,२

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.७

हम उसको नहीं जानते[1]। इस प्रसंग में `नयता बद्धमेतत्` में बांधकर ले जाने वाले राजकर्मचारी ही प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार ऋ० में एक शब्द `मध्यम शी` का उल्लेख है । कहा गया है कि `उग्र मध्यम शी की भांति, हे ओषधियों, रुग्ण के शरीर के अंग-अंग, पोर-पोर में प्रसर्पण करता हुई यक्ष्मा को दूर कर दो[2]। यहां ओषधियों को `मध्यम शी` की भांति सम्पूर्ण शरीर में घूमने को और रोग दूर करने को कहा गया है । यहां `मध्यमशी` से कई अर्थों की अभिव्यक्ति होती है । एक तो यह कि तेज राजा अपने राज्य के मध्यस्थित होकर प्रजा के कष्टों को पता लगाकर दूर करे । दूसरे, राजा द्वारा नियुक्त चर आदि प्रजा के मध्य घूमकर कष्टों को पता लगाकर दूर करे । तीसरे, राजा और प्रजा के मध्य पुलिस विभाग के समान कोई विभाग के कर्मचारीगण हों जो प्रजा की समस्याओं को ज्ञात करें और दूर करें । `मध्यमशी` से रौथ और ह्विटनै ने भी मध्यस्थ का ही आशय लिया है[3]। ऋ० में ऋज्राश्व के पिता द्वारा उसे एक मादा भेड़िये के लिए गांव वालों की १०० भेड़ों को मार डालने के अपराध में अन्धा बना देने के दण्ड से ऋ० में कौटुम्बिक दण्ड व्यवस्था भी प्रतीत होती है[4]। ऋ० में भी `शतदाय`[5], `वैरदेय`[6] शब्दों का उल्लेख है । `वैरदेय` शब्द से ऐसा स्पष्ट होता है कि यह शत्रुता वश किये जाने वाले जघन्य अपराधों के दण्ड के फलस्वरूप दिया जाने वाला धन था, जो `शतदेय` के अनुसार सौ होता था, और वह गायों के रूप में दिया जाता था ।

---

१ ऋ० १०.३४.४

२ ऋ० १०.९७.१२ यस्यौषधीः प्रसर्पथांगमंगंपरुष्परुः।ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ।

३ वैदि० इ०(हि) भाग २,पृष्ठ १४२

४ ऋ० १.११६.१६,११७.१७

५ ऋ० २.३२.४

६ ऋ० ५.६१.२

राजा दण्ड विधान करता था। ऐ०ब्रा० में पूर्वोक्त विश्वन्तर सौषद्मन तथा श्यापर्णों की कथा से उक्त शक्ति का कुछ ही आभास मिलता है, किन्तु आगे के ग्रन्थों में उसका विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में कहा गया है कि जब राजा दण्ड नीति का पूर्ण रूप से पालन करता रहता है, तो कृतयुग नाम कालसृष्टि का प्रवर्तन करता है, और जैसे-जैसे अंशों में कमी होने लगती है, त्रेता, द्वापर और कलिकालों का आरम्भ होता है[1]।

युद्ध व्यवस्था

ऋ० तथा ब्रा० में युद्ध एवं संघर्ष के अनेक प्रसंगों का उल्लेख है। युद्ध के लिए 'युद्ध', 'युध', 'समयतन्त्' आदि शब्दों का प्रयोग आया है[2]। युद्ध में नेतृत्व की आवश्यकता के प्रसंग में राजत्व के प्रारम्भ का उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। यहां अन्य उपलब्ध सूचना की समीक्षा करेंगे।

क्षत्रिय (राजा) का स्वभाव एवं रूप -- ऐ०ब्रा० एवं शां०ब्रा० में क्षत्रिय का स्वभाव व रूप उग्र, साहसी, ओजस्वी, बलवान और वीर्यवान कहा गया है[3]। वह उग्र होकर शत्रुओं को पराजित करता है[4]। ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि क्षत्रिय (राजा)

---

१ महा०भा० शां०पर्व ६९-९८ दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कात्स्न्येन वर्तते।

....

युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्।

२ ऋ० १०.५४.२; १.५३.७; ५९.१; ५.२५.६;६.४६.११
ऐ०ब्रा० १.३.३; १.४.६; ३.१२.१; ३.१४.१; ६.३८.७;६.३०.१०
शां०ब्रा० ३८.६

३ ऐ०ब्रा० ८.३६.२,३,४ उग्रवत्सहस्वत क्षात्रस्यरूप...ओजस्वत्क्षात्रस्य रूपम्।
शां०ब्रा० ४.८ क्षात्रेण वक शत्रून् सहा इति।

४ ऐ०ब्रा० ८.३६.२,३,४, शां०ब्रा० ४.८ ।

होते हुए यज्ञ करने की दीक्षा प्राप्त करता है उसका क्षात्र(ओज,बल, वीर्य) और अधिक बढ़ने लगता है[1]।

सांनाहुक होना क्षात्रिय के लिए मेध्य -- क्षात्रिय बालक बड़ा होकर जब कवच, धनुष आदि धारण करने योग्य होता था, तभी योग्य(मेध्य) माना जाता था। शुनःशेप आख्यान में क्षात्रिय बालक रोहित के सांनाहुक (कवच,धनु आदि धारण करने योग्य) होने पर बलियोग्य कहा गया है[2]। इससे ज्ञात होता है कि युद्ध के लिए विशेष प्रकार की योग्यता प्राप्त करना आवश्यक था।

युद्ध के समय कर्मचारियों से विचार-विमर्श -- ऐ०ब्रा० में[3] वृत्र को मारने के समय इन्द्र द्वारा सब देवताओं से मदद मांगने का उल्लेख है। अतः कहा जा सकता है कि युद्ध के समय राजा अपनी जनता तथा सेनापति आदि कर्मचारियों से मिलता था। उनसे विचार-विमर्श करता था और उनकी सहायता प्राप्त करता था।

युद्ध के समय सुरक्षा हेतु राजा के यहां परिवारों को रखना-- युद्ध के समय सुरक्षा हेतु परिवारों को राजा के यहां रखे जाने का उल्लेख है। ऐ०ब्रा० में देवों और असुरों के युद्ध में देवों द्वारा अपने पुत्रकलत्रादि को वरुण राजा के घर रखे जाने का प्रसंग है[4]। प्राचीनकाल से अर्वाचीन काल तक बनाए गए जो बड़े-बड़े दुर्ग पाए जाते हैं, उनका यह भी प्रयोजन होता था, कि युद्ध के

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ क्षूयते ह वा अस्य क्षात्रं यो दीक्षते क्षात्रियः सन्...।

२ ,, ७.३३.२ यदा वै क्षात्रियः सांनाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति

३ ,, ३.१२.६ इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्त्सर्वा देवता अब्रवीद...।

४ ,, १.४.६ देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त...

१.४.७ ते वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत ।

समय उनको जनता सुरक्षा हेतु उनमें शरण ले सके । दुर्ग बनाए जाने की परम्परा भारत में प्राचीनकाल से दृष्टिगत होता है । ऐ०ब्रा० में सुरक्षित 'पुरों' का उल्लेख है, जो दुर्ग के समान प्रतीत होते हैं ।[1]

राजा के लिए सुरक्षा दल -- राजा के प्रस्थान के समय एक सुरक्षा दल मार्ग को सुरक्षित और निर्भय बनाने के लिए राजा के आगे-आगे जाता था[2] । शां०ब्रा० में 'साकमेधा' यज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जैसे सुरक्षा दल राजा के आगे-आगे चलता है, जिससे मार्ग अभय हो जाता है,[3] उसी प्रकार यह साकमेधा यज्ञ देवों के लिए है ।

युद्ध में सेनापति -- युद्ध में सेनापति भी होते थे, जो सेना के अग्रणी होते थे । अग्नि को देवताओं का सेनानी और पुरोहित दोनों ही कहा गया है ।

युद्ध के नियम -- ऐ० ब्रा० में युद्ध करने के कुछ नियम दृष्टिगत होते हैं । सेनाओं का सेनाओं से युद्ध, तथा राजाओं का राजाओं से द्वन्द्व युद्ध आदि करने का उल्लेख मिलता है[4] । ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि युद्ध के लिए कटिबद्ध दोनों पक्षों की सेनाओं के मध्य आते हुए विजयार्थी क्षत्रिय (राजा) यदि ईशान दिशा में स्थित अभिषिक्त राजा के पास जाकर कहे कि 'ऐसा करो, जिससे मैं अपनी सेना से इस सेना को जीत लूं, और यदि वह स्वीकार कर[5] ले, तो मन्त्र पढ़े । इससे सेना पर विजय प्राप्त करता है ।'

---

१ ऐ०ब्रा० १.४.६ पुरो वा इमाऽसुरा... , ऐ०ब्रा० १.४.८ तथा पुरो भिन्दन्त

२ शां०ब्रा० ५.५ महाराजः पुरस्तात् सेनानीकानि प्रत्युह्याभयं पन्थानमन्वियाद्

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.६, ७

५ तत्रैव

उपर्युक्त संग्राम के विषय में उल्लिखित पूर्वोक्त दिशाओं के मध्य ईशान दिशा के अभिषिक्त राजा के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि ईशान दिशा में कोई प्रबल राज्य होगा । वहां पर राजसूय यज्ञ के फलस्वरूप अभिषिक्त राजा का उल्लेख है, जिससे आपत्काल में सहायता ली जा सकती होगी । यहां यह भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त शासनों के प्रकार में वर्णित प्राची दिशा में साम्राज्य पद के लिए अभिषिक्त सम्राट् राजाओं से भी इनका तात्पर्य हो सकता है, जो शक्तिशाली सम्राट् होते थे । संभवत: आवश्यकता पड़ने पर वे निकटस्थ राजाओं की मदद कर देते होंगे ।

युद्ध में व्यूह-रचना -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि देवों और असुरों के युद्ध में अग्नि ने अपने दल को सेनापति से युक्त तीन श्रेणियों में, तीन सेनाओं (अनीक)[1] में विभाजित करके तीन दिशाओं से युद्ध करके विपक्षियों को पराजित किया । सेनाओं को विभाजित करके विविध प्रकार से व्यवस्थित करके युद्ध करना व्यूहरचना कहलाता है । उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐ०ब्रा० काल में सेना को सुनियोजित करके व्यूहरचना द्वारा युद्ध किया जाता था । यद्यपि व्यूहों के प्रकारों का इसमें कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । व्यूहों का सुविकसित रूप एवं उनके प्रकारों का आगे के ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है । शुक्र नीति में मकर, श्येन, सूची, शकट, वज्र, सर्वतोभद्र, चक्र व्याल, आदि आठ प्रकार के व्यूहों[2] का उल्लेख है । महाभारत में चक्रव्यूह का उल्लेख अभिमन्यु प्रसंग में आता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में सम, अश्व, रथ, दण्ड, भोग, मण्डल, असंहत आदि आदि व्यूहों[3] का उल्लेख है ।

युद्ध में विजयप्राप्ति हेतु आभिचारिक कृत्य-- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि अपनी सेना की विजय का इच्छुक क्षत्रिय अपनी सेना के मध्य खड़े होकर भूमि से तिनका उठाकर उसके दोनों सिरे तोड़कर शेष को शत्रु सेना पर बाण के समान फेंक दे और कहे,

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१४.१ स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्र्यनीको ऽसुरान्युद्धमुपप्रायद्

२ शुक्रनीति, अध्याय ४ विभाग ७, प्रसंग २

३ चाणक्य-- कौटिलीय अर्थशास्त्र, तृतीय भाग अधि १० अध्याय ५ प्रकरण १५५-१५७

`हे प्रासहा (सेना), तुम्हें प्रजापति श्वसुर देख रहे हैं । इससे शत्रु सेना उसी प्रकार भाग जायगी, जिस प्रकार श्वसुर[1] को देखकर वधू लज्जित होकर अपने को ढकती हुई अन्दर जाकर छिप जाती है । इस उद्धरण में श्लेष का प्रयोग करके प्रासहा वावाता से इन्द्र की पत्नी तथा सेना के अर्थ लगाये गये हैं । इन्द्र को पराक्रमी, बलिष्ठ, ओजस्वी भी कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध के अधिष्ठाता के रूप में इन्द्र के प्रतिष्ठित होने से सेना को इन्द्र की प्रिय पत्नी कहा गया है । ऋ० तथा ऐ०ब्रा० में इन्द्र को युद्ध का देवता माने जाने के कारण सेना को उनकी पत्नी रूप में कहा गया प्रतीत होता है ।

नष्ट राज्य की पुन: प्राप्ति -- राज्यनष्ट राजाओं द्वारा पुन: अपने राज्य-प्राप्ति के विषय में उल्लेख प्राप्त हुआ होता है । कहा गया है कि राज्य को पुन: प्राप्त करने की इच्छा करने वाला राजा ईशान दिशा में अभिषिक्त राजा के पास जाकर कहे, `मेरे लिए ऐसा करो, जिससे मैं अपना राज्य पुन: प्राप्त करूं ।` इस प्रकार वह राजा अपना खोया हुआ राज्य पुन: प्राप्त करता है[2] । इस उद्धरण में भी ईशान दिशा में अभिषिक्त राजा से जाकर कहने का उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि ईशान के राजा से यहां पर भी प्राची दिशा में साम्राज्य के लिए अभिषिक्त सम्राट से ही तात्पर्य हो । राज्यभ्रष्ट राजा उसकी सहायता से पुन: अपना राज्य प्राप्त करने में समर्थ हो पाता होगा ।

विविध प्रकार की विजय -- राजसूय यज्ञ में अभिषेक के अनन्तर आसन्दी से अवरोहण करके राजा ब्राह्मण को तीन बार प्रणाम करता है । तत्पश्चात् ब्राह्मण राजा को[3] `जिति`, `अभिजिति`, `विजिति`, `संजिति` प्राप्त करने का आशीर्वाद देता है । इन विजयों को ग्रन्थ में स्पष्ट नहीं किया गया है । सायण

---

१ ऐ०ब्रा० ३.२२.११ सेना वा इन्द्रस्यप्रिया जाया वावाता प्रासहा ... तद्यथैवाद: स्नुषा श्वसुराल्लज्जमाना निलीयमानैत्येवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.६ यद्यु वा एनमुपधावेद् ... तथा हराष्ट्रं पुनरवगच्छति ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३७.५ जित्या अभिजित्यै विजित्यै संजित्या इति वाचं विसृजते

ने इनको अपनी टीका में स्पष्ट किया है । केवल जीतने मात्र को `जिति` कहा है (जितिर्जयमात्रम्) । आसपास स्थित सब देशों पर पूर्ण विजय को `अभिजिति` कहा गया है (अभित: सर्वेषुदेशेषु जितिरभिजिति:)। है प्रबल और दुर्बल शत्रुओं पर तारतम्य रूप से जीतें `विजिति:` कही गई है (प्रबलदुर्बल शत्रूणां तारतम्येन विविधो जय विजिति:) । शत्रु रहित होने के लिए भली प्रकार से बार-बार जीतने को `संजिति` कहा गया है (पुन: शत्रुत्वराहित्याय सम्यग्जय: संजिति:)[1] ।

शां०ब्रा० में देवों और असुरों के युद्ध और विजय के प्रसंग में `अभिजित्य`[2], `विजित्य`[3], `जिताजिते`[4], `अम्यजयन` आदि शब्दों का उल्लेख तो आया है ,किन्तु इन विविध जयों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता ।

ऋ० में ऐ०ब्रा० की भांति `जिति`[5], `विजयाय`[6], `संजित:`[7], `संजितम्`[8] शब्दों का उल्लेख है । `अभिजित` शब्द का उल्लेख नहीं है । सायण ने ऋ० में इन शब्दों का अर्थ `जिति` का `शत्रुजय` विजय का `विशिष्ट जय`, संजित, संजितम् का `सम्यग् जेतार:` अर्थ किया है ।

---

१ ऐ०ब्रा० (क) ८.३७.५

२ शां०ब्रा० २४.१,२; २६.८

३ शां०ब्रा० १५.२; १.२

४ शां०ब्रा० २६.१६

५ ऋ० १०.५३.११

६ ऋ० १०.८४.५

७ ऋ० ५.४२.५

८ ऋ० १०.६८.१८.

युद्ध में पराजित होकर पीछे हटना -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि देवों और असुरों में युद्ध हुआ । देवों ने षाष्ठमह का अनुष्ठान कर असुरों को निकाल दिया । उन असुरों का हस्तियों पर वहन किये जाने योग्य बहुत धन था, उन्होंने उसे समुद्र में फेंक दिया । देवों ने उसे उसी प्रकार प्राप्त कर लिया, जिस प्रकार लोक में अंकुश से आकृष्ट कर (कूपादि से) निकाल लेते हैं[1] । इससे ज्ञात होता है कि युद्ध में पराजित राजाओं को जब अपना भू-भाग छोड़कर पीछे हटना पड़ता था, तो वे अपनी मूल्यवान वस्तुओं को समुद्र आदि में फेंक देते थे, ताकि विजेता राजा उन वस्तुओं का उपयोग न कर सके । इस सिद्धान्त का आधुनिक युद्धशास्त्र में भी उचित महत्व है ।

शस्त्रास्त्र

धनुषबाण -- ऋ०ब्रा० काल में विविध आयुधों का प्रयोग दृष्टिगत होता है[2] । ऐ०ब्रा० में क्षात्रिय के आयुधों में धनुष व बाण का उल्लेख है । इससे क्षत्रियों द्वारा युद्ध में धनुष बाण के अधिक प्रयोग का पता चलता है । धनुष बाण से सम्बन्धित इषु, इषुहस्त, निषंगिभि:, उग्रधन्वा, धन्वन, धन्वसुवर्मा आदि अनेक शब्द प्रयुक्त किए गए हैं[3] । आयुध शब्द से भी अनेक स्थानों पर धनुष और बाण की ही प्रतीति होती है[4] । ऋ० में धनुष बाण के प्रयोग का काफी उल्लेख है । उसमें अनेक प्रकार से धनुष की प्रशंसा की गई है[5] । ऐ०ब्रा० में बाण

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२२.६ देवासुरा वा... तेषां यान्यन्तर्हस्तीनानि वसून्यासंस्तान्यादाय समुद्रं प्रौप्यन्त... सस्वांकुश आसज्जनाय ।

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ क्षात्रस्यायुधानि... इषुधन्व: ।

३ इषु, इषुधन्व- ऐ०ब्रा० १.४.८,९; ३.१३.३, ६; ७.३४.१; ८.३७.७ धनु:, धन्वा, धन्वसु-ऐ०ब्रा० १.२.३; १.४.८; २.८.१; ७.३३.२, शां०ब्रा० ८.४

४ ऐ०ब्रा० ७.३४.१

५ ऋ० ६.७५.२-५; ६.७५.१५; ६.७५.१६ आदि ।

के सब अवयवों का उल्लेख है । बाण के मुख भाग को `अनीक`, सामने लगे हुए लौहभाग को `शल्य`, लौहभाग के तेज नुकीले भाग को `तेजन`, तथा बाण के पीछे के भाग में लगे हुए चिड़ियों के पंखवाले भाग को `पर्ण` कहा गया है । इन चारों अवयवों से पूर्ण बाण को `चतु: संधि` कहा गया है[1] ।

वज्र -- ऐ०ब्रा० में इन्द्र के आयुध वज्र का प्रसंग आया है[2] । वज्र को अष्टकोण वाला (अष्टाश्रिर्वज्र:) कहा गया है[3] । यह ऊपर पकड़ने के स्थान में पतला तथा मारने के स्थान में नीचे चौड़ा होता है[4] । सायण ने अपनी टिप्पणी में इसको खड्गादिरूप आयुध कहा है[5] । ऐ०ब्रा० में वज्र तैयार करने के विषय में कहा गया है, कि देवों द्वारा प्रथम दिन वज्र का `संभरण` अर्थात् संपादन किया गया, द्वितीय दिवस `सिंचन` अर्थात् पैना किया गया और तृतीय दिवस इन्द्र को दिया गया, तब चतुर्थ दिन इन्द्र ने शत्रु पर उससे प्रहार किया[6] । ऋ०ब्रा० में वज्र का इन्द्र के आयुध के रूप में सीधा प्रयोग कम ही मिलता है । इनमें यज्ञों के प्राधान्य के कारण यज्ञों से सम्बन्धित वस्तुओं -- यूप, हिंकार, वषट्कार सामिधेनी, षोडशी, अग्निष्टोम, वाक्, आयु आदि को भी वज्र ही कहा गया है[7] । ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वज्र प्रभावशाली एवं शत्रुओं का विनाश करने वाला माना गया है, उसी प्रकार उपर्युक्त यज्ञीय वस्तुएं भी वज्र के समान अत्यन्त

---

१ ऐ०ब्रा० १.४.८ चतु: संधिर्ह्यनीकं शल्यस्तेजनं पर्णानि ।

२ ,, २.६.२ इन्द्रस्य वज्र

३ ,, २.६.१

४ ,, २.१०.३ वज्रमेव तत्परोवरीयांसं करोति समस्यत्येवोत्तरे पदे आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमा ।

५ ,, (क) २.१०.३

६ ,, ४.१६.१ देवा वै प्रथमेनाह्नेन्द्राय वज्रं समभरन्... तं चतुर्थेऽहन् प्राहरत

७ ,, २.६.१,३; २.७.६;२.८.३; २.९.४; ३.११.६;३.११.८

शां०ब्रा० ३.२,५; ७.२; १०.१; २; ११.१; १५.४; १७.१

प्रभावपूर्ण घोषित करने के हेतु वज्र रूप कही गई हैं ।

ऋ० में[1] भी इन्द्र के आयुध के रूप में वज्र के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं । ऋ० में वज्र को कहीं स्वर्णनिर्मित[2] कहीं हरित कहीं[3] लौह निर्मित तथा चार कोण वाला[4] (चतुरश्री) सौ जोड़ों वाला[5] (शतपर्वन्), सौ कोणवाला[6] (शताश्रित), एवं सहस्र धाराओं वाला[7] (सहस्रभृष्टि) कहा गया है । वज्र को देवशिल्पी त्वष्टा द्वारा तथा काव्य उशना द्वारा बनाये जाने का उल्लेख है[8] । अतः वज्र एक नितान्त कल्पित आयुध ही प्रतीत होता है, जो असम्भव को सम्भव बनाने में दैवी शक्ति के प्रदर्शन का स्वरूप है । वज्र तथा आकाशीय विद्युत (तड़ित) का साथ बताया जाता है । सम्भवतः प्रहार द्वारा तड़ित के उत्पन्न करने के प्रसंग में वज्र की कल्पना की गई है ।

अंकुश -- ऐ०ब्रा० में एक बार अंकुश का भी प्रयोग आया है । जल में से सामान निकालने के लिए उसका प्रयोग किए जाने का उल्लेख है[9] । किन्तु ऋ० में अंकुश इन्द्र के आयुध के रूप में आया है, जिससे यजमानों को धन पहुंचाने[10] तथा शत्रुओं के हाथियों को वध[11] करने के लिए उल्लेख है । अंकुश की आकृति के विषय में उल्लेख नहीं मिलता । आजकल हाथी को नियंत्रण में रखने वाला आयुध अंकुश

---

१ ऋ० १०.२३.३; १.५७.२; १.८५.६; ८.५७.३
२ ऋ० १०.६६.३
३ ऋ० १.५२.८,
४ ऋ० ४.२२.२
५ ऋ० १.८०.६; ८.६.६; ६५.२; ७८.४
६ ऋ० ६.१७.१०,
७ ऋ० १.८०.१२; ५.३४.२
८ ऋ० १.३२.२; ६१.६; १.१२१.१२; ५.२४.२
९ ऐ०ब्रा० ५.२२.६ अंकुश आसंजनाय ।
१० ऋ० ८.१७.१०
११ ऋ० १०.४४.६

कहलाता है,जो एक या डेढ़ फुट लम्बा और भाले के समान पैनी नुकीली नोक वाला होताहै, उसके बीच में मुड़ा हुआ लोहा लगा होता है,कदाचित् य इसलिए कि हाथी के मस्तक में मारने के समय आवश्यकता से अधिक अन्दर न जा सके । जल से वस्तु निकालने वाले काटों के लिए भी `अंकुश` शब्द का प्रयोग किया जाता है ।ऐसा प्रतीत होता है कि आयुध के रूप में प्रयुक्त होने वाला अंकुश हाथी को वश में रखने वाले अंकुश के समान होता होगा, जो छोटे से भाले के समान हाथ में रखकर मारने के काम में लाया जाता रहा होगा ।

परशु -- श०ब्रा० में परशु शब्द का उल्लेख है । परशु से क्रूरता से काटने का प्रसंग आया है[1] । यह काटने के लिए प्रयोग किया जाता था । ऋ० में परशु द्वारा लकड़ी तथा वृक्ष काटने का भी उल्लेख है[2] । परशु वज्र तथा दण्ड के समान पकड़ने के स्थान पर पतला तथा नीचे मारने के स्थान पर चौड़ा होता था[3] । `परशु` शब्द जनसामान्य में प्रचलित हिन्दी का `फरसा` शब्द प्रतीत होता है ।

दण्ड -- ऐ०ब्रा० में दण्ड का एक शस्त्र के रूप में उल्लेख है,जिसकी वज्र और परशु के साथ चर्चा है[4] । परशु तथा वज्र के समान दण्ड को भी पकड़ने के स्थान पर पतला और नीचे मारने के स्थान पर चौड़ा कहा गया है[5] । सायण ने टीका[6] में स्पष्ट करते हुए इसको `गदा` कहा है, (दण्ड शब्देन गदा विवक्षिता)। साधारणतया जनसामान्य में दण्ड शब्द डण्डे के लिए प्रयोग में आता है । भारत

---

१ शां०ब्रा० १० .१ इदं परशुना क्रूरीकृत इव तष्ट इव भवति

२ ऋ० ६ .४७ .३०; ६ .३ .४; १ .१२७ .३; १ .१३० .४; १० .४३ .६; ८ .७३ .१७.

३ ऐ०ब्रा० २ .१० .३ आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमा

४ ऐ०ब्रा० २ .१० .३ आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमाऽथो दण्डस्य

५ तत्रैव

६ ऐ०ब्रा०(क) २ .१० .३

में दण्ड को साथ रखने का बहुत प्रचलन है । यहाँ तक कि,यज्ञोपवीत किए जाने वाले ब्रह्मचारियों द्वारा विविध काष्ठों से निर्मित दण्ड धारण किये जाते थे तथा सन्यासियों द्वारा भी यह धारण किया जाता था ।

असि,शास -- ऐ०ब्रा० में शुन:शेप को मारने के प्रसंग में `असि` शस्त्र का प्रयोग हुआ है ।[1] `असि` को `शास` भी कहा गया है[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि `असि` और `शास` एक ही आयुध के पर्यायवाची शब्द हैं । यह शस्त्र मनुष्य अथवा बलि पशु आदि को मारने काटने के लिए प्रयोग में आया है[3] । इससे प्रकट होता है कि यह भी मारने काटने के लिएप्रयोग में आने वाला शस्त्र था । `असि` और `शास` शब्द तलवार के अर्थ में भी प्रयोग किये जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द तलवार या तलवार जैसे शस्त्र के लिए प्रयोग किये जाते थे ।

ऋ०ब्रा० में इससे अधिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । ऋ० में इनके अतिरिक्त शत्रु को मारने के लिए कृपाण, मरुतों का शस्त्र ऋष्टि आदि का भी उल्लेख है । आगे जाकर शस्त्रों के अधिक विकास होने पर और भी विकसित रूप मिलते हैं । शुक्रनीति में दो प्रकार के आयुधों का उल्लेख है--अस्त्र और शस्त्र । मन्त्र,यन्त्र और अग्नि द्वारा फेंककर प्रयोग किये जाने वाले आयुधों को अस्त्र कहा गया तथा असि,कुन्तादि को शस्त्र कहा गया है । अस्त्रों को फिर दो प्रकार का कहा गया है । नलिका द्वारा फेंके जाने वाले `नालिक` तथा मन्त्र द्वारा फेंके जाने वाले `मान्त्रिक` ।

ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में अस्त्र शस्त्रों का इस प्रकार का सुव्यवस्थित पृथक् उल्लेख नहीं उपलब्ध होता है । यद्यपि अस्त्र,शस्त्रों के प्रयोगों

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.४ सोऽसिं निः शान स्याय ।

२ ,, ७.३३.५ अदर्शुस्त्वा शासहस्तं

३ तत्रैव

का उल्लेख है । ऋ० में उल्लेख है, "हे मन्त्र प्रेषित बाण, जाओ, और शत्रुओं को नष्ट कर दो"[1] । "जहाँ पर तीक्ष्ण बाण अग्नि के समान शत्रुओं पर गिरते हैं"[2] । "मन्त्र रूपी कवच मेरे अन्तर की रक्षा करे"[3] । तैत्ति० सं० तथा अथर्व सं० में विषाक्त बाणों तथा आग्नेय अस्त्रों के प्रयोग का उल्लेख है[4] । आगे महाभारत युद्ध में विविध अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगों का उल्लेख है[5] । इस प्रकार ऋ०ब्रा० से पहले और बाद के उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋ०ब्रा० काल में भी विविध अस्त्र,शस्त्रों का प्रयोग होता होगा ।

राजत्व सम्बन्धी यज्ञ

राजसूय -- कुछ यज्ञ केवल राजनैतिक दृष्टिकोण से ही किए जाते थे, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि । ये यज्ञ राजत्व, सम्राटत्व, महाराजत्व सार्वभौमत्व आदि की प्राप्ति हेतु किये जाते थे ।

राजसूय यज्ञ का केवल क्षत्रियों द्वारा संपादित किए जाने का उल्लेख है[6] । यह यज्ञ राजकीय प्रतिष्ठापन संस्कार के लिए किया जाता था । इसका विस्तृत वर्णन ऐ०ब्रा० में सातवीं पंजिका (१३ वें खंड से) तथा आठवीं पंजिका में दिया गया है । इसके अतिरिक्त तैत्ति० सं०(१.८.१-२२),शत० ब्रा० (५.२.३-५), शांखा०श्रौ०सू०(१५.१२) तैत्ति०ब्रा० (१.४.६-१०)आश्व०श्रौ० सू०(६.३-४)कात्या० श्रौ०सू०(१५.१-६)लाट्या०श्रौ०सू०(८.११.१) तथा बौधा० श्रौ०सू० आदि में भी सविस्तार इसका वर्णन है ।

---

१ ऋ० ६.७५.१६ शरव्ये ब्रह्मसंशिते गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व

२ ऋ० ६.७५.१७ यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव

३ ऋ० ६.७५.१९ ब्रह्म वर्म ममान्तरं

४ तैत्ति०सं० १.५.७.६
अथर्व सं० ४.६.५,६,७

५ महाभा० युद्धपर्व

६ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ से आठवीं पंजिका तक

शांखा०श्रौ०सू० में उल्लेख है कि जो राजसूय यज्ञ करता है, वह राजा सभी राज्यों में श्रेष्ठता और आधिपत्य प्राप्त करता है[1]। शत०ब्रा० में उल्लेख है, कि राजसूय यज्ञ करने से राजा होता है, और वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट होता है । राज्य अवर साम्राज्य परम होता है । राजा सम्राट होने की कामना करता है, किन्तु सम्राट राजा होने की नहीं[2]। शत०ब्रा० में कहा गया है कि वाजपेय यज्ञ करके राजसूय यज्ञ न करें, क्योंकि यह ऐसा ही है, जैसे सम्राट् होकर राजा हो[3]।

राजसूय यज्ञ, जिसमें राजा का पुनः अभिषेक किया जाता था, सोमयज्ञ का एक विस्तृत एवं संयुक्त रूप समझा जा सकता है । यह केवल सोमयज्ञ ही नहीं होता था, वरन् राजकर्तृक यज्ञ होता था, जिसमें सोमयाग और राजसूययज्ञ दोनों अन्तर्निहित थे । इनमें अनेक इष्टियां पृथक्-पृथक् सम्पादित की जाती थी, और यह एक दीर्घ अवधि (दो वर्षों से भी अधिक अवधि) तक चलता रहता था । अश्वा०शांखा०कात्या०श्रौतसूत्रों आदि में जिनमें राजसूय का वर्णन किया गया है, दो वर्ष से ऊपर तक किये जाने वाले विविध विधानों का उल्लेख है[4]। ऐ०ब्रा० में राजसूय यज्ञ का अधिक विस्तार से वर्णन नहीं किया गया है । सोमयज्ञ करने वाले राजा का पुनरभिषेक और ऐन्द्रमहाभिषेक तथा ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त प्रतापी राजाओं का उल्लेख है । इसी बीच अभिषिक्त राजा को शुनःशेप की कथा सुनाई जाती थी । कहा गया है कि इससे राजा को यश प्राप्त होता था और पाप नष्ट हो जाता था, विजय की

---

१ शां०श्रौ०सू० १५.१३.१ यद्राजसूयेन यजते सर्वेषां राज्यानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्याधिपत्यं पर्येति ।

२ शत०ब्रा० ५.१.१.१३ राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति, सम्राट
 कात्या०श्रौ०सू० १५.१.१.२ वाजपेयेन । अवरं हि राज्यं... राजा भवितुं

३ शत०ब्रा० ६.३.४.८ वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत...तादृग् तद् ।

४ काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ०५६१

कामना से सुनने वालों को बिना राजसूय के विजय प्राप्त होती थी, तथा सन्तान की कामना से सुनने वालों को सन्तान की प्राप्ति होती थी[1]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जब देवयज्ञ करते थे, तो स्थान की याचना राजा से करते थे, प्रश्न था कि जब राजा स्वयं यज्ञ करे तो वह किससे याचना करे? उल्लेख है कि राजा को दिव्य क्षत्र, क्षत्रों के अधिपति आदित्य से याचना करनी होती थी[2]। राजा पृथ्वी का अधिपति माना जाता था, किन्तु यज्ञ-कार्य सम्पादन हेतु उसे भी भूमि याचना करनी होती थी। जैसा कि आगे यज्ञीय प्रक्रियाओं से पुष्टि होगी, राजा को शासन करने का कोई दैवी उत्तराधिकार अनायास ही प्राप्त नहीं था, वरन् उसे देवकृपा से यज्ञ द्वारा अर्जित करना होता था। अनेक प्रक्रियाएं प्रतीकात्मक हैं, और राजा से अनेक गुणों की अपेक्षा की जाती थी।

देवस्थान की याचना करने के पश्चात् राजा को इष्टापूर्त आहुतियां देनी होती थीं[3]। ये आहुतियां निर्विघ्न यज्ञ समाप्त होने की तथा यज्ञ का पूर्ण फल प्राप्त करने की इच्छा से दी जाती थीं[4]। किसी कार्य के आरम्भ में मंगलकामना करने के समान ही यह प्रतीत होती है।

यज्ञ से पूर्व राजा को दीक्षा दी जाती थी[5]। दीक्षा का निवेदन पुरोहित के ऋषि के नाम से किया जाता था[6], तथा उसी

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३३.६ यशसैवेनं तत्समर्धयति... पाप्मभिनस: प्रमुंचति... यो राजा विजितो स्यादप्ययजमान आख्यापयेत... लभन्ते ह पुत्रान्।

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१ २ देव क्षत्र याचेत... आदित्यो वै दैवं क्षत्र...।

३ ऐ०ब्रा० ७.३४.३

४ तत्रैव

५ ऐ०ब्रा० ७.३४.७

६ तत्रैव

का प्रवर भी कहा जाता था,[१] क्योंकि यज्ञ करने वाले राजा को उस समय ब्रह्मत्व युक्त माना जाता था।[२] राजा अपने आयुधों को छोड़कर यज्ञ में ब्राह्मण के (यज्ञीय) आयुधों को ग्रहण करता था।[३]

यज्ञ में भक्ष प्रसंग में सोम, दधि, तथा जल को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का भक्ष बताया है तथा न्यग्रोध (बड़) की नीचे लटकने वाली जड़ें और फल, उदुम्बर प्लक्ष एवं अश्वत्थ के फल तथा इन सबका रस राजा को भक्ष कहा गया है।[४] न्यग्रोध के रस को सोम का रूपान्तर कहा गया है,[५] और सोम का प्रतिनिधि रूप माना गया है।[६] न्यग्रोध जिस प्रकार नीचे अपनी जड़ें जमाकर फैलता जाता है, उसी प्रकार इसका रसपान करने वाले राजा की भी राष्ट्र में प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है और राज्य सुदृढ़ हो जाता है।[७] न्यग्रोध को वनस्पतियों में क्षत्र युक्त माना गया है।[८] उदुम्बर को अत्यधिक रस वाला एवं ओजयुक्त, अश्वत्थ को वनस्पतियों का राजा एवं तेजयुक्त, प्लक्ष को वनस्पतियों का साम्राज्य तेज, एवं यश से युक्त कहा गया है।[९] इनको भक्ष करने वाला राजा भी इन सबों से सम्पन्न हो जाता था,[१०] ऐसा माना जाता था।

सोमयज्ञ में सोम रस तैयार करने के सम्पूर्ण उपकरणों से सोम तैयार करने के समान उपर्युक्त न्यग्रोध आदि के रस को तैयार करके प्रातः

---

१ तत्रैव

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१

३ तत्रैव -- ब्राह्मण एवाऽऽयुधैर्ब्राह्मणरूपेण ब्रह्म भूत्वा यज्ञमुपावर्तते

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.३--६

५ ,, ७.३५.५ एष सोम राजा यन्न्यग्रोधः

६ तत्रैव -- परोक्षेणैव सोमपीथमाप्नोति

७ तत्रैव --क्षत्रियो राष्ट्रे वसन्... प्रतिष्ठितः... न्यग्रोधोऽवरोहैर्भूम्यां प्रतिष्ठित इव

८ तत्रैव -- क्षत्रं वा एतद्... यन्न्यग्रोधः

९ ऐ०ब्रा० ७.३५.६

१० तत्रैव

सवन तथा माध्यन्दिन सवन में ऋत्विज द्वारा सोम पान करने के समान फलों के रस का पान राजा द्वारा करने का विधान था[1]। उल्लेख है कि इन फलों के रस को राजा सोम-पान ब मानकर भक्षण करे[2]।

राजसूय यज्ञ में सोम यज्ञ के समान तीन बार सोम सवन, स्तोत्र-शस्त्र पठन, आदि कृत्य होते थे। तत्पश्चात् अभिषेक आदि किया जाता था। अभिषेक के लिए सिंहासन तैयार किया जाता था[3], जिसे 'आसन्दी' कहा जाता था[4]। 'आसन्दी' उदुम्बर की लकड़ी की बनाई जाती थी। उसके पाये 'प्रादेश' मात्र (अंगूठे और उसके पास की अंगुली के बीच के स्थान के बराबर) लम्बे होते थे[5], 'अरत्नि' मात्र (द्वाविंशत अथवा आधा हाथ, अथवा दो प्रादेश मात्र) लम्बा शीर्ष बनाया जाता था[6]। मूंज से बुना जाता था[7]। उसपर व्याघ्र चर्म बिछाया जाता था[8]।

अभिषेक के लिए उदुम्बर की लकड़ी का बना 'चमस' होता था[9]। उदुम्बर के वृक्ष की शाखा लाई जाती थी[10]। उदुम्बर के चमसे में दधि, मधु, घृत, धूप में बरसने वाले मेघ का जल, शष्प(घास) तोक्म(जौ के अंकुर) सुरा और दूब आठ वस्तुयें होती थीं[11]।

---

१ तत्रैव - एतान्यस्य ... परिशिष्यात्

२ ऐ०ब्रा० ७.३५.६, ७,८

३ ,, ८.३७.१

४ तत्रैव औदुम्बर्यासन्दी

५ तत्रैव - तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युः

६ तत्रैव - अरत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि

७ तत्रैव - मौञ्ज विवयनं

८ तत्रैव - व्याघ्रचर्माऽऽस्तरणम्

९ तत्रैव - औदुम्बरश्चमस

१० तत्रैव - उदुम्बर शाखा

११ तत्रैव - चमसेऽष्टातयानि निषुतानि भवन्ति दधि ... सुरादूर्वा

~~१२ तत्रैव - स्फ्यवर्तनिर्वेदिर्भवति ... आसन्दीं प्रतिष्ठापयति~~

वेदी के पास 'स्फ्य' से रेखा खींची जाती थी, उसपर आसन्दी रखी जाती थी[1]। आसन्दी के दो पाये वेदी की रेखा के अन्दर और दो पाये रेखा के बाहर रखे जाते थे। आसन्दी के नीचे वेदी के अन्दर की भूमि श्री (संपद्) स्वरूप मानी जाती थी, जो परिमित और अल्प होती थी, और जो भूमि वेदी के बाहर होती थी, वह अपरिमित रूप की बोधक होती थी। वेदी के अन्दर वाली भूमि वेदी के मध्य से प्राप्त होने वाली कामनाओं को पूर्ण करने वाली मानी जाती थी, वह बाहर की कामनाओं को पूर्ण करने वाली मानी जाती थी[2]।

आसन्दी के ऊपर व्याघ्रचर्म को पूर्वाभिमुख ग्रीवा करके तथा लोमभाग ऊपर को रखते हुए बिछाया जाता था[3]। व्याघ्र को पशुओं में क्षत्रिय के समान माना गया है। अतः व्याघ्र चर्म द्वारा राजा के क्षत्र की समृद्धि होती थी, ऐसा माना जाता था[4]। इस प्रकार निर्मित एवं सज्जित आसन्दी को इन्द्र महाभिषेक में वर्णित (आगे देखिए) इन्द्र की उदुम्बर आदि से निर्मित आसन्दी के समान ही मन्त्र से अभिमन्त्रित किया जाता था[5]। आसन्दी के तैयार हो जाने पर राजा उसपर निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर बैठता था, 'हे आसन्दी, मैं तुझ पर अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र, विश्वेदेवों के तुझपर आरूढ़ होने के पश्चात् राज्य, साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य आतिष्ठ के लिए आरोहण करता हूं[6]।'

---

१ तत्रैव -- स्फ्यवर्तनिर्वेदिर्भवति... आसन्दीं प्रतिष्ठापयति

२ तत्रैव -- तस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ... बहिर्वेदि द्वे... एतत्परिमितं रूपं यदन्तर्वेदिअथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदि यश्च बहिर्वेदि।

३ ऐ०ब्रा० -- ८ ३७ २ व्याघ्रचर्मणा उत्तरलोम्ना प्राचीनग्रीवेण...।

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.२ क्षत्रं वा... यद्व्याघ्रः... क्षत्रं समर्धयति।

५ ,, ८.३९.३ अथ... आसन्दीं... अभिमन्त्रयेत

६ ,, ८.३७.२ अग्निष्ट्वा... तानहमनु... आरोहामि।

६ ,, ८.३९.३.

राजा के सिंहासनारूढ़ होने पर इन्द्र के अभ्युत्क्रोशन और घोषणा के समान(आगे ऐन्द्रमहाभिषेक में देखिए) राजा को भी अभ्युत्क्रोशित और घोषित करके उत्तेजित करते हुए उसके साम्राज्य आदि पदों एवं विश्व का रक्षक आदि कार्यों की घोषणा करके राजा का अभिषेक किया जाता था[1]। अभिषेक के समय जलों का आह्वान करके उदुम्बर की शाखा को राजा के शिर पर रखकर, पूर्वोक्त आठ वस्तुओं और जलों से पुरोहित राजा का अभिषेक करता था[2]। न्यग्रोध उदुम्बर,अश्वत्थ,प्लाक्ष,व्रीहि, महाव्रीहि,प्रियंगु यव आदि से क्षात्र[3] दधि से इन्द्रिय, मधु से रस, घृत से तेज,जल से अमृतत्व को धारण कराता था[4]। अभिषेक के पश्चात् राजा सुरापान करता था। पीने से बची हुई सुरा को मित्र को दे देता था[5]।

सुरापान के पश्चात् राजा उदुम्बर की शाखा को देखते हुए आसन्दी से नीचे पैर करके अपने उतरने के घोषणा मन्त्र को पढ़ते हुए आसन्दी से नीचे उतरता था[6]। नीचे उतर कर पूर्वाभिमुख खड़े होकर ब्राह्मण को प्रणाम करके अपनी जिति,अभिजिति,विजिति तथा संजिति के लिए मन्त्र पढ़ता था[7]।

अभिषेक के प्रसंग में राजा के युद्ध में जाने के प्रतीक स्वरूप युद्ध का अभिनय किया जाता था। युद्ध में जाते समय रथारूढ़ राजा पुरोहित

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३६.३

२ ,, ८.३७.३,४

३ ,, ८.३७.४

४ ,, ८.३७.४ अथास्मै सुराकंसं हस्त आदधाति।

५ तत्रैव -- पीत्वा यं रातिमन्येत तस्मा एनां प्रयच्छेत्तद्धि मित्रस्य रूपं मित्र एवैनां... मित्रे प्रतितिष्ठति।

६ ऐ०ब्रा० ८.३७.५ अथोदुम्बरशाखामभि प्रत्यवरोहति...प्रतितिष्ठामि...त्रिषु लोकेषु तिष्ठामि।

७ तत्रैव

से कहता था कि ऐसा करो कि मैं सेना को एवं संग्राम को जीत जाऊं[1]। राजा के कहने पर पुरोहित उसके रथ को स्पर्श करके मंत्रों को पढ़ता था,[2] तथा दिशा निर्देशन करता था[3]। इस प्रकार राजा विजयप्राप्ति का अभिनय करता था।

देश से निकाला गया राजा यदि राजसूय यज्ञ करे तो विधान है कि वह पुरोहित से कहे, ऐसा करो कि मैं अपने राष्ट्र को लौट आऊं[4]। ऐसा कहने पर पुरोहित राजा को उत्तर पूर्व की दिशा में जाने और वहां के राजा से मदद लेने के लिए कहता था। इस प्रकार वह अपने राष्ट्र को पुनः प्राप्त करने का अभिनय करता था[5]।

इस प्रतीकात्मक युद्ध से लौटते समय राजा मन्त्र विशेष को पढ़ते हुए अपने भवन को लौटता था। घर जाकर इन्द्र को आहुतियां देता था,[6] जिससे वह रोगरहित, शत्रुरहित, द्रव्यहानि से मुक्त और अभय को प्राप्त हो। तत्पश्चात् राजा गाय, अश्वादि पशुओं तथा हजारों की दक्षिणा देने वाले वीर पुत्रों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता था[7]।

उल्लेख है कि ऋत्विक यदि चाहे कि राजा सब (व जातों) को जीत ले सब लोकों को प्राप्त करले, सब राजाओं में श्रेष्ठ और

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.६

२ तत्रैव-- रथोपस्थमभिमृश्याथैनं ब्रूयात् । आतिष्ठस्वैतां सोऽभ्यमित्रमिति ।

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.६ मधुवा एनमुतथावेद्राष्ट्रादपरुध्यमानस्तथामे कुरु यथाऽहमिदं राष्ट्रं पुनरवगच्छानी ... राष्ट्रं पुनरवगच्छति ।

५ तत्रैव

६ तत्रैव--एत्यगृहान् पश्चात् ... जुहोति अनार्त्यां अरिष्टया अज्यान्या अभयाय ।

७ ऐ०ब्रा० ८.३७.७

और बड़ा हो जाय, साम्राज्य आदि सब राज्य पदों को प्राप्त कर ले, सब जगह उसकी पहुंच हो, सार्वभौम हो, सम्पूर्ण आयु प्राप्त करने वाला हो, समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण आयु प्राप्त करने वाला हो, समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी का 'एकराट्' राजा हो,[1] तो वह उस राजा को ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त करे तथा उससे शपथ ले, कि "जिस रात्रि को तू पैदा हुआ और जिस रात्रि को मरेगा, उन दोनों के मध्य, जो कुछ तूने पुण्य कृत्य किये थे, वे सब तथा आयु और सन्तान आदि सबसे रहित हो जायगा, यदि मुझसे द्रोह करेगा।[2] अभिषेक के अन्त में अभिषिक्त राजा अभिषेक करने वाले ऋत्विज को सोना, सहस्र गायें और खेत दक्षिणा में दे।[3] यह भी कहा जाता कि अपरिमित दक्षिणा दे, क्योंकि क्षत्रिय राजा[4] देश धन आदि से अपरिमित होता है, और इससे अपरिमित फल प्राप्ति होगी। आगे वर्णित ऐन्द्रमहाभिषेक से कर्मकाण्ड के प्रतीकों पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

ऐन्द्रमहाभिषेक -- देवों में इन्द्र को ओजस्वी, साहसी, पराक्रमी, मानकर सब देवोंने[5] इन्द्र को राजा मानकर महाभिषेक करना तय किया। इन्द्र के लिए ऋचाओं से बनी, वेदमयी आसन्दी तैयार की गई।[6] देवताओं ने बृहद् रथन्तर सामों को सिंहासन के अगले दो पाये, वैरूप और वैराज को पिछले दो पाये, शक्वर, रैवत को ऊपर का शीर्ष, नौधस और कालेय को बगल के तख्ते, ऋचाओं को ताना, साम का बाना, यजुओं को बीच का भाग, यश को बिछौना, श्री को तकिया

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३६.१ स य इच्छेत... अभिषिञ्चेत् ।

२ तत्रैव -- यां च रात्रिं... यदि मे द्रुह्येः ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३६.६ सो भिषिक्तो भिषेक्त्रे ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात् सहस्रं दद्यात् क्षेत्रं चतुष्पाद्दद्यात्... ।

४ तत्रैव--असंख्यातमेवापरिमितं दद्यात् अपरिमितो वै क्षत्रियो परिमित स्यावरुद्ध्या।

५ ऐ०ब्रा० ८.३८.१ अयं वै ओजिष्ठो... इममेवाभिषिंचामहाइति ।

६ तत्रैव

बनाया[१] । सविता और बृहस्पति ने उसके आगे पाये पकड़े, वायु और पूषा ने पिछले । मित्र और वरुण ने दो ऊपर के तख्ते और अश्विनों ने दो काल के तख्ते पकड़े[२] । इन्द्र ने उसपर वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवों, मरुत, अंगिरा, आदि के बाद आरोहण किया[३] ।

इन्द्र के सिंहासनारूढ़ हो जाने पर देवों ने इन्द्र को उत्तेजित करते हुए एवं प्रशंसा करते हुए इन्द्र के पदों का उच्च स्वरों से घोषणा की कि साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य के लिए क्षत्रिय उत्पन्न हो गया है । सम्पूर्ण प्राणि जगत का अधिपति विशों का भोक्ता, असुरों का हन्ता, ब्राह्मणों और धर्म का रक्षक उत्पन्न हो गया[४] । इस प्रकार घोषणा किए जाने के पश्चात् प्रजापति ने स्वर्ण के पवित्र को धारण कर मन्त्रों द्वारा उडुम्बर और पलाश की आर्द्र शाखा से उसका अभिषिंचन किया[५] । वसुओं ने पूर्व दिशा में इन्द्र का अभिषेक साम्राज्य के लिए, रुद्रों ने दक्षिण दिशा में भोज के लिए, आदित्यों ने पश्चिम दिशा में स्वाराज्य के लिए, विश्वेदेवों नेवे उत्तर दिशा में वैराज्य के लिए, बीच की ध्रुवा दिशा में साध्य और आप्तों ने राज्य के लिए, मरुतों और अंगिराओं ने ऊर्ध्व दिशा में पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य और स्वावश्य के लिए इन्द्र का अभिषेक किया[६] । इन्द्र ने इस महाभिषेक से सबको जीत लिया ।

ऐन्द्र महाभिषेक में अभिषेक तथा सुरापान आदि का राजा के पुनराभिषेक के समान ही उल्लेख है । सुरापान के लिए कहा गया है

---

१ तत्रैव

२ तत्रैव–सविता बृहस्पतिश्च ... अश्विनावमुच्ये ।

३ तत्रैव––वसवस्त्वागायत्रेण ... आरोहामि

४ तत्रैव––तमेतस्यामासन्धामासीनं ... अजनोति ।

५ ऐ०ब्रा० ८.३८.२ तम ... प्रजापतिः पुरस्तात्तिष्ठन ... औदुम्बर्याऽऽर्द्रया शाखया सपलाशया जातरूपमयेन च पवित्रेणान्तर्धायाभ्याषिंचत

६ ऐ०ब्रा० ८.३८.३ अथैनं प्राच्यां दिशि वसवो देवाः ... समभवत् ।

कि जिस प्रकार पुत्र पिता का एवं पत्नी पति का स्पर्श पाकर आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त राजा सुरा का पान करके और अन्नादि को खाकर आनन्दित होता था[1]।

ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त होकर सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाले, गंगा जमुना के किनारे अनेक अश्वमेध यज्ञ करने वाले, विविध प्रकार का अपरिमित दान देने वाले जनमेजय शार्यातिमानव, शतानीक सात्राजित, विश्वकर्मा भौवन, सुदासपैजवन, अंग, भरतदौष्यन्ति पांचाल आदि अनेक राजाओं का वर्णन किया गया है[2]।

वाजपेय -- वाजपेय यज्ञ सोमयज्ञ का एक प्रकार कहा गया है। सोमयज्ञ की सात संस्थायें बताई गई हैं--अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम[3]। वाजपेय यज्ञ उक्थ्य के समान है, उसमें उक्थ्य से दो स्तोत्र अधिक होते थे। अतः वाजपेय को अतिउक्थ्य भी कहा जाता था[4]। उक्थ्य में १५ स्तोत्र पढ़े जाते थे, किन्तु वाजपेय में सत्रह पढ़े जाते थे। शां०ब्रा० में उल्लिखित है कि वाजपेय में उक्थ्य से अधिक रात्रि होती है[5]। वाजपेय यूप सत्रह अरत्नि तथा अष्टकोण का बनाया जाता था[6]। वाजपेय यज्ञ में सत्रह की संख्या को प्रमुखता प्राप्त थी।

इन ऋ०ब्रा० में वाजपेय यज्ञ का केवल सोमयज्ञ के एक प्रकार के रूप में उल्लेख है, और राजसूय के समान राजत्व सम्बन्धी यज्ञ के

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३९.६ तद्यथाद: प्रिय: पुत्र: पितरं प्रिया वा जाया पतिं सुखं शिवमुपस्पृशति ... सुरा वा सोमो वाऽन्यद्वाऽन्नाद्यं सुखं शिवम्...।

२ ऐ०ब्रा० ८.३९.७-९

३ ,,(क) ३.१५.५

४ ,, ३.१४.३ उक्थ्यमपि यन्त्यमनु वाजपेयोऽपि सत्यत्युक्थ्यो हि स भवति।

५ शां०ब्रा० ३०.११ रात्रिर्वाजपेयस्य चातिरिक्तोक्थ्यम्...।

६ ,, १०.१ वाजपेय यूप...सप्तदशारत्नि: सोऽष्टाश्रिर्निष्ठितो भवति।

रूप में पृथक् महत्त्व प्रदर्शित नहीं किया गया है । वाजपेय के विषय में अन्य ग्रन्थों तैत्ति०सं०,तैत्ति०ब्रा०, वाजस० सं०,शत०ब्रा० ,आश्व०श्रौ०सू०,कात्या०श्रौ०सू०,आपस्त० श्रौ०सू०,लाट्यां०श्रौ०सू० आदि में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है । काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र का इतिहास'[1] में तथा कीथ ने 'वैदिक धर्म और दर्शन'[2] में इस सम्बन्ध में विशद् चर्चा की है और इसका राजत्व से सम्बन्ध स्पष्ट किया है, किन्तु ऋ०ब्रा० के आधार पर इस सम्बन्ध में प्रकाश डालना सम्भव नहीं है ।

अश्वमेध -- अश्वमेध यज्ञ की परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है । ऋ० १.१६२, १६३ सूक्तों में इसका उल्लेख मिलता है । ऋ०ब्रा० में सोमयज्ञ का वर्णन है । ऐ०ब्रा० में राजसूय यज्ञ का भी वर्णन है, किन्तु अश्वमेध के विधि-विधान का इनमें कोई उल्लेख नहीं है । ऐ०ब्रा० में राजसूय के अन्तर्गत ऐन्द्रमहाभिषेक के वर्णन में उसकी (अश्वमेध) प्रशंसा करते हुए उससे अभिषिक्त राजाओं द्वारा अश्वमेध किये जाने का उल्लेख है[3] । अत्यन्त प्रतापी राजा भरत दौष्यन्ति ने ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त होकर ५५ अश्वमेध यज्ञ गंगा के किनारे और ७८ अश्वमेध यज्ञ यमुना के किनारे किए[4] । इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि अश्वमेध यज्ञ प्रतापी राजाओं द्वारा अति प्राचीन-काल से किया जाता था । इसको करने से उनके प्रताप और बल में और भी अधिक वृद्धि होती थी । इस अश्वमेध यज्ञ का प्रचार बहुत बाद तक देखने में आता है । रामायण बालकाण्ड(१३-१४) में तथा महाभारत में आश्वमेधिकपर्व में इसका वर्णन है । ऐतिहासिक काल में शुंग सम्राट् पुष्यमित्र और सातवाहन राजा सातकर्णि द्वारा इसको किए जाने का उल्लेख है[5] ।

---

१ काणे--धर्मशास्त्र का इतिहास(हिन्दी)भाग१,पृ०५५७-५६०

२ कीथ--वैदिक धर्म और दर्शन(हिन्दी)भाग२,पृ ४१६-४२१

३ ऐ०ब्रा० ८.३९.७-९

४ ,, ८.३९.९ अष्टासप्ततिं भरतो.. यमुनामनुगंगायां...पंचपंचाशत ह्याब्

५ सत्यकेतुविद्यालंकार--भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

यज्ञीय पशुओं के बलि दिये जाने वाले विकास[१] को (आगे सांस्कृतिक अध्याय में देखिए) देखकर यह भी कहा जा सकता है कि अश्वमेध यज्ञों की परम्परा उस समय की है, जब यज्ञ में पशुरूप में अश्वों को ही बलि प्रदान हेतु अधिक प्रयोग किया जाता था, तथा आर्यों के जीवन में अश्वों का प्रमुख स्थान था।

अश्वमेध के विषय में शत०ब्रा०, तैत्ति०ब्रा० में वर्णन है। इनके अतिरिक्त सूत्रग्रन्थों में आप०श्रौ०सू०, का्त्या०श्रौ०सू०, आश्व० श्रौ०सू० आदि में भी इसके विषय में उल्लेख है।

राजसूय, अश्वमेध, तथा सोमयज्ञ आदि बड़े-बड़े यज्ञ राजाओं द्वारा ही किए जाते थे। ऐ०ब्रा० में तथा अन्य उपर्युक्त ग्रन्थों में भी ये यज्ञ राजाओं द्वारा किए जाने का उल्लेख है[२]।

राजत्व से सम्बन्धित यज्ञों के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऋ०काल राजा की शक्ति किसी रहस्यात्मक देवी स्रोत से नहीं, वरन् पुरोहित द्वारा सम्पादित याज्ञिक कर्मकाण्ड से पुष्ट होती थी। राजा का देवपुत्र, देवानां प्रिय आदि होने की परम्परा ऋग्वेदीय आर्यों में नहीं मिलती है। बाद के साहित्य तथा संस्कृति में यह कहां से उपस्थित हो गई, विचारणीय है। यूनानी, मिस्री तथा यहूदी प्राचीन सभ्यता में उसके सूत्र अवश्य विद्यमान थे। कहने का सारांश यह है कि ऋ० आर्यों में राजत्व दैविक न होकर अर्जित था। यद्यपि यज्ञों के प्रतीकों के पीछे रहस्यात्मक अवधारणाएं प्रयुक्त थीं, तथापि उनमें पुरोहित की सत्ता तथा सामाजिक आदर्शों का स्पष्ट झलक मिलती है।

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.८

२ ,, ७वीं एवं ८वीं पंक्ति

कॅ०काल में राजनैतिक इकाइयां स्पष्ट रूप लेने लगी थीं, क्योंकि आर्यों के जन(कबीले) के निवास स्थान समुचित स्थापित्व प्राप्त कर चुके थे। इन इकाइयों में प्रादेशिकता भी परिलक्षित होती है। जिनका आधार समान प्रकार के आर्यजनों का एक प्रदेश विशेष में बस जाना होगा। भौज्य, वैराज्य, स्वाराज्य आदि इस प्रकार के विभेद प्रतीत होते हैं। साथ ही साथ कुछ प्रभाव वातावरण का भी दीख पड़ता है। पश्चिमोत्तर दिशा में नीच्य-उपाच्य मानी जाने वाली राजनैतिक इकाइयों पर जनसमुदाय की विशेषता के साथ-साथ वातावरण द्वारा उपस्थित कठिनाइयों का भी कारण बन जाना सम्भव प्रतीत होता है। पूर्व दिशा के मैदानी उर्वर भाग में साम्राज्य की स्थापना इस प्रकार का अन्य उदाहरण है। शासनतंत्र जनतंत्र के आदि रूप से निकल कर सामन्तशाही राज्यों की ओर अग्रसर हो रहा था। राजा पूरी तौर पर वंशानुगत और निरंकुश न हो पाया था। पुरोहित का प्रभाव भरपूर था, किन्तु वह छिनने वाला था, क्योंकि उसकी सत्ता न मानने पर राजा को अभिशप्त तथा हानि उठाने की चेतावनी दी गई है।

-0-

अष्टम अध्याय

-o-

संस्कृति (१) : बाह्य पक्ष

भूमिका

भोजन -- अन्न -- अनाजसेबने भोज्य पदार्थ, धाना और लाजा, पुरोडाश, चरु, परिवाप, अपूप, यवाग्र, दुग्ध एवं दुग्ध निर्मित पदार्थ-- दुग्ध, दधि, व घृत, आंनाय्य, आमिक्षा एवं वाजिनम्, पयस्या मधु--शर्करा- मांस- फल और वनस्पति, पेय पदार्थ-- सोम, सुरा ।

पात्र एवं उपकरण-- महावीर एवं घर्म, स्थाली ।

वास्तुकला -- पुर-महापुर- आवास- गृह, ओकस् दुरोण, कूपां मार्ग- महापथ पन्था, स्तुति एवं ऊतियां, वेदियों का निर्माण ।

मनोरंजन के साधन --

संगीत-नृत्य-गीत-वाद्य

खेल- रथदौड़- प्रतियोगिता, दौड़-प्रतियोगिता, जुआ ।

चिकित्सा --

चिकित्सा तथा औषधि सम्बन्धी शब्द

देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार--अन्य वैद्य

प्राकृतिक चिकित्सा--जल, अग्नि, सूर्य

विषाक्त एवं दूषित पदार्थ

गर्भस्थ जीवन से शिशु जीवन तक का विकास

विविध रोग

शिक्षा --

आश्रम व्यवस्था-- शिक्षा व्यवस्था-- स्त्री शिक्षा

-o-

अष्टम् अध्याय

-:-

संस्कृति (१) : बाह्य पक्ष

यद्यपि 'संस्कृति' शब्द सामान्यरूप से सरल प्रतीत होता है, तथापि वास्तविकता ऐसी नहीं है। यह अत्यन्त जटिल प्रत्यय का बोधक है। इसके अन्तर्गत सभ्यता के आधार, विचारों के स्रोत, परम्पराओं की पुष्टि, जीवन के खान-पान, रहन-सहन आदि सम्बन्धी आचरणों के मूल इत्यादि सभी कुछ अंतर्भूत है[१]। यहाँ हमारा आशय इसकी व्याख्या करना नहीं है, केवल यह मानकर चलना है कि इस प्रत्यय को प्रयोग करने के लिए इसकी कुछ सीमायें निर्धारित करना आवश्यक है।

संस्कृति का प्रधान तत्त्व सीखना है। प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण में रहकर मानव स्वत: अनुभव से सीखता है और अपने विचारों तथा आचरणों को बनाता है, तथा उन पर अभ्यास करता है। संस्कृति समाज तथा व्यक्ति की एकात्मकता का परिणाम है। इसके अनेकानेक पक्ष हो सकते हैं। सुविधा के लिए इस अध्ययन में उन्हें दो प्रधान वर्गों में बांटा गया है -- भौतिक पक्ष तथा अध्यात्म पक्ष। इन्हें बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष भी कह सकते हैं। भौतिक अथवा बाह्यपक्ष के अन्तर्गत भोजन, वेशभूषा, आवास, स्वास्थ्य रक्षा, मनोरंजन आदि पर विचार करेंगे, जब कि अध्यात्म अथवा आन्तरिक पक्ष के सन्दर्भ में धार्मिक विश्वास, यज्ञ-कर्म, साधना, ज्ञान-विज्ञान आदि के बारे में अध्ययन करेंगे।

---

१ संस्कृति वह जटिल समग्ररूप है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि-विधान, परम्परायें आदि अन्य अनेक समाज में रहकर मानव द्वारा अर्जित योग्यतायें निहित हैं (टायलर : प्रिमिटिव कल्चर, ब्रेन्टानो, न्यूयार्क, सातवां संस्करण, पृ० १)

भोजन

भोजन, वस्त्र, आवास तीन प्राथमिक मानव आवश्यकतायें बताई जाती हैं। इनमें भोजन का सर्वोपरि होना स्पष्ट है तथा प्राचीन समय में तो उसका और भी अधिक महत्त्व होगा। भोजन के लिए अर्जित पदार्थ तथा उनसे तैयार किए गए खाने योग्य पकवानों के रूप पर संस्कृति की छाप होती है, अतः इनका अध्ययन संस्कृति के अध्ययन का प्रमुख पक्ष बन जाता है। सबसे पहले हम प्रमुख भोज्य पदार्थ तथा उनसे सम्बन्धित तात्कालिक संबोध तथा भावनाओं पर विचार करेंगे।

अन्न

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अन्न शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। शां०ब्रा० में वर्ष भर में प्राप्त होने वाले छः प्रकार के भोज्य पदार्थों को अन्न की समग्र संज्ञा दी गई है[1]। इनमें ग्राम में पाले जाने वाले पशु (ग्राम्याः), अरण्य में मिलने वाले जन्तु (आरण्याः), बड़े-बड़े वृक्ष, छोटे-छोटे पौधे[2], जलजन्तु, तथा आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि तक सम्मिलित हैं, उदाहरणार्थ अन्न शब्द का प्रयोग प्रासंगिक रूप में उक्षा[3] बैल, वशा[4] गाय, करम्भ[5], अपूप[6] जैसे पकवानों तथा सोम के लिए स्पष्ट रूप में हुआ है। 'अत्ति इति अन्नम्' व्युत्पत्ति

---

1 शां०ब्रा० २०.१ तस्मिन्नेतत्षट् तयमन्नाद्यं..... ।
2 तत्रैव - ग्राम्याश्च पशव आरण्याश्चौषधयश्च वनस्पतयश्चाप्सुचरं च परिप्लवं च.. ।
3 शां०ब्रा० २८.३
4 तत्रैव
5 ऐ०ब्रा० २.८.६, शां०ब्रा० १३.६
6 शां०ब्रा० ६.६

ों से सभी भोज्य पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है । अन्न शब्द यहां उसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

आजकल की भाषा में अन्न अथवा अनाज अत्यन्त सीमित अर्थों में प्रयोग होता है, जिसका प्रयोजन गेहूं, यव, चना आदि से है । ये केवल वानस्पतिक पदार्थ हैं और उनमें भी एक वर्ग-विशेष के अन्तर्गत आते हैं, जिन्हें वनस्पति शास्त्र में 'सीरियल' या धान्य कहते हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थों में वनस्पति तथा ओषधि दोनों का प्रयोग भिन्न अर्थों में मिलता है[१] । वनस्पति बड़े-बड़े वृक्षों का द्योतक है, जब कि ओषधि से छोटे-छोटे पौधे, जड़ी-बूटियों, वार्षिकी पौधे आदि का तात्पर्य निकलता है । यही नहीं, वनस्पति तथा ओषधि शब्दों से आलंकारिक भाषा में उनसे प्राप्त पदार्थों के भी अर्थ निकाले जा सकते हैं और अभिप्रेत भी हैं, जैसे फल-फूल, कन्द-मूल, मधु आदि[२] ।

यज्ञों से अन्न को अधिकाधिक प्राप्त करने तथा उसकी महत्ता के उल्लेख हैं[३] । इसके प्रतीकात्मक प्रयोग भी मिलते हैं । कहा गया है कि मुख से प्रजा अन्न को भक्षण करती है[४] और मुख से ही ऋत्विक अन्न को यजमान को धारण कराता है[५] । जिसके पास अन्न अधिक होता है, वह लोक में अधिक सुशोभित होता है[६], यही नहीं, मैथुन तक में जो आनन्द है, वह सब अन्न के

---

१ शां०ब्रा० २०.१

२ शां०ब्रा० २०.१

३ ऐ०ब्रा० ५.२१.३, ऐ०ब्रा० १.१.६ अन्नं वै विराट्

४ तत्रैव -- मुखतो वै प्रजा अन्नमदन्ति

५ तत्रैव -- मुखत एव तदन्नाद्यस्य यजमानं दधाति ।

६ ऐ०ब्रा० १.१.५ तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति..... वि स्वेषु राजति श्रेष्ठः स्वानांभवति ।

कारण है[1]। इस प्रकार अन्न को प्राण, बल, ऊर्जा तथा आनन्द का स्रोत बताया गया है[2]।

अनाज से बने भोज्य पदार्थ

'अन्न' के तात्कालिक व्यापक अर्थ से बचने के लिए यहां अनाज शब्द को 'सीरियल' के पर्याय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। यहां पर अनाज को आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। यज्ञों में अनाजों से बने अनेक भोज्य पदार्थों का हविरूप में प्रयोग किया जाता था[3]। इन वस्तुओं का मूल ग्रन्थों में नामोल्लेख है, किन्तु इनका स्पष्टीकरण नहीं है। अत: सायण टिप्पणी तथा अन्य ग्रन्थ एवं कोशों के आधार पर इनको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

धाना और लाजा -- भुने हुए जौ या चावल को 'धाना' कहा गया है[4]। आपस्तम्ब के मतानुसार तण्डुल से 'धाना' और व्रीहि से 'लाजा' बनाया जाता था[5]। दीपावली के अवसर पर धानों को भूनकर बनाई गई खीलें 'लाजा' या 'लावा' कहलाती हैं। अधिकांशतया ग्रामों में गेहूं, ज्वार आदि अनाजों को भूनकर गुड़ के साथ खाया जाता है, जिसे 'गुडधाना' कहा जाता है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि धान, चावल, जौ आदि अनाजों को भून कर तैयार किए गए पदार्थ को ही 'धाना' और 'लाजा' कहा जाता था।

---

१ शां०ब्रा० २.७ येवे के चाऽऽनन्दा अन्ने पाने मिथुने.... अन्नादेव ते सर्वे जायन्ते।

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ अन्नं ह प्राण:, शां०ब्रा० २८.५ अन्नं वाइ बमन्नमूर्जम्

३ ऐ०ब्रा० २.८.६, शां०ब्रा० १३.२.

४ ऐ०ब्रा०(क) २.८.६ भृष्टा यवतण्डुला धाना:।

५ तत्रैव -- तथाहाऽऽपस्तम्ब: -- तण्डुलानोप्य धाना: करोति, व्रीहीनोप्य लाजान्करोति।

पुरोडाश -- जौ या चावल के आटे की बनी मोटी रोटी होती था[१]। यह देवताओं को हवि रूप में प्रदान करने के लिए प्रयोग की जाती थी[२]। आप०प० सू० में तथा ऐ०ब्रा० में पिसे हुए आटे के पकाये हुए पिण्ड को पुरोडाश कहा गया है[३]।

चरु -- यह हवि पदार्थ घी और चावल (तण्डुल) से तैयार किया जाता था[४]। इससे स्त्रियों में पय और पुरुषों में वीर्य की वृद्धि होती है[५]। चरु को यजमान की सन्तान और पशुओं की वृद्धि करने वाला कहा गया है[६]। चरु नामक हवि से युक्त चरु-पात्र को भी `चरु` कह दिया जाता था[७]।

करम्भ -- भुने हुए जौ,चावल आदि को पीसकर बनाए गए सत्तू को दूध या दही में मिलाकर करम्भ बनाया जाता था[८]। सायण द्वारा उद्धृत आपस्तम्ब के मतानुसार मन्थ से युक्त करम्भ होता था[९]। मोनेर विलियम कोष तथा वै०इ० में भुने हुए जौ के आटे को दूध में मिश्रित कर बनाये गये पेय को `मन्थ` और `मन्था` कहा गया है[१०]। अत: इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि जौ या चावल को भून और पीसकर उसके सक्तु को दूध या दही में मिश्रित कर बनाया गया पदार्थ `करम्भ` कहलाता था।

परिवाप -- तुष सहित (अर्थात् धान) भुने हुए चावलों को `लाजा` तथा तुष रहित भुने हुए चावलों को `परिवाप` कहा गया है[११]। आजकल तुष रहित

---

१ वैदिक इण्डेक्स हि०भाग २,पृ०४

मोनेरविलियम्स,पृ०६३५

२ ऐ०ब्रा० १.१.१ आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति... ।
३ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१ पक्व: पिष्टपिण्ड: पुरोडाश: । आप०प०सू० ६६
४ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१ घृतेन तण्डुलैश्चरं निष्पादयेत ।आप०प०सू०६६ `घृततण्डुलोमया.त्मकम्`
५ ऐ०ब्रा० १.१.१ तद्यद् घृत तत्स्त्रियै पयो ये तण्डुलास्ते पुंस.... ।
६ तत्रैव -- तत्प्रजया पशुभि: प्रजनयति
७ वै०इ०हि०भाग१,पृ०२८७
८ मोने०विलि० कोष,पृ०२५५
९ ऐ०ब्रा०(क) २.८.६ मन्थं संयुतं करम्भ इति ।
१० मोनेरविलियम्स कोष,पृ०७८७,वै०इ०हि०भाग२,पृ०१४६,१४७

चावलों को भुनकर जो लाई,लय्या अथवा मुरमुरा बनाया जाता है,उसी को `परिवाप` कहा गया प्रतीत होता है ।
अपूप -- यह इन्द्र का प्रिय हवि था[1]। यह पीसे हुए आटे में मीठा और घी डालकर बनाया जाता था । मोनेर विलियम कोष और वैदिक इण्डेक्स में इसे मीठी रोटी कहा गया है,जो चावल,जौ आदि के आटे की बनी होती थी । ऋ० में इसे `घृतवन्त` भी कहा गया है[2]। सम्भवत: यह गेहूं आदि के आटे के बने हुए पुये या मालपुये जैसी वस्तु प्रतीत होती है । आजकल प्रचलित पुआ (या पूप) शब्द और उससे द्योतित पदार्थ कदाचित् `अपूप` का समानार्थी और समरूप हो ।
यवागू -- यवागू शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि यह यव (जौ) से बना हुआ पदार्थ है । मोनेर विलयम कोष में यवागू शब्द यु धातु से निष्पन्न तथा उणादि गणों लिखा है और इसका अर्थ चावल आदि से बना `बार्ली वाटर` जैसा तरल पदार्थ लिखा है । वैदिक इण्डेक्स में यवागू का अर्थ तै०सं० ६.२.५२, काठ०सं० ११.२, तै०आर०२.८८,कौषी०ब्रा० ४.१३ के आधार पर `जौ का हलुआ` लिखा है[3]। शां०ब्रा० में उल्लेख है कि `यवागू से सायं प्रात: अग्निहोत्र करें[4]। इस उद्धरण से यवागू के कुछ निश्चित आकार,प्रकार,रूप और गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती । इतना स्पष्ट होता है कि यह यव(जौ) के आटे से बना हुआ पदार्थ है । कीथ ने इसे बार्ली ग्रोवल लिखा है[5],जिसे जौ के आटे की लपसी जैसा पदार्थ कहा जा सकता है ।

~~१-ऐ०ब्रा०-२-८-६-तस्मान्-परिवाप-हवि-न-वै-लाजेभ्य:-स्तुवन्ति-संहरति-~~

१ ऐ०ब्रा० २.८.६ इन्द्रस्यापूप:
२ ऋ० १० ४६.६
३ वै०इ०हि०भाग२,पृ० २०६
४ शां०ब्रा० ४.१४ यवाग्वैव सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् ।
५ कीथ : ऋग्वेद ब्राह्मणाज़ पृ०३७० (फर्स्ट इण्डियन रिप्रिंट एडीशन१९७१)

दुग्ध एवं दुग्ध निर्मित पदार्थ

दुग्ध -- ऐ०ब्रा०काल में दुग्ध एवं दुग्ध निर्मित अनेक व वस्तुओं का प्रयोग होता था । गाय,भैंस,बकरी,भेड़ आदि अनेक दूध देने वाले पशु होने पर भी गाय का दूध ही यज्ञ में प्रयोग किया जाता था[१] । आज भी अग्निहोत्र एवं पूजा-पाठ के कार्यों में गाय के दूध को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है, यद्यपि भैंस, बकरी आदि का दूध भोजन में पर्याप्त प्रयोग होता है ।

यज्ञ में जिस गाय का दूध प्रयोग किया जाता था, वह 'अग्निहोत्री गौ' कहलाती थी[२] ।यह गाय कोई विशेष रंग आदि की होती थी, ऐसा तो कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दूध देने वाली किसी अच्छी गाय को निश्चित कर लिया जाता था ,जिसका दूध ही यज्ञ-कार्यों में प्रयुक्त होता था[३] । कदाचित् यह इसलिए किया जाता हो कि दूध निश्चित रूप से यथा समय प्रयोग हेतु उपलब्ध हो सके, और यज्ञ कार्य में दूध के अभाव में विघ्न पड़ने की सम्भावना न रहे । कदाचित् इसका काफी ध्यान रखा जाता था, क्योंकि ऐ०ब्रा० में अग्निहोत्री गौ के दूध दुहने के समय बैठ जाने रंभाने, दूध न देने तथा दूध के खराब हो जाने पर विविध प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है[४] ।

दुग्ध व को सब ओषधियों का रस कहा गया है[५] । सभी पशु छोटे-छोटे पौधे,झाड़ियां,घास आदि सभी चरते हैं । इन सब का

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३२.२

२ तत्रैव -- यस्याग्निहोत्री

३ तत्रैव -- यस्याग्निहोत्री

४ ऐ०ब्रा० ७.३२.२-४

५ शां०ब्रा० २.१ एष ह वै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः

असार दूध में आना स्वाभाविक ही है । इसीलिए दूध को सब औषधियों का रस कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।

दधि -- यज्ञ की हवियों के अन्तर्गत दधि का भी प्रयोग किया जाता था[1] । राजसूय यज्ञ में राजा के अभिषेक में आठ वस्तुओं में दधि का भी उल्लेख है[2] । दधि को भी औषधियों और पानी का रस कहा गया है[3] । दधि की प्रशंसा में उसको इस लोक में इन्द्रिय तक भी कह दिया गया है[4], और राजा का दधि से अभिसिंचन करना, राजा में इन्द्रिय धारण कराना कहा है[5] । दधि को अब भी शीतल, शक्तिवर्द्धक और पौष्टिक माना जाता है । सोम भक्षण के प्रसंग में दधि का वैश्यों के भक्ष्य के रूप में उल्लेख है[6] ।

घृत -- घी के कई रूपों का उल्लेख है, जो देवता, पितर, मनुष्य तथा गर्भस्थ शिशुओं के लिए पृथक्-पृथक् होता था । `आज्य` पिघले हुए घृत को कहा गया है । `घृत` घना जमा हुआ होता है । `आयुत` थोड़ा पिघला हुआ होता है[7], `नवनीत` तुरन्त निकाला हुआ मक्खन होता है । नवनीत को पकाकर बनाए हुए घृत के पिघले, थोड़ा पिघले और जमे हुए रूप के अनुसार विभेद कर दिए गए हैं । `सर्पि` शब्द से सायण ने गले हुए घी को कहा है और घृत जमे हुए घी को[8] । `सर्पति इति` व्युत्पत्ति के अनुसार पिघला हुआ घी ही प्रतीत होता है । वैदिक

---

१ शां०ब्रा० १३.२ हवींषि दधिधाना.... ।

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ अमसेऽष्टातयानि.... दधि ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथ यद्दधि... भवति अपां स औषधीनां रसः ।

४ ऐ०ब्रा० ८.३९.६ इन्द्रियं वा एतदस्मिंल्लोके यद्दधि

५ तत्रैव यद्दध्नाऽभिषिंचति इन्द्रियमेवास्मिंस्तद्दधाति ।

६ ऐ०ब्रा० ७.३५.३ यद् दधि वैश्यानां स भक्षः

७ ऐ०ब्रा०(क) १.१.३ सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः ईषद् विलीनमायुतं .... ।

८ तत्रैव

इण्डेक्स में सैन्ट पीटर्सबर्ग कोश तथा रौथ आदि के अनुसार सर्पि पिघले अथवा जमे रूप में घृत का धोतक कहा गया है और घृत से भिन्न नहीं माना गया है[१]।

'आज्य' को देवताओं के लिए, 'सुरभि घृत' को मनुष्यों के लिए, 'आयुत' को पितरों के लिए और नवनीत को गर्भस्थ शिशुओं के लिए कहा गया है[२]। सायण ने टिप्पणी में तैत्तिरियों का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि घृत देवताओं के लिए, 'मस्तु' पितरों के लिए और 'निष्पक्व' मनुष्यों के लिए माना जाता था[३]। थोड़े पिघले रूप को 'मस्तु' और पूर्ण रूप से पिघले हुए को 'निष्पक्व' कहा गया है[४]। घृत को पशुओं का तेज कहा गया है[५]। घृत से अभिषिंचन करना राजा में तेज धारण कराना बतलाया गया है[६]।

सांनाय्य -- ऐ०ब्रा० में प्रायश्चित के प्रसंग में उल्लेख है कि जिस अग्निहोत्री का सायं दुग्ध 'सांनाय्य' अथवा प्रातः दुग्ध 'सांनाय्य' अथवा सब 'सांनाय्य' दुषित हो जाय अथवा अपहृत हो जाय, वह क्या प्रायश्चित करे[७]। इस उद्धरण में 'दुग्ध सांनाय्य' कहने से यह स्पष्ट होता है कि यह दुग्ध से बनता था और हवि प्रदान हेतु प्रयोग किया जाता था। इससे अधिक इसके रूप अथवा निर्माण विधि के विषय में आए हुए प्रसंगों से स्पष्ट नहीं होता है। सायण द्वारा दी गई टिप्पणी से सांनाय्य से दुग्ध और दधि दोनों

---

१ वै०इ०हि० द्वितीयभाग, पृ०४८५

२ ऐ०ब्रा० १.१.३ आज्यं वै देवानां सुरभि घृतं मनुष्याणामायुतं पितृणां नवनीतं गर्भाणां ।

३ तत्रैव --घृतं देवानां मस्तु पितृणां निष्पक्वं मनुष्याणाम् ।

४ तत्रैव --ईषद् विलीनं मस्तु निःशेषेण विलीनं निष्पक्वम्

५ ऐ०ब्रा० ८.३६.६ तेजो वा एतत्पशूनां यद्घृतं

६ तत्रैव -- यद्घृतेनाभिषिंचति तेज एवास्मिंस्तद्दधाति ।

७ ऐ०ब्रा० ७.३२.३ तदाहुर्यस्य सायं दुग्धंसांनाय्य...प्रातर्दुग्धं सांनाय्यं ... सर्वमेव सांनाय्यं दुष्येद्....

ही अर्थ प्रतीत होते हैं[१]। मोनेर विलियम कोष में सांनाय्य के विषय में उद्धृत है कि यह अग्निहोत्री द्वारा प्रदान की जाने वाली हवि है। इसमें अमावस्या की रात्रि को अग्निहोत्री गाय का निकाला हुआ दूध प्रातः निकाले हुए दूध में मिश्रित कर मक्खन के साथ आहुति दी जाती थी[२]। साधारण अर्थ में लिखा है कि मक्खन के साथ मिश्रित कोई भी पदार्थ[३]।

आमिक्षा एवं वाजिनम् -- ऐ०ब्रा० में तीन हवियों -- सोम, घर्म, वाजिन में वाजिनम् का उल्लेख हुआ है[४]। सायण ने 'आमिक्षा' के बाद बचे हुए जल को 'वाजिनम्' कहा है (वाजिनमामिक्षानुनिष्पादि नीरम्)[५]। वाजसनेयीसंहिता पर टीका करते हुए महीधर ने लिखा है कि गरम दूध में दधि डालने पर घनाभाग आमिक्षा है, और शेष जल भाग 'वाजिनम्' है[६]। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि गरम दूध में दही डालने से फटकर निकला हुआ छेना आमिक्षा और शेष निकला हुआ पानी वाजिनम् कहलाता था।

पयस्या -- हवि के अन्तर्गत इसका उल्लेख है[७]। वै०इण्डेक्स में 'पयस्या' शब्द को दधि का द्योतक कहा गया है[८], किन्तु हवियों के प्रसंग में दधि और पयस्या दोनों का एकसाथ उल्लेख है[९]। इससे प्रकट होता है कि दधि और पयस्या एक ही वस्तु नहीं है। मोनेर विलियम ने पयस्या शब्द का अर्थ गरम दूध में दही डालकर जमा हुआ दूध या दही लिखा है[१०]। गरम दूध में दही डालकर दूध फाड़ा भी जाता है,

---

१ ऐ०ब्रा०(क) ७.३२.३

२ मोनेर विलियम कोष, पृ०१२०३

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० १.४.५ त्रयाणां हवै हविषां... सोमस्य घर्मस्यवाजिनस्य

५ ऐ०ब्रा०(क) १.४.५

६ वाजसनेयी सं० १६.२२ उष्णदुग्धे दधिन क्षिप्ते घनभाव अमिक्षा शिष्टं वाजिनम्।

७ ऐ०ब्रा० २.८.६, शा०ब्रा० १३.२

८ वै०इ०हि०भाग१, पृ०५५६

९ ऐ०ब्रा० २.८.६, शा०ब्रा० १३.२

१० मोनेर विलियमकोष, पृ०५८६।

उससे फेना निकलता है, जमाया भी जाता है, जिससे दही तैयार होता है । अत: इसके अनुसार इसके फेना और दही दोनों अर्थ हो सकते हैं । इसका दही अर्थ अभिप्रेत नहीं होता, क्योंकि हवियों में दही के साथ इसका उल्लेख है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है[1]। आपस्तम्ब के मतानुसार 'पुरोडाश को अधिश्रित कर आमिक्षा के समान पयस्या बनाते हैं[2]'। इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि दूध में जौ या चावल का आटा या भुना हुआ सत्तू मिलाकर दूध को कुछ गाढ़ा कर लेते हैं, जिसे पयस्या कहा जाता हो । दुग्धवाचक पयस शब्द से बने होने से इतना निश्चित है कि यह भी दुग्ध निर्मित पदार्थ है ।

घृत के विविध रूपों में नवनीत का उल्लेख है । नवनीत को दूध अथवा दही से मथकर निकाला जाता है । दूध से मक्खन निकालने के पश्चात् आज के 'सैपरेटा' दूध के समान मक्खन निकला दूध शेष रहता है, और दही से मथकर निकालने के पश्चात् मट्ठा शेष रहता है । मक्खन निकले मट्ठे या दूध के लिए ऋ०ब्रा० में कोई शब्द प्राप्त नहीं हुआ । नवनीत निकाले जाने से मट्ठा आदि का होना संभावित ही है । अत: पयस्या शब्द सम्भवत: मट्ठे के लिए प्रयोग किया जाता हो ।

<u>मधु</u>

ऐ०ब्रा० में शुन: शेप आख्यान में पुरुष वेशधारी इन्द्र रोहित को जंगल से घर लौटने के समय रोकते हुए कहता है, 'घर लौटकर क्या करोगे, संचरण करने से मधु, स्वादिष्ट उदुम्बर आदि प्राप्त होते हैं[3]।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मधु को जंगलों से प्राप्त किया जाता था । ऋ०ब्रा० में मधुमक्खियों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ऋ० में 'आरंगर' और 'सारघ' बड़ी और छोटी दो प्रकार की मधुमक्खियों का उल्लेख है[4]। इससे प्रकट होता है कि मधु का प्रयोग अति प्राचीन है ।

---

१ ऐ०ब्रा० २.८.६, शां०ब्रा० १३.२

२ ऐ०ब्रा०(क) २.८.६ पुरोडाशमधिश्रित्याऽऽमिक्षावत्पयस्यां करोति ।

३ ऐ०ब्रा० ७.३३.३ चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।

४ ऋ० १०.१०६.१०

मधु को औषधियों और वनस्पतियों का रस कहा गया है।[1] मधुमक्खियां विविध पेड़-पौधों के पुष्पों के रस को एकत्र कर मधु सञ्चित करती हैं। उनमें उन पेड़ पौधों का रस और गुण आ ही जाता है। उदाहरणार्थ, नीम के पुष्पों के रस से एकत्र किया हुआ मधु भी नीम के समान कड़ुवाहट युक्त होता है। अतः मधु को विविध वनस्पतियों एवं औषधियों का रस कहना उचित ही है।

राजसूय यज्ञ में मधु से राजा का अभिषिञ्चन किया जाता था।[2] उल्लेख है कि मधु से अभिषिञ्चन कर ऋत्विज राजा में रस ही धारण करता था।[3] इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि अभिषिञ्चन के धार्मिक और अभिचारात्मक रूप द्वारा राजा में मधु के समान मधुर गुण अथवा फलों के श्रेष्ठतम रस रूप के समान श्रेष्ठ और विशिष्ट गुण धारण करने की कल्पना की जाती थी। राजसूय यज्ञ में महाभिषेक के प्रसंग में राजा के आसन्दी पर आरोहण से पूर्व आसनी की अभिमन्त्रणा में मधु का प्रयोग होता था।[4] राजा के 'कलशसम्भार' में अन्य पदार्थों के साथ मधु भी रहता था।[5]

भोज्य पदार्थों में माधुर्य के लिए मधु का प्रयोग किया जाता था। सोम में मधु मिलाया जाता था।[6] ऋ में मधु को सोम, दुग्ध, दधि के साथ मिलाए जाने का उल्लेख है।[7] अपूप को मधु डालकर मीठा बनाया जाता था और घी भी उसमें मिलाया जाता था।[8] ऋ में इसका स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु श ब्रा. में

१- ऐ० ब्रा०. ८. ३६. ६ रसो वा एष ओषधिवनस्पतिषु यन्मधु

२- तत्रैव

३- ऐ०ब्रा०. ८. ३६. ६ यन्मध्वा अभिषिञ्चति रसमेवास्मिंस्तद् दधाति।

४-ऐ० ब्रा०. ८. ३६. ३ ....मधु.... श्रुतामासन्दीमभिमन्त्रयेत।

५-ऐ० ब्रा०. ८. ३७१ . ... शुतस्मिश्चक्तो अष्टात्यानि निषुतानि भवन्ति दधि मधु.....।

६- शां०ब्रा० १२. ६ सौम्यं मध्वित्ति....।

७- ऋ० १. १८७. ६; ४. ४५. ३

८- ऋ० ३. ५१. ६; १०. ४५. ६

इसका उल्लेख नहीं है। यवागू को भी मधु डालकर मीठा किया गया जाता था ।

शक्कर

इस काल में मधुरता के लिए शर्करा (चीनी) आदि का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।गन्ने गुड़ आदि का उल्लेख भी नहीं मिलता । ऋ में "शरास" और "कुशरास" शब्दों[1] का प्रयोग हुआ है। सायण ने इनका अर्थ वेणु दण्ड सदृश तृण विशेष[2] कहा है । बंगाल में अब भी "कुशर" शब्द का प्रयोग गन्ने के लिए किया जाता है[3] । बी० मजुमदार ने भी ऐसा ही लिखा है । इससे प्रतीत होता है कि कदाचित उपर्युक्त शब्द गन्ने के वाचक शब्द हों ।अथर्ववेद में "मधुवनस्पति" की देवता रूप में प्रशंसा की गयी है । उल्लेख है जैसी तू मधुर है मुझे भी वैसी ही तथा और भी अधिक सब प्रकार मधुर बना दे[4]। इससे गन्ने का स्पष्ट प्रयोग प्रतीत होता है। गन्ने का रस गुड़ चीनी आदि अन्य रूपों में भी प्रयोग किया जाता होगा , किन्तु अन्य उदाहरणों द्वारा पुष्टि के अभाव में कुछ निश्चित कह सकना संभव नहीं है ।

मांस

शां० ब्रा० में वर्ष भर में प्राप्त होने वाले ६ प्रकार के भोज्य पदार्थों में ग्राम्य यश आरण्यक पशु तथा जलचर पक्षियों आदि का उल्लेख[5] है।सौम्ययज्ञ में प्राप्त सवन के प्रसंग में आया है कि उक्षा बैल और वशा गाय रूप

१- ऋ० १, १९१, ३ शरास: कुशरासो दर्भासः........ ।

२- तत्रैव(टिप्पणी) -शरा वेणुदण्ड सदृशा..... तृणविशेषा: ।

३- लेखिका ने अपनी बंगाली सहयोगियों से यह जानकारी स्वयं भी प्राप्त की है । ईस्ट बंगाल में ढाका के आसपास ,गन्ने को "कुशर" उच्चारण किया जाता है ।

४- अथर्ववेद - १, ३४, १ -५

५- शां० ब्रा० २०, १

अन्न के लिए आरम्भ और अन्त में यज्ञ किया जाता है[1]। गाय-बैल उस काल में बड़ी संख्या में पाले जाते थे। ऐसे पशु जो प्रजनन तथा अन्य कार्यों के अयोग्य हो जाते होंगे, भोजन के कार्य में आते होंगे।

अश्व, गाय, बैल, मृग, भेड़, बकरा, उद्र, शरभ, गौरमृग, गवय आदि का यज्ञीय पशु के रूप में उल्लेख हुआ है[2]। हवि के अवशिष्ट भक्ष्य के रूप में एक यज्ञीय पशु के ३६ विभागों का उल्लेख है, जो सभी ऋत्विजों, यजमान, (यजमान-पत्नी), पशु को मारने वाले, और काटने वाले शमितृ आदि-आदि के बतलाये गये हैं[3]। वर्तमान समय में भी भैंसें, बकरे आदि चढ़ाये जाते हैं और उनका मांस प्रसाद रूप में लोग ग्रहण करके खाते हैं।

ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि जिस प्रकार मनुष्य राजा या अन्य सम्मानित अतिथि के आने पर सम्मान में उक्षा या वेहत (प्रजनन के अयोग्य बैल तथा गाय) को मारा जाता है, उसी प्रकार सोम राजा के आने पर इसको (अग्नि को) मारा जाता है[4]। पशुओं को अन्न, इला, यज्ञ हवि, पुरोडाश आदि भी कह दिया गया है[5]। पशुओं की प्राप्ति के लिए यज्ञ भी किया जाता था[6]।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्रा० काल में दैनिक जीवन में, धार्मिक यज्ञों आदि में तथा अतिथि आदि आने के विशेष अवसरों पर खूब मांस भक्षण होता था।

---

१ शां०ब्रा० २८.३ प्रथमतश्चान्ततश्च यजत्युदान्नाय वशान्नायेति।

२ ऐ०ब्रा० २.६.८

३ ऐ०ब्रा० ७.३१.१ अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः।

४ ऐ०ब्रा० १.३.४ यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते।

५ शां०ब्रा० ३.७ पशवो वा इला, शां०ब्रा० १३.२ पशवो वै हविर्ष्पंक्तिः
शां०ब्रा० १३.६ अन्नं पशवः, ऐ०ब्रा० २.६.६ स वारुणपशु...यत्पुरोडाशः
६ शां०ब्रा० ३.७ पशूनामेवाऽऽप्त्यै, शां०ब्रा० २८.३ प्रथमत..यजति।

फल एवं वनस्पति

शां०ब्रा० में वर्ष भर में प्राप्त छः प्रकार के भोज्य पदार्थों के प्रसंग में औषधि और वनस्पति का उल्लेख हुआ है,[1] जिसकी चर्चा अन्न के प्रसंग में पीछे की जा चुकी है । औषधि और वनस्पति से यहां तात्पर्य उनसे प्राप्त फल,फूल,मूल,कन्द आदि पदार्थों से प्रतीत होता है,जिनका भक्ष्य पदार्थों के रूप में प्रयोग किया जाता होगा ।

अग्निहोत्र के प्रसंग में उल्लेख है कि उन्होंने (देवताओं ने) जल का रस ऊपर को पहुंचाया; वह औषधियां और वनस्पतियां हो गईं । औषधियों और वनस्पतियों का रस ऊपर को ले गये तो वह फल हो गए । फलों का रस ऊपर को पहुंचाया तो वह अन्न हो गया ।[2] इससे प्रकट होता है कि अरण्य में होने वाली औषधि और वनस्पतियों से खाने के लिए खूब फल (और अन्न) इत्यादि प्राप्त होते थे ।

शां०ब्रा० में उल्लेख है कि औषधि और वनस्पति ऊर्ध्व हैं, मनुष्य ऊर्ध्व उठ जाते हैं ।[3] 'मनुष्यों के ऊर्ध्व उठने' से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य फलों के प्रयोग से स्वस्थ रहते हुए उन्नति की और अग्रसर होते जाते थे, अथवा सांसारिक वैभव को प्राप्त करते हुए, समाज में उन्नति करते हुए, सब यज्ञादि करके,दीर्घायु एवं स्वर्ग इत्यादि का प्राप्ति करते थे ।

बिल्व को अन्न स्वरूप और ज्योतिस्वरूप कहा गया है ।[4] इससे बेल को अतिशय महत्वपूर्ण माने जाने और उसके पर्याप्त प्रयोग की प्रतीति

---

१ शां०ब्रा० २०.१

२ ,, २.७... तेऽपामूर्ध्वं रसमुदौहंस्ता औषधयश्च वनस्पतयश्च समभवन्नोषधीनां च वनस्पतीनां चोर्ध्वं रसमुदौहंस्तत्फलमभवत् फलस्योर्ध्वं रसमुदौहंस्तदन्नमभवत्.... ।

३ शां०ब्रा० ७.६ ऊर्ध्वा ओषधय: ऊर्ध्वावनस्पतयऊर्ध्वा मनुष्या उत्तिष्ठन्ति ।

४ ऐ०ब्रा० २.६.१ बैल्वं...अन्नाद्यकाम: पुष्टिकाम:...समां समां बिल्वो गृभीत ... बिल्वं ज्योति ।

होता है । पलाश को तेज और ब्रह्मवर्चसयुक्त तथा खदिर को स्वर्ग प्रदान कराने वाला कहा गया है[1] । राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष के फलों तथा न्यग्रोध के अवरोधों का रस राजा द्वारा पान करने का विधान है[2] । इनको राजा का भक्ष्य कहा गया है[3] । न्यग्रोध को वनस्पतियों में क्षत्र, अश्वत्थ को तेजयुक्त, और साम्राज्य धारण कराने वाला, व प्लक्ष को यश और स्वाराज्य एवं वैराज्य धारण कराने वाला, उदुम्बर को ऊर्जायुक्त तथा भौज्य प्रदान कराने वाला कहा गया है[4] । न्यग्रोध, अश्वत्थ, प्लक्ष एवं उदुम्बर वनस्पतियों के कथन से इनके फल एवं अवरोध भी अभिप्रेत हैं[5] ।

उदुम्बर के वृक्ष को वर्ष में तीन बार फल प्रदान करने वाला कहा गया है । इस विषय में उक्ति है कि 'पहले देवताओं ने अन्नरस रूप (ऊर्जमूर्ज) वस्तु को पृथ्वी पर बैठकर विभाजित किया । उस समय पृथ्वी पर पड़े अन्न रसभेदस्वरूप बीज से यह उदुम्बर वृक्ष उत्पन्न हुआ । इसलिए यह वर्ष में तीन बार फलकर पकता है[6] । इस उद्धरण से इससे अतिशय फलप्राप्ति का संकेत प्राप्त होता है ।

बिस (पद्ममूल) भी भक्षण के लिए प्रयुक्त होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि यह बहुत रुचि से खाया जाता था, क्योंकि इसकी चोरी भी हो जाती थी और चुराने वाला पापी माना जाता था, तथा उसको यह कहकर अभिशप्त किया जाता था कि उसको प्रत्यवाय (विघ्न) परम्परा प्राप्त हो।

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.१ तेजो वै ब्रह्मवर्चसं पालाश: । खादिरं... स्वर्गकाम: खादिरेण.. स्वर्गं लोकं जयति ।

२ ऐ०ब्रा० ७.३५.४ अथास्यैष स्वो भक्षो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि चौदुम्बराणि आश्वत्थानि प्लाक्षाण्यभिषुणुयात् ।

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० ७.३५.५ क्षत्रं .. न्यग्रोध: , ऐ०ब्रा० ७.३५.६ आश्वत्थ तेजसो .. अश्वत्थं साम्राज्यं। प्लाक्षाणि यशसो प्लक्ष: स्वाराज्यं ... वैराज्यं च यश: .. ।उदुम्बरो भौज्यं वा ऊर्जम् ।

५ तत्रैव - न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि च । तत्रैव - औदुम्बराणि .. आश्वत्थानि प्लाक्षाणि ।

६ ऐ०ब्रा० ५.२४.५ यद्वैतद्देवा ऊर्जमूर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर: समभवत्तस्मात्स त्रि: संवत्सरस्य पच्यते ।

यदि पद्ममूल को चुराने का अपराध वास्तव में उस व्यक्ति ने नहीं किया है और उसे अपवाद लग गया है, तो उसे ऋषियों के आगे शपथपूर्वक अपनी सफाई देनी होती थी[1]। ऋषियों के सामने सफाई देने से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः ऋषियों द्वारा इसका सेवन अधिक किया जाता होगा। सरोवरों के निकट ऋषियों के आश्रमों की स्थिति से उन सरोवरों के पद्ममूलों पर ऋषियों का प्रभुत्व रहता होगा। ~~और अन्य व्यक्तियों द्वारा पद्ममूलों का ग्रहण अपराध माना जाता होगा~~।

उपर्युक्त उद्धरणों से फलों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किए जाने और उनके पर्याप्त प्रयोग के विषय में ज्ञात होता है। अरण्य से तो फल प्राप्त किए ही जाते थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः फलदायी वृक्षों को बागों आदि में लगाकर उनसे भी अधिक मात्रा में फल प्राप्त किए जाते हों, क्योंकि फलों को प्राण, अन्न, बल, ऊर्जा आदि तक कह दिया गया है, बागों के विषय में यद्यपि कोई उल्लेख ऐ०ब्रा० में प्राप्त नहीं होता।

वनस्पति को ऐ०ब्रा० में 'प्राण' तक कहा गया है[2]। वनस्पति के लिए यज्ञ करना प्राणों को प्रसन्न करना कहा है[3]। वनस्पति के लिए यज्ञ कराकर ऋत्विक यजमान के प्राण धारण कराता है, कहा गया है[4]। सायण ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि वनस्पतिजन्य फलों से 'प्राणावस्थिति' होने से वनस्पति प्राण है[5]।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.५ अनेनसमेनसा सोऽभिशस्तादेनस्वतो वाऽपहरादेनः... बिसानि स्तेनो अपसो जहारेति।

२ ऐ०ब्रा० २.६.४, शां०ब्रा० १२.७

३ ऐ०ब्रा० २.६.४ वनस्पतिं यजति... प्राणमेव तत्प्रीणाति।

४ तत्रैव -वनस्पतिंयजति...प्राणमेव०तस्य यजमाने दधाति

५ ऐ०ब्रा० (सा) २.६.४ वनस्पतिजन्यफलानां प्राणावस्थितिहेतुत्वात् वनस्पतेः प्राणत्वम्।

यज्ञ में विविध कामनाओं से बिल्व, खदिर और पलाश की लकड़ी के यूप बनाये जाने,[1] उदुम्बर की लकड़ी की आसन्दी (राजसिंहासन),[2] उदुम्बर का चमस,[3] उदुम्बर की शाखा[4] आदि के रूप में भी इन वनस्पतियों के प्रयोग का उल्लेख है ।

पेय पदार्थ

ऐ० ब्रा० में दधि, दुग्ध गोरस सम्बन्धी, सोम, सुरा मादक पेय तथा मधु, फलों का रस आदि अन्य पेय पदार्थों का उल्लेख हुआ है । दधि, दुग्ध आदि के विषय में 'दुग्ध एवं दुग्ध निर्मित पदार्थ' के प्रसंग में पीछे लिखा जा चुका है । फलों के रस का भी उल्लेख फलों के प्रसंग में पीछे हो चुका है । मधु के विषय में भी 'मधु' के प्रसंग में चर्चा की जा चुकी है । इनके अतिरिक्त शेष सोम और सुरा के विषय में यहां विचार करेंगे ।

सोम -- सोम एक प्रकार का पौधा होता है । ऋ० में इसके मुंजवन्त पर्वत पर पैदा होने का उल्लेख है ।[5] ऐ० ब्रा० में सोम के गन्धर्वों के पास होने और छोटी बालिका रूपधारिणी वाणी द्वारा खरीदे जाने का उल्लेख है ।[6] एक अन्य स्थान पर सोम को द्युलोक में कहा गया है तथा गायत्री छन्द द्वारा गन्धर्वों से युद्ध करके प्राप्त करने का उल्लेख है ।[7] सोम को बछिया (गौ), चन्द्र, वस्त्र, छाग से

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.१ खादिरं यूपं...बैल्वं यूपं...पालाशंयूपं...

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथ यदौदुम्बर्यासन्दी भवति

३ तत्रैव --औदुम्बरश्चमस

४ तत्रैव -- उदुम्बरशाखा

५ ऋ० १.९३.६ ; ३.४८.२; ५.३६.२; ५.४३.४; ५.८५.२

६ ऐ०ब्रा० २.५.१ सोमो वै राजा... सा वाग्... तया महानग्नया भूत्वा सोमं राजानमक्रीणन् [illegible]... [illegible] ...[illegible] ।

७ ऐ०ब्रा० ३.१३.१२ सोमो वै राजा अमुष्मिंल्लोके... ते देवा अब्रुवन् गायत्रीं त्वं न इमं सोमं राजानमाहर... सा पतित्वा सोमपालान भीषयित्वा सोमं राजानं समगृभ्णात ।

भी खरीदे जाने की चर्चा है[1]। उसको प्राची दिशा में खरीदा जाता था, क्योंकि देवों ने सोम को प्राची दिशा में खरीदा था[2]। त्रयोदश मास को शुभ कार्य के अनुकूल नहीं माना जाता था, क्योंकि त्रयोदश मास में देवताओं ने सोम को खरीदा था[3]। सोम विक्रयी को शुभकार्य के अनुकूल नहीं माना जाता था तथा उसे पापी भी कहा माना जाता था[4]।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि सोम को खरीदा तो जाता था, किन्तु बेचने वाले को पापी और शुभ कर्म के प्रतिकूल कहा गया है। त्रयोदश मास में खरीदा जाने के कारण त्रयोदश मास को भी शुभ कर्म के अनुकूल नहीं माना गया। इससे प्रतीत होता है कि सोम को किन्हीं विदेशी लोगों से खरीदा जाता था, जो इसका व्यापार करते रहे होंगे। आपस के लोगों के मध्य किसी के द्वारा बेचे जाने को पाप समझा जाता होगा।

त्रयोदश मास में खरीदे जाने के कथन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यापार करने वाले दूर से आने या अन्य किन्हीं कारणोंवश तीसरे वर्ष आ पाते होंगे, जब कि चान्द्रमास के अनुसार प्रति तीसरे वर्ष मलमास का त्रयोदश मास होता होगा।

उल्लेख है कि सोम राजा के खरीदकर आने पर सब छन्द इत्यादि उसके पीछे (वैसे ही) अनुसरण करते हैं, जैसे राजा के पीछे सब अनुसरण करके आते हैं[5]। इस उद्धरण से ऐसा प्रकट होता है कि सोम यज्ञों में सोम क्रय के

---

१ ऐ०ब्रा० १.५.१ तामनुकृतिमस्कन्नां वत्सतरीमाजन्ति सोमक्रयणी तया सोमं राजानं क्रीणन्ति ।

शां०ब्रा० ७.१० तं(सोमं) वै चतुर्भिः क्रीणाति गवा चन्द्रेण वस्त्रेण छागया ... ।

२ ऐ०ब्रा० १.३.१ प्राच्यां वै दिशि देवाः सोमं राजानमक्रीणन् तस्मात्प्राच्यां दिशि क्रीयते ।

३ तत्रैव -- तं त्रयोदशान्मासादक्रीणंस्तस्मात् त्रयोदशो मासो नानुविद्यते ।

४ तत्रैव -- न वै सोमविक्रयी अनुविद्यते पापो वै सोमविक्रयी

५ ऐ०ब्रा० १.३.४ सर्वाणि वाव छन्दांसि च पृष्ठानि च सोमं राजानं क्रीतमन्वायन्ति यावन्तः खलु वै राजानमनु यन्ति ... ।

पश्चात् छन्दों आदि के प्रयोग से यज्ञ कार्य आरम्भ होता था और सोम का खूब प्रयोग किया जाता था ।

सोम को औषध और औषधियों का राजा कहा गया है[1]। 'औषधरूप सोमराजा के क्रय कर लेने पर जो भी भेषज (औषध) हैं, सब अग्निष्टोम में प्राप्त हो जाता है[2]'। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि सोमयज्ञ के प्रकृति यज्ञ अग्निष्टोम में सोम के साथ अन्य औषधियों का भी प्रयोग किया जाता होगा, जिनमें सोमका प्रमुख स्थान होगा ।

ऐ०ब्रा० में उल्लिखित सोम रस को तैयार करने में प्रयुक्त पात्रों एवं उपकरणों के आधार पर सोमरस को निम्नलिखित रूप से तैयार किया जाता था । सोम को पहले धोया जाता था, धोकर 'आधवनीय' में रखा जाता था । 'अद्रान्' अर्थात् पत्थरों से कुचला जाता था । कुचलने पर रस निकल कर नीचे बिछे 'चर्माधिषवण में एकत्र हो जाता था । उसको 'दशापवित्र' छन्ने से छानकर 'द्रोणकलशों' में भर कर रखा जाता था[3]।

सोम को स्वादिष्ट बनाने के लिए दधि, मधु, घृत, दुग्ध तथा करम्भ, धाना, सक्तु के साथ मिलाकर सेवन किया जाता था । शां०ब्रा० में मधुमिश्रित सोम तथा घृत के साथ सोम का उल्लेख है[4]। ऋ०ब्रा० में सोम का अन्य पदार्थों के साथ मिश्रित किए जाने का अधिक उल्लेख नहीं है, किन्तु ऋ० में इसके

---

१ ऐ०ब्रा० ३.३४.२ ओषधो वै सोमो राजा, ऐ०ब्रा० ८.४०.४ या ओषधी: सोमराज्ञी:

२ ऐ०ब्रा० ३.१४.२ सोममेव राजानं क्रीयमाणमनु यानि कानि च भेषजानि तानि सर्वाण्यग्निष्टोममपियन्ति ।

३ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ एतान्यस्य पुरस्तादुपक्लृप्तानि भवन्ति... प्रातरभिषुण्वन्ति

४ शां०ब्रा० १३.६ 'इदं ते सौम्यं मधु... । शां०ब्रा० १६.५ घृतस्य यज सौम्यस्य.. घृतेन सौमेन च ।

अनेक उद्धरण हैं । 'दध्याशिरः'[1], 'गवाशिरं'[2], सोममाशिरं[3], पुरोडाशं सोमं[4], 'गोश्रीते मधौ'[5] आदि में दधि दुग्ध पुरोडाश, इत्यादि के साथ मिश्रित सोम का उल्लेख है । सोम धाना के साथ मिश्रित करके भी लाया जाता था[6] ।

देवता लोग सोमपान बहुत रुचि से करते थे । इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका है कि देवता लोग सोम पान के लिए तय नहीं कर पा रहे थे कि कौन पहले पिये, क्योंकि सभी पहले पीना चाहते थे । इस पर उन्होंने दौड़ने का तय किया कि जो दौड़ में जीते, वह पहले सोमपान करे[7] ।

ऋ० में सोमरस किसी विशेष वर्ण का पेय प्रतीत नहीं होता है । घड़े के घड़े सोम रस से भरे रहते थे[8] । स्वादिष्ट और मदिष्ठ सोमपान करके अमृतत्व को प्राप्त हो जाते थे[9], किन्तु ऐ०ब्रा० में सोमपान इतना सर्वसाधारण का पेय दृष्टिगत नहीं होता । राजसूय यज्ञ में इसे केवल ब्राह्मणों का पेय कहा गया है[10] ।

शां०ब्रा० में सोम शब्द का चन्द्रमा के वाचक रूप में भी उल्लेख है । दाक्षायण यज्ञ के प्रसंग में लिखा है कि 'सोम राजा चन्द्रमा का

---

१ ऋ० ५.५१.७ सोमासो दध्याशिर

२ ऋ० ३.४२.१, ७ सोममिन्द्र गवाशिरं, गवाशिरं यवाशिरं

३ ऋ० १०.४६.१० सोममाशिरं

४ ऋ० ८.२.११ तां आशिरं पुरोडाशमिन्द्रेमं सोमं ... ।

५ ऋ० ८.२१.५ गोश्रीते मधौ

६ ऋ० ३.४३.४, ३.५२.१, ८.६१.२

७ ऐ०ब्रा० २.६.१ देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन्नहं प्रथमः पिबेयमहं... प्रथमः सोमस्य पास्यति ।

८ ऋ० ६.२०.६ सोमस्य कुम्भा सोदति

९ ऋ० ९.१.१ स्वादिष्ठया मदिष्ठया.., ऋ० ८.४८.३ अपां सोमममृताभूम

१० ऐ०ब्रा० ७.३५.३ सोमं ब्राह्मणानां स भक्षः

भक्षण करता हूँ, ऐसा मन से ध्यान करके खाये । यह जो सोम राजा विचक्षण चन्द्रमा है, इसका एक पक्ष का देवता भक्षण कर लेते हैं, जो दूसरा पक्ष है, उसमें दाक्षायण यज्ञ के व्रत होते हैं[1]। एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि यह सोमराजा विचक्षण चन्द्रमा मदित होता है । इस भक्ष को देवता खाते हैं[2]। सोम को क्रय करने के सम्बन्ध में उल्लेख है कि सोम को गौ, चन्द्र, वस्त्र, छाग चार चीजों से खरीदा जाता है[3]। विचक्षण सोम राजा चन्द्रमा है, वह इसको खरीदते ही उसमें प्रवेश कर जाता है । यह जो सोम राजा को खरीदा जाता है, (उसमें से) सोमराजा विचक्षण चन्द्रमा अभिसुत होता है[4]।

शां०ब्रा० में सोम शब्द का चन्द्रमा के वाचक अर्थ में कई स्थानों पर उल्लेख है, किन्तु ऐ०ब्रा० में इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । यह दोनों ब्राह्मणग्रन्थ भिन्न-भिन्न शाखा के हैं, सम्भवत: इस कारण अन्तर हो सकता है । यह भी हो सकता है कि ऐ०ब्रा० की अपेक्षा शां०ब्रा० बाद का हो, जब कि सोम को चन्द्रमा माने जाने की विचार-परम्परा का आविर्भाव और प्रचलन हो गया हो[5]।

---

१ शां०ब्रा० ४.४ सोमं राजानं चन्द्रमसं भक्षयामि इति मनसा ध्यायन्नश्नीयात् असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमास्तमेतमपर पक्षे देवा अभिषुण्वन्ति तद्दपरपक्षे दाक्षायणयज्ञस्य व्रतानि चरति ।

२ शां०ब्रा० १२.५ असौ सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा भक्षो भक्षितो भवति यममुं देवा भक्षं भक्षयन्ति ।

३ शां०ब्रा० ७.१० तं वै चतुर्भिः क्रीणाति गवा चन्द्रेण वस्त्रेण छागया

४ तत्रैव -- सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा: इमं क्रीतमेव प्रविशति तद्यत्सोमं राजानं क्रीणाति असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा अभिषुतोऽसदिति ।

५ जैनेल ए०रजौलिन-वैदिक इण्डिया, पृ० १७१-१७८ यह अग्निसूर्य है तो सोम चन्द्रमा है यह तथ्य उत्तरवैदिक साहित्य, महाकाव्यों, लौकिक संस्कृत साहित्य से लेकर आज तक माना जाता है । चन्द्रमा में देवताओं का पेय अमृत है । शुक्लपक्ष में देवता इसमें से अमृत पान करते हैं और कृष्ण पक्ष में पितर लोग । देवताओं के पान के समय अमृत बढ़ता है, किन्तु पितरों के समय घटने लगता है ।

वास्तव में सोमरस क्या है, इस विषय पर विद्वानों के विविध मत हैं। ऋ०काल में यह मूंजवन्त पर्वत पर उत्पन्न होने वाला और पर्याप्त मात्रा में प्राप्य था और खूब पिया जाता था। फुटपुट प्रसंगों के अतिरिक्त ऋ० का सम्पूर्ण नवां मण्डल इसकी प्रशंसा में भरा पड़ा है। ऋ०ब्रा० में सोमयज्ञ का ही वर्णन है। सोम की पर्याप्त प्रशंसा है, परन्तु सोमपान उतना दृष्टिगत नहीं होता। वर्ण विशेष तक सीमित दृष्टिगत होता है।

'ऋग्वेदिक आर्य' नामक अपनी पुस्तक में राहुल सांकृत्यायन का मत है कि यह सोम और कुछ नहीं, केवल भांग का पौधा है। उन्होंने लिखा है कि तिब्बत में अब भी भांग को सोम राजा कहते हैं तथा पठान लोग इसे 'ओम' कहते हैं।[1] तिब्बती लोग इसे नशीला नहीं समझते। भारत में भांग का पर्याप्त प्रयोग प्रचलित रहा है। शैवभक्तों और अन्य लोगों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। शैवभक्त शिव जी के प्रसाद रूप में इसे ग्रहण करते हैं और इसे मादक नहीं समझते। शिवस्तुतियों में अनेकश: इसकी चर्चा मिलती है। यह शिव जी की प्रिय वस्तु मानी जाती है।

जैनेड ए० रजौलिन ने अपनी पुस्तक 'वैदिक इण्डिया' में सोम का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अग्निपूजा के समान सोम संस्कृति हमको पुरातन इण्डो-ईरानी काल की ओर ले जाता है, दोनों (भारतीय) आर्य और ईरानी बन्धुओं के अलग होने से पहले वाले काल की ओर, क्योंकि 'सोम' का वहां 'होम' नाम मिलता है, और वह अवेस्ता के अनुयायी ईरानियों के यज्ञ और पूजा में भी इसी प्रकार प्रमुख स्थान रखता था।[2] सोम के विषय में रजौलिन महोदय ने लिखा है कि भारत में प्रयोग किया जाने वाला सोम Ascepia acida or Sarostemma viminala दूध वाली जाति के पौधों में से एक किस्म का पौधा था, जो स्वर्णिम लाल रंग वाला, गांठों वाला, पत्तियों रहित तनों वाला, गन्ने के

---

१ राहुल सांकृत्यायन : 'ऋग्वेदिक आर्य', पृ०४८ तथा १७२

२ जैनेड ए० रजौलिन - वैदिक इण्डिया, पृ०१६८ ।

समान बाहरी छाल वाला, दुधिया ~~रस-मलन~~, खट्टे और कसैले रस वाला होता था। यहाँ रस निकाल कर अन्य वस्तुओं के साथ मिलाया जाता था, और यज्ञों में प्रयोग किया जाता था। सोम को एक दिव्य पेय समझा जाता था, और आश्चर्यजनक प्रभावपूर्ण माना जाता था। यह समझा जाता था कि यह पेय स्वर्गीय सोम का ही पार्थिव रूप है। यह दिव्य सोम सोम देवता का प्रतीक है।[१]

सुरा -- सुरा को 'अन्न का रस' कहा गया है।[२] सायण ने अपनी टिप्पणी में इसको व्रीहि आदि से उत्पन्न होने के कारण 'अन्न का रस' कहा है।[३] इससे प्रकट होता है कि जौ, व्रीहि आदि अनाजों से सुरा तैयार की जाती था।

राजसूय यज्ञ में अभिषेक के समय पुरोहित राजा के हाथ में सुरा से युक्त कांस्य पात्र सुरापान हेतु देता था,[४] और सोमपान के साथ पढ़े जाने वाला 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया... सुत:' मन्त्र पढ़ता था।[५] शान्तिवाचन मन्त्र में सुरा और सोम दोनों की शान्ति के लिए मन्त्र पढ़ता था, 'सुरा और सोम दोनों, पीने वाले क्षत्रिय को हानि न पहुंचाये और अपने-अपने स्थान पर रहें।[६]' 'यह सुरा सोमपान सुरापान की व्यावृति है।[७] पीने से बची शेष सुरा को राजा मित्र को प्रदान कर दे।[८]'

---

१ तत्रैव, पृ० १७१-१७८

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथयत्सुरा ... तदथो अन्नस्य रस:

३ तत्रैव -- व्रीह्याद्यद्०कुरजन्यत्वादन्नरसत्वम्।

४ तत्रैव -- अथास्मै सुराकंसं हस्त आदधाति

५ तत्रैव -- स्वादिष्ठया.... सुत:

६ तत्रैव -- नाना हि वां देवहितं.....

७ तत्रैव -- सोमपीथस्यावैषा सुरापीथस्य व्यावृत्ति:

८ तत्रैव -- पीत्वा यं रातिं मन्येत तस्मा एनां प्रयच्छेत् तद् हि मित्रस्यरूपम्।

अभिषेक के समान ही ऐन्द्र महाभिषेक के अन्तर्गत भी सुरापान का विधान कुछ और अधिकता के साथ किया गया है । सोमपान के `स्वादिष्ठया... सुत` मन्त्र के साथ पान का विधान यहाँ भी किया गया है[1]। आगे उल्लेख है कि राजा सुरा को मन में `सोमराजा का मदान करता हूँ` इस मन्त्र के साथ और विचार के साथ सुरापान करे[2]। इससे सुरा में सोमपान के प्रवेश से क्षत्रिय सोमपान करता है, सुरा नहीं[3]। सुरापान के पश्चात् शान्तिवाचन भी `अपाम सोमं...` आदि के साथ किया गया है[4]। अन्त में सुरापान की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार प्रियपुत्र पिता को और प्रिय पत्नी पति को सुख और शान्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार क्षत्रिय को सुरा या सोम या अन्य अन्नादि वस्तुएँ सुख/शान्ति प्रदान करती हैं[5]।

राजसूय यज्ञ के प्रसंग में राजा द्वारा पी जाने वाली सुरा को क्षात्र रूप कहा गया है[6]। सुरा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है, `हे सुरा, तुम बलवती (शुष्मिणी) हो`[7]। सुरा को क्षात्र रूप और बलवती कहने से ऐसा प्रकट होता है कि यह सोम से अधिक उग्र और मादक होती थी, क्योंकि क्षत्रिय को अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक ओज, बल, वीर्य और उग्रता से युक्त माना जाता था

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३६.६ अथास्मै सुराकंसं हस्त आदधाति स्वादिष्ठया.. सुत: ।

२ तत्रैव -- तां पिबेद्... मनसा शिवेन सोमं राजानमिह मदायामि

३ ऐ०ब्रा० ८.३६.६ यो ह वाव सोमपीथ: सुरायां प्रविष्ट: .. क्षत्रियस्य भक्षितो भवति न सुरा ।

४ तत्रैव -- तां पीत्वा... अपाम सोमं शं नो भवेति ।

५ तत्रैव -- तदप्येषाभि: प्रिय: पुत्र: पितरं प्रिया वा जाया पतिं...क्षत्रियस्य सुरा वा सोमो वा ।

६ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथ यद् सुराभवति क्षात्ररूपं तद् ।

७ तत्रैव -- सुरा त्वमसि शुष्मिणी

('वर्ण व्यवस्था' अन्तर्गत 'क्षत्रिय' देखिए)। कदाचित् इसीलिए क्षत्रिय के पीने के लिए इसका विधान किया गया था। जिससे क्षत्रिय में उग्रता आदि की वृद्धि हो। उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार ऋ०ब्रा० काल में सुरा का पान ही क्षत्रिय का विधानान्तर्गत पेय माना गया, किन्तु सुरापान के समय सोमपान के मन्त्रों का पढ़ा जाना, शान्तिवाचन के समय सोम के मन्त्रों से शान्तिवाचन तथा सुरा में सोम का प्रवेश आदि से ऐसा प्रतीत होता है कि पहले सभी के लिए सोमपान का विधान रहा होगा। सुरापान के समय सुरापान सम्बन्धी मन्त्रों के पढ़े जाने का विधान न होने और सोम सम्बन्धी मन्त्रों के ही पढ़े जाने से यह भी पता लगता है कि सोम के स्थान पर सुरा का प्रयोग बाद में ही होना प्रारम्भ हुआ होगा, जिससे सुरा सम्बन्धी मन्त्रों का विधान न हो सका हो, अथवा सुरापान को अपेक्षाकृत हेय माना जाता होगा।

ऋ० में स्पष्टतः सोम को श्रेय और सुरा को हेय माना जाता था। सुरापान करने वालों के विषय में कहा गया है कि सुरा के नशे में होकर लड़ते हैं, और गोस्तनों की तरह नग्न रहते हैं।[1] एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि सुरा, क्रोध, जुआ आदि के कारण ज्येष्ठ छोटों को पथभ्रष्ट करते हैं और नींद भी दुःस्वप्न करने वाली होती है।[2] सोम के लिए ऋ० में सभी जगह प्रशंसात्मक वर्णन ही उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से एक तथ्य और स्पष्ट होता है। सुरा को ऋ० काल से ही हेय दृष्टि से देखा गया। ऋ०ब्रा० काल में सोम को ब्राह्मणों का पेय और सुरा को क्षत्रियों का पेय कहा गया है। इस काल में ब्राह्मण वर्ग, श्रेष्ठता धारण कर रहा था और श्रेष्ठ माने जाने वाले सोम को अन्य वर्णों के लिए निषिद्ध कर केवल ब्राह्मणों का पेय नियत कर दिया गया।

---

१ ऋ० ८.२.१२ युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायां ऊधर्न नग्ना जरन्ते।

२ ऋ० ७.८६.६ स सुरा मन्युर्विभीदको अचित्ति अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्यप्रयोता।

क्षात्रिय जो ओज, बल, वीर्य वाला माना गया, कदाचित् सोमपान को एकदम निषिद्ध कर दिए जाने से उग्रता धारण करता, अतः उसके लिए सुरा-पान का विधान किया गया प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है कि उसकी बढ़ती हुई शक्ति को सुरा के मादक और दुश्चेतनकारी प्रभाव से कम करने के विचार से इसका विधान किया गया हो।

पात्र एवं उपकरण

ऋ०ब्रा० में यज्ञ के प्रसंग में अनेक पात्रों एवं अन्य उपकरणों का उल्लेख आया है। यहां इनके विषय में पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है।

महावीर एवं घर्म -- यज्ञ में हवि रूप दुग्ध को गरम करने के लिए 'महावीर' नामक मृत्तिका पात्र प्रयोग में आता था[1]। इसको 'घर्म' भी कहा जाता था[2]। प्रवर्ग्य इष्टि में हवि के लिए प्रयुक्त दूध भी 'घर्म' कहलाता था[3]। प्रवर्ग्य में दूध की हवि के स्थान पर दधि का भी प्रयोग होता था और उसको भी 'घर्म' कहा जाता था[4]। प्रवर्ग्य इष्टि में सोम, घर्म और वाजिन तीन हवियों का उल्लेख हुआ है[5]। वाजिन की चर्चा पीछे की जा चुकी है। फटे हुए दूध में शेष रहे जल को वाजिन कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर पात्र में दूध गरम करने में कभी दूध फट भी जाता होगा। फटे हुए दूध और उसके पानी को भी हवि रूप में प्रयोग किया जाता होगा।

---

१ शां०ब्रा० ८.३ शिरो वा एतद् यज्ञस्य यन्महावीरः
ऐ०ब्रा०(क) १.४.५ स यो घर्मः प्रवर्ग्यहविराश्रयभूतो महावीराख्यो मृन्मय-पात्रविशेषो।

२ ऐ०ब्रा० १.४.५ यद्घर्मः स यो घर्मः

३ ऐ०ब्रा०(क) १.४.५ घर्मः प्रवर्ग्यहवि, ऐ०ब्रा० १.४.५ त्रयाणां... हविषां घर्मस्य

४ शां०ब्रा० १५.१ दधिघर्मेण चरन्ति

५ ऐ०ब्रा० १.४.५ त्रयाणां एवं हविषां ... सोमस्य घर्मस्य वाजिना

इस उद्धरण से दूध गर्म करने के लिए मृत्तिका पात्र को प्रयोग करने का उल्लेख प्राप्त होता है, ग्रामों में अब भी मिट्टी की हांड़ी का प्रयोग दूध गर्म करने के लिए किया जाता है।

स्थाली -- यह मृत्तिका निर्मित पात्र है, जो दूध गरम करने, हवि प्रदान करने, सोमरस रखने तथा हवि तैयार करने के काम आता था[१]। स्थाली मिट्टी की चौड़ी और खुले मुंह की हांड़ी के समान पात्र प्रतीत होता है। आज की थाली से इसका रूप कुछ भिन्न था।

चरु -- एक प्रकार का पात्र है, जो हवि रखने और हवि तैयार करने के लिए प्रयुक्त होता था[२]। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार "चरु" पात्र एक "कैटली" या "घट" का द्योतक है। इसमें एक ढक्कन होता था और अंकुशी लगी होती थी, जिससे आग पर लटकाया जा सके। यह लोहे अथवा कांसे का बना होता था। मोनैर विलियम कोष में चरु को मिट्टी अथवा उदुम्बर की लकड़ी का बना पात्र कहा है[३]। यह मिट्टी, लोहे अथवा कांसे आदि धातु का बना पात्र प्रतीत होता है। इसमें तण्डुल, घृत, दुग्ध डालकर पकाया जाता था[४]। लकड़ी के पात्र में पकाना सम्भव नहीं है।

कपाल -- यज्ञ में पुरोडाश हवि को तैयार करने तथा रखने के लिए "कपाल" पात्र का प्रयोग होता था। विभिन्न देवताओं को पृथक्-पृथक् संख्या से युक्त

---

१ ऐ०ब्रा० १.२.५ यस्यामेव स्थाल्यां प्रायणीयं निर्वपेत् तस्यामेव उदयनीयं निर्वपेत

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ स्थालीं
शां०ब्रा० ४.१४ अपि वा स्थालीपाकमेव

२ वै०इ०हि०भाग १, पृ०२८७

३ मो०वि कोष पृष्ठ ३८०

४ ऐ०ब्रा० १.१.१

कपालों में पुरोडाश हवि प्रदान की जाती थी। एक कपाल से लेकर तेरह कपालों तक के प्रयोग का उल्लेख मिलता है[1]। ऐ०ब्रा० में सायण ने अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों में हवि तैयार किए जाने के विषय में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो ११ कपालों में तैयार किया जाय, वह एकादश कपाल हुआ। इसी प्रकार सभी देवताओं के लिए कपालों की भिन्न-भिन्न संख्या में पुरोडाश समर्पित किया जाता था। कपाल की बनावट के विषय में इन ब्राह्मण -ग्रन्थों के इन (क०ब्रा०) के उल्लेखों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। कपाल शब्द मनुष्य के सिर की कंकाल अस्थि के लिए भी आता है। यह सम्भवत: सिर की अस्थि के अर्द्धभाग की आकृति के समान होता होगा। अत: इसे भी कपाल कह दिया होगा। सम्भवत: यह भी मिट्टी का पात्र होता था। यह आजकल के मिट्टी के बने 'सकोरे' की आकृति का कदाचित् उससे बड़ा होता था। 'शराव' कदाचित् आजकल के सकोरे की तरह रहा होगा।

यज्ञ में घृत, हवि आदि डालने के लिए विविध प्रकार के बने चमचे, करछुल जैसे पात्रों का प्रयोग किया जाता था, जिनपर यहां विचार करेंगे।

पात्री और चमस

पात्री और चमस उदुम्बर की लकड़ी के बने होते थे[3]। पात्री शब्द अधिकांशतया एक पात्र विशेष के लिए प्रयोग में आता है। यहां पात्री का प्रयोग चमस के साथ हुआ है और सोमरस आदि को हविरूप

---

१ शां०ब्रा० ५.४ एककपाल: प्रजापति:, ऐ०ब्रा० ७.३२.७ सोऽश्विभ्यां द्विकपालं पुरोडाशं, ऐ०ब्रा०१.१.१ त्रिकपालो वैष्णव:, शां०ब्रा०१.३ पंचकपाल: पुरोडाशोभवति, शां०ब्रा० ४.३ अष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति.. इन्द्राय वृत्रघ्ने एकादशकपालम्.. वैश्वानरीयं द्वादशकपालं, ऐ०ब्रा०७.३२.७ द्वादशकपालं पुरोडाश, ऐ०ब्रा० ७.३२.८ अग्नये मरुत्वते त्रयोदशकपालम्।

२ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१ एकादशसु कपालेषु संस्कृत: पुरोडाश:

३ ऐ०ब्रा० ८.३६.३ औदुम्बरश्चमसो वा पात्री वा

८.३७.१ औदुम्बरश्चमस

में रखने और डालने के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। चमस शब्द फलों का रस रखने और अभिषेक के समय राजा द्वारा रसपान[1] करने अथवा चमचे के रूप में हवि आदि अग्नि में डालने के लिए प्रयुक्त होता था। मोनियर विलियम कोश के अनुसार चमस चौकोर आकृति का और लकड़ी का बना होता था तथा उसमें पकड़ने का हत्था रहता था। सोमरस निकालने के साधनों में भी इसका उल्लेख[2] है। यहां फलों के रस को पीने के पात्र के रूप में उल्लिखित प्रतीत होता है।

दर्वी -- यह भी लकड़ी का बना एक प्रकार[3] का चमचा होता था, जो अग्नि में घृत आदि डालने के लिए प्रयुक्त होता था।

स्रुक -- यह पलाश या खदिर की लकड़ी का बना एक प्रकार का बड़ा चमचा होता था। इसमें लगभग एक हाथ लम्बा हत्था लगता था और आगे हाथ की आकृति का बना पात्र होता था। इससे घृत, हवि आदि को अग्नि में डाला जाता था[4]। स्रुव से अवशिष्ट हवि आदि को खाया भी जाता था[5]। सायण ने स्रुक को "अग्निहोत्रहवणी"[6] भी कहा है। इससे ऐसा प्रकट होता है कि स्रुक

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ एतस्मिंश्चमसेऽष्टातपानि निषुतानि,
ऐ०ब्रा० ८.३६.३ चमसे वा समावपेयु: तेषु समाप्तेषु दधि मधु सर्पिरातपवर्ष्या...
ऐ०ब्रा० ८.३७.४ औदुम्बरश्चमस

२ मोनियर विलियम कोश, पृ० ३८८

३ मोनियर विलियम कोश, पृ०४७०

४ ऐ०ब्रा० ७.३२.४ अन्यां स्रुचमाहृत्यजुहुयात् ।

५ शा०ब्रा० २.२ यत्स्रुचा भक्षयति... यत्स्रुचंनिर्लेढि: यत् स्रुचं मार्जयते ।

६ ऐ०ब्रा०(क) ७.३२.४ स्रुगग्निहोत्रहवणी

और अग्निहोत्र हवणी एक ही वस्तु के दो पर्याय हैं। यह भी हो सकता है कि 'स्रुक' और 'अग्निहोत्रहवणी' लगभग एक समान ही बनी हुई दो वस्तुएं हैं।

जुहू -- यह लकड़ी का बना कुछ मुड़ा हुआ चमचा होता था, इससे घृतादि हवि को अग्नि में डाला जाता था[1]।

ध्रुवा -- यह करछुल अथवा चमचे के समान एक बड़ा पात्र होता था। जुहू तथा उपभृत से बड़ा होता था[2]। ऋ०ब्रा० में 'ध्रुवा' शब्द दर्वी आदि का बोधक होकर प्रयोग में नहीं आया है, किन्तु दिशा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]।

स्फ्य -- यह तलवार अथवा पतवार के समान चपटा आकार का काष्ठ का बना हुआ पात्र-विशेष होता था, जो यज्ञ में प्रयुक्त होता था। इससे पका चावल निकालने का कार्य भी लिया जाता था। ऐ०ब्रा० में स्फ्य से यज्ञ वेदी के चारों ओर रेखा खींचने का उल्लेख है[4]। राजसूय यज्ञ में वेदी के चारों ओर स्फ्य से खींची हुई इस रेखा के ऊपर आसन्दी रखी जाती थी[5]। स्फ्य से खींची गई रेखा 'स्फ्यवर्तनि' कहलाती थी[6]।

सोम व सुरा को रखने, पान करने, तथा बड़े पात्रों से निकालने आदि के लिए विविध पात्रों का उल्लेख है। तत्सम्बन्धी पात्रों के विषय में यहां विचार करेंगे।

---

१ ऐ०ब्रा० १.३.५ अग्निना... जुह्वास्य हव्यमित्युपा।

२ मोनेर विलियमकोश, पृ०५२१

३ ऐ०ब्रा० ८.३८.३, ८.३६.५ ध्रुवायां मध्यमायां... दिशि...।

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ तदेषा दक्षिणा स्फ्यवर्तनिर्वेदर्भवति...।

५ तत्रैव - तत्रैतां प्राचीमासन्दीं प्रतिष्ठापयति... तस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ ... स्फ्यवर्तनि बहिर्वेदि द्वौ।

६ तत्रैव - स्फ्यवर्तनि

चमू और द्रोण कलश -- सोमरस निकाल कर तथा छानकर तैयार होने पर चमू, द्रोण कलश आदिमें भरकर रखा जाता था[1]। चमू और द्रोण कलश मिट्टी, लकड़ी, चमड़े तथा धातु आदिविविध प्रकार के बनते प्रतीत होते थे। ये आजकल के मिट्टी के घड़े तथा ताबे पीतल आदि के बने कलश के समान प्रतीत होते हैं। ये बड़े आकार के बने होते थे, क्योंकि इनमें सोम रस भरकर रखा जाता था। सोमरस निकाल कर तैयार करने और भरकर रखने के वस्तुओं में द्रोण कलश का उल्लेख है[2]। यह कदाचित् द्रोण, आढ़क आदि किन्हीं बड़े मापों के अनुसार बनाये जाते थे। कदाचित् इसलिए द्रोण शब्द का पूर्व प्रयोग कर कलश कहा गया प्रतीत होता है।

कंस, कंसपात्र, सुराकंस -- राजसूय यज्ञ में राजा द्वारा सुरापान के प्रसंग में इन पात्रों का ऐ०ब्रा० में उल्लेख हुआ है[3]। ऋत्विक् राजा को अभिषेक के पश्चात् सुरापात्र सुरापान हेतु हाथ में देता था[4]। इसको सुराकंस और कंसपात्र कहा गया है[5]। सुरा पान हेतु इनका प्रयोग हुआ है। ऐसाप्रतीत होता है कि ये कटोरे, गिलास अथवा लोटे वगैरा किसी के समान होते थे, जिनसे पीने का कार्य हो सकता होगा। सम्भवत: ये कांस्य धातु के बने होते थे। इनके अतिरिक्त सोमरस रखने के लिए भी कंसपात्र प्रयुक्त होते होंगे[6]। यह विशेष नाप के १ या २ आढ़क के भी बने होते थे[7]।

गृह -- गृहपात्र सोम भरे द्रोण कलश आदि को ढकने तथा कलश से सोम आदि निकालने के लिए प्रयुक्त होता था। इसमें देवताओं को हवि भी समर्पित की

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ द्रोणकलशं, ऐ०ब्रा० ७.३३.५ एनं द्रोण कलशं ...चम्वोर्भर।

२ ऐ०ब्रा० ७.३३.५, ७.३५.६

३ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ सुराकंसं, ऐ०ब्रा० ८.३६.६, सुराकंसं, ऐ०ब्रा० ८.३७.६, ७कंसेन

४ तत्रैव

५ तत्रैव, ऐ०ब्रा०(क) ८.३७.४

६ ऐ०ब्रा० ८.३७.६, ७ ऋत्विगन्तत: कंसेन चतुर्गृहीता:...

७ ऐ०ब्रा० ७.३३.५; ७.३५.६

जाता था[१]।

पूतभृत-- 'पवित्र को धारण करने वाला' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है, सोमरस छानने के समय ही इसी पात्र में एकत्र होता जाता था। यह लकड़ी, मिट्टी अथवा धातु किसी प्रकार का भी हो सकता है। सोमरस निकालने के साधनों में इसका उल्लेख है[२]।

आधवनीय -- जैसा कि इसके नाम से भी कुछ-न-कुछ स्पष्ट होता है, सोमरस निकालने के लिए पहले इसी पात्र में सोमवल्ली को रखकर धोया जाता था। सोमरस निकालने के साधनों में इसका उल्लेख है[३]।

उदंचन -- सोमरस तैयार करने के साधनों में इसका उल्लेख है[४]। सायण ने टिप्पणी में इसको 'उन्नयन पात्र' कहा है[५]। मोनियर विलियम कोश में इसको कुएं से जलादि निकालने वाला पात्र कहा है[६]। ऐसा प्रतीत होता है कि सोम और सुरा बड़े-बड़े द्रोण कलशों आदि पात्रों में रखे जाते थे, संभवत: उनमें से निकालने के लिए इसे प्रयोग किया जाता था। कदाचित् यह बाल्टी के आकार का होता हो, जिससे कुएं से पानी निकालने के लिए प्रयोग किया जाता है और इसका छोटा आकार सोम आदि निकालने के लिए अथवा घड़े के समान का छोटा और बड़ा आकार का हो। इसका छोटा रूप लम्बे हत्थे के साथ मटकों से पानी ~~रूप लम्बे हत्थे के साथ मटकों से पानी~~ निकालने वाले या दूध नापने वाले 'पोंबों' के समान सोम निकालने के लिए प्रयोग किया जाता हो।

---

१ शां०ब्रा० १४.४ ग्रहाननुशंसति... ऐन्द्रवायवाग्रैर्ग्रहैः, शां०ब्रा० १६.१ आदित्यग्रहेण, शां०ब्रा०१६.२ सावित्रग्रहेण चरन्ति...

२ ऐ ब्रा ७.३५.६ पूतभृत

३ तत्रैव

४ तत्रैव

५ ऐ०ब्रा०(क) ७.३५.६

६ मोनेरविलियम कोश, पृ०१८४

वीवध -- यह 'वहंगी' के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'वहंगी' को कंधे पर रखकर आगे-पीछे दोनों ओर दो घड़ों या बाल्टी आदि को लटकाकर ले जाया जा सकता है। उन दिनों जल कूप, सरोवर, नदियों आदि से दूर-दूर से लाना पड़ता होगा, जिसके लिए वहंगी का प्रयोग किया जाता होगा। ग्रामों में दूर से जल लाने अथवा गन्ने का रस आदि तरल पदार्थों को दूर दूसरे ग्रामों आदि में पहुंचाने के लिए अब भी वंहगी का प्रयोग किया जाता है। सायण ने इसे कंधे पर रखकर दो जलकुम्भ आदि वहन करने के लिए काष्ठ विशेष से बना बताया है।[1]

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले अनाजों तथा सोम को कूटने पीसने, फटकने, छानने, साफ करने आदि के लिए अनेक वस्तुओं का प्रयोग होता था। इनपर यहां विचार करेंगे।

उलूखल, मुसल -- उलूखल, मुसल आजकल कहे जाने वाले ओखली और मूसल हैं। ओखली मजबूत धरती में खोदकर अथवा पत्थर आदि में खोदकर बना ली जाती है, और मूसल लकड़ी का बना होता है। आजकल ये लोहे और पत्थर के भी बनाए जाते हैं। ब्राह्मणों के यज्ञ-आयुधों में इनका उल्लेख है।[2]

दृषद् और उपल -- यह पत्थर के बने ओखली मूसल प्रतीत होते हैं। अनाजों को कूटने के लिए तथा पीसकर बारीक करने के लिए इनका प्रयोग होता था। ऐ०ब्रा० में ब्राह्मणों के आयुधों में इनका प्रयोग हुआ है।[3] ऋ० में कूटने, पीसने के लिए इनका प्रयोग हुआ है।[4]

अद्रि-- यह भी कूटने का पत्थर है। एक पत्थर पर रखकर दूसरे पत्थर से कुचल कर सोम, फलों तथा अवरोधों का रस निकाला जाता था। यह आजकल के सिल-बट्टे

---

१ ऐ०ब्रा०(क) ८,३६,१ उभयतः शिक्यद्वयेन, जलकुम्भद्वयं वोढुं यः काष्ठविशेषः पुरुषाणामंसे ध्रियते स वीवध इत्युच्यते।

२ ऐ०ब्रा० (क) ७,३४,१ उलूखलं मुसलं

३ ऐ०ब्रा०(क) ७,३४,१ दृषच्चोपला च

के समान प्रतीत होते हैं। सोमरस निकालने के प्रसंग में इनका उल्लेख है[1]।

शूर्प --(सूप) -- फटक कर साफ करने के लिए सूप का प्रयोग किया जाता था। यज्ञ के उपकरणों में इसका उल्लेख है[2]।

तितउ(चलनी) -- छानकर साफ करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था। ऋ० में सक्तु को छानने के लिए इसका उल्लेख है[3]।

कारोतर -- यह भी छलनी जैसी कोई वस्तु अथवा छानने का वस्त्र प्रतीत होता है। शां०ब्रा० में रात्रि को कारोतर कहा गया है[4]। इसमें इसका सीधा अर्थ छलनी नहीं है,किन्तु रात्रि: 'कारोतर' के समान है, ऐसा कहा गया प्रकट होता है। वैदिक इण्डेक्स में तथा मोनेर विलियम कोष में इसे सुरा को छानने वाली छलनी या छनने का द्योतक कहा गया है[5]।

पवित्रा और दशा पवित्र-- सोमरस छानने के लिए इनका प्रयोग किया जाता था। पवित्रा शब्द से भी पवित्र करने वाला अर्थ द्योतित होता है। 'दशापवित्र' का अर्थ 'किनारेदार छन्ना' किया गया है[6]। सोमरस तैयार करने के प्रसंग में इसका उल्लेख है[7]। यह छन्ना वस्त्र,कुशा,ऊन व इत्यादि का होता था।

अधिषवणफलक -- यह लकड़ी के दो तख्ते होते थे, जो सोमरस निकालने के समय प्रयोग किए जाते थे[8]।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ वर्हीन

२ ऐ०ब्रा०(क) ७.३४.१ शूर्पं च

३ ऋ० १०.७१.२ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो

४ शां०ब्रा० २.७.तेषाम् रात्रि: कारोतर

५ वैदिक इं०हि० प्रथम भाग,पृ०१५७;मोनेर विलि०कोष,पृ० २७५।

६ ,, ,, पृ० ३८६

७ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ दशापवित्रम्

८ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ अधिषवणे फलके

अधिषवण चर्म-- सोमरस निकालने के समय इस चर्म को बिछाया जाता था। सोमरस निकालने के प्रसंग में इसका उल्लेख है[१]।

शफ -- यज्ञ में पात्रों को आग पर से नीचे उतारने के साधनों और उनके नीचे रखने के आधारों प का उल्लेख आया है। गरम पात्रों को आग से नीचे उतारने के लिए 'शफ' नामक उपकरण का प्रयोग किया जाता था[२]। 'शफ' खुर को भी कहते हैं। कदाचित् खुर के समान विभक्त और सामने से मुड़ा हुआ सड़सी के समान बने होने के कारण इसे भी 'शफ' कहा जाता हो।

उपयमनी -- प्रवर्ग्येष्टि में दूध गरम करने वाले पात्र महावीर के नीचे रखने के काष्ठ के बने आधार होते थे[३]। मोनैर विलियम कोश में पत्थर, कंकड़, मिट्टी के आधार को 'उपयमनी' कहा है[४]। सायण ने दर्वी को भी उपयमनी कह दिया है[५]।

यज्ञ में बैठने तथा सोने के उपकरणों तथा उनको आच्छादित एवं अलंकृत करने वाली वस्तुओं का भी उल्लेख हुआ है।

आसन्दी -- उदुम्बर की लकड़ी की बनी होती थी[६]। राजसूय यज्ञ में राजा के अभिषेक के लिए इसका प्रयोग होता था[७]। मूंज से बुनी जाती थी[८]। इसके ऊपर व्याघ्रचर्म बिछाया जाता था[९]। यह कुर्सी के समान होती थी। चार पाये, शीर्ष, आदि होते थे। इनकी ऊंचाई नाप कर बनाई जाती थी[१०]।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३५.६ अधिषवणं चर्म

२ ऐ०ब्रा० १.४.५ यौ शफौ

३ तत्रैव -- यौपयमनी

४ मोनैर विलियमकोष, पृ०२०४

५ ऐ०ब्रा०(क) १.४.५ तस्याधस्तादाधारार्थमुदुम्बरकाष्ठनिर्मितोपयमनी शब्द वाच्या दर्वी या विद्यते।

६ ऐ०ब्रा० ८.३७.१ औदुम्बर्यासन्दी

७ तत्रैव

८ तत्रैव - मौंजं विवयनं

९ तत्रैव -व्याघ्रचर्मास्तरणम्

१०तत्रैव -तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युररत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि

आसन -- यह बैठने के लिए प्रयोगहोता था[1]। सम्भवत: जमीन पर बिछाकर बैठने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था। सम्भवत: आसन्दी आदि जैसी बैठने कीवस्तुओं के ऊपर इसे बिछाकर भी बैठा जाता हो। राजसूय यज्ञ में पुरोहित कहता है कि विविध औषधियों से बना यह आसन मुझे कल्याण एवं सुख प्रदान करे[2]। इससे स्पष्ट होता है कि आसन विविध औषधियों अर्थात् मूंज आदि विविध वस्तुओं से बनाया जाता था।

विष्टर -- बिछौने(बिस्तर) का पर्यायी प्रतीत होता है। किसी वस्तु(शिल, पलंग आदि) के ऊपर अथवा नीचे आसन आदि के समान इसको बिछाया जाता होगा। मोनैर विलियम कोष में भी ऐसा ही अर्थ है[3]।

आस्तरण -- कुर्सी, पलंग आदि के ऊपर सजाकर बिछाने अथवा बिछाकर बैठने के लिए प्रयोग किए जाने वाले व्याघ्रचर्म के लिए इसका उल्लेख हुआ है[4]। आजकल के सोफा कुशन का पर्यायी इसको कहा जा सकता है।

उपबर्हण -- यह तकिया अथवा गावतकिया(मसनद) का पर्याय प्रतीत होता है,[5] जो सोने के समय अथवा आराम से बैठने के समय लगाने के लिए प्रयुक्त होता होगा। ऐ०ब्रा० में आसन्दी के ऊपर इसे लगाने का उल्लेख है,[6] जहां इसे लगाकर आराम से बैठने का प्रसंग प्रतीत होता है।

व्याघ्रचर्म -- राजसूय यज्ञ में आसन्दी के ऊपर बिछाने के लिए व्याघ्रचर्म का[7] उल्लेख है। आजकल भी शिकारी और शौकीन लोग घरों में सोफों आदि पर

---

१ ऐ०ब्रा० ८.४०.४ अस्मिन्नासने, ऐ०ब्रा० ७.३३.६ एतं चैवाऽऽसने
२ ऐ०ब्रा० ८.४०.४ अस्मिन्नासने ... शर्मयच्छत.. ।
३ मोनैर विलियमकोश, पृ० ६६६
४ ऐ०ब्रा० ८.३७.१,२ व्याघ्रचर्माऽऽस्तरण, ८.३८.१
५ वै०इ०हि०, भाग१, पृ०१०३
६ ऐ०ब्रा० ८.३८.१ ...मुपबर्हणं
७ ऐ०ब्रा० ८.३७.१, २ व्याघ्रचर्म

बिछाने, दिवालों पर सजाने आदि के लिए इसका प्रयोग करते हैं। यहां इसका राजा के बैठने के लिए प्रयोग किया गया है[1]।

कृष्णाजिन -- मृगचर्म को 'कृष्णाजिन' 'अजिन' आदि कहा जाता था[2]। संभवत: विविध प्रकार के मृगों की छाल होने से अलग-अलग नामों से कहा जाता होगा। यज्ञ के उपकरणों में इसका उल्लेख हुआ है[3]। ब्रह्मचारी को भी कदाचित् इसका पर्याप्त सेवन करना पड़ता था, क्योंकि शुन:शेप आख्यान में जहां चारों आश्रमों का उल्लेख है, ब्रह्मचर्य आश्रम को 'अजिन' शब्द से ही अभिव्यक्त किया गया है[4]। इससे प्रकट होता है कि ब्रह्मचारी सोने, बैठने, पढ़ने आदि सभी के लिए इसका प्रयोग करता होगा। दीक्षेष्टि में दीक्षित व्यक्ति के ऊपर कृष्णाजिन डाला जाता था[5]।

अंकुश -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि पराजित होने पर असुरों द्वारा सामान समुद्र में फेंक दिया गया, जिसे देवों ने अंकुश से बाहर निकाल लिया[6]। इससे प्रकट होता है कि जल में पड़ी हुई वस्तुओं को निकालने के लिए अंकुश का प्रयोग किया जाता था।

वास्तुकला

पुर

ऋ०ब्रा० में ग्राम एवं पुरों का उल्लेख है[7]। यज्ञीय प्रसंगों के कारण ग्रामों तथा पुरों आदि का अधिक उल्लेख न होने पर भी

---

१ तत्रैव
२ ऐ०ब्रा० १.१.३ कृष्णाजिनम्, ऐ०ब्रा० ७.३४.५, ऐ०ब्रा० ७.३३.१अजिनम्
३ ऐ०ब्रा०(क) ७.३४.१
४ ऐ०ब्रा० ७.३३.१
५ ऐ०ब्रा० १.१.३
६ ऐ०ब्रा० ५.२२.६ अंकुश
७ ऐ०ब्रा० २.१४.६ ग्रामता बहुलाविष्टा, ऐ०ब्रा० १.४.६ .. पुरोऽकुर्वन्.. पुर: प्रत्यकुर्वत।

ऋ०ब्रा० काल में गृह-निर्माण एवं वास्तुकला पर्याप्त उन्नत दृष्टिगत होती है। ऋ०ब्रा० में लौह रजत, और स्वर्ण पुरियों का उल्लेख है। देवों और असुरों में तीनों लोकों के लिए युद्ध हुआ[1]। असुरों ने इन लोकों को 'पुर' बना दिया। सायण ने यहां 'पुर' को प्राकार वेष्टित नगरी कहा है[2]। जिसप्रकार ओजस्वी और बलवान(राजा) सुरक्षित व दृढ दुर्ग बनाते हैं, उसी प्रकार इस पृथ्वी को अयस्मयी, अन्तरिक्ष को रजतमयी और द्यौ को स्वर्णमयी पुरी बना दिया[3]। देवों ने यह देखकर कहा, " हम भी इन लोकों को पुर बनाकर प्रतिकार करेंगे" इस प्रकार देवों ने भी प्रतिकार स्वरूप इन लोकों के पुर बना लिए[4]। इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय संघर्ष में आने पर सुरक्षा हेतु सुदृढ़ और सुरक्षित पुरियां बना ली जाती होंगी। साधारणतया सुरक्षात्मक पुरों(दुर्गों) के बनाने की प्रथा व कदाचित् नहीं रही होगी। ऐ०ब्रा० में धनुष व और बाण से पुरों को भेदने का प्रसंग है[5]। देवों द्वारा अग्निमय पुरों का निर्माण किया गया[6]। उन्होंने चारों ओर अग्नि जलाकर त्रिपुर(तीनों पुरों) को अग्नि से घेर लिया[7]। राजसूय यज्ञ में भी पुरों का उल्लेख आया है[8]।

<u>महापुर</u>

पुरों के अतिरिक्त 'महापुर' का भी उल्लेख है। उल्लेख है कि उपसद से महापुर को जीतते हैं[9]। 'महापुर' से तात्पर्य 'बड़ा पुर'

१ ऐ०ब्रा० १.४.६
२ ऐ०ब्रा०(क) १.४.६ पुरो कुर्वत प्राकारवेष्टितानि नगराणि कृतवन्त:।
३ तत्रैव
४ तत्रैव
५ ऐ०ब्रा० १.४.८ इषुं आस्ता... तया पुरोभिन्दन्त आमन्।
६ ऐ०ब्रा० ~~१.४.८ इषुं आस्ता~~ २.७.१ देवा.. अग्निमयी: पुरस्त्रिपुरं पर्यास्यन्त..
७ तत्रैव
८ ऐ०ब्रा० ८.४०.४ पुराणि
९ ऐ०ब्रा० १.४.६ उपसदा वै महापुरं जयन्ति।

कहा जा सकता है। इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि उस समय बड़े-बड़े पुर भी होते थे। युद्ध में बड़े पुरों को भी जीत लिया जाता था।

आवास

गृह -- ऋ०ब्रा० में घरों के लिए भी प्रसंग आये हैं। अभिचार के प्रसंग में उल्लेख है कि यदि होता चाहे कि यजमान आयतन (गृह) रहित हो जाय, तो होता विराट रहित गायत्री छन्द युक्त याज्या को पढ़कर अन्त में वषट् करे[1] और जिसको गृहयुक्त करना चाहे तो विराट से यजेत पिवा... आदि ऋचा से यज्ञ करे[2]। देवों द्वारा वरुण राजा के घर पुत्र कलत्रादि को रखने का प्रसंग आया है[3]। घर की सुरक्षा और उपयुक्तता के आधार पर ही ऐसा सोचा जा सकता है।

सब लोग अपने-अपने घरों में रहते थे, कोई किसी के घर में नहीं रहता था। इसकी पुष्टि स्वरूप कहा गया है कि देवता लोग अपने-अपने घरों में रहते थे, किसी अन्य के घर में नहीं, इसी प्रकार ऋतुयें भी अपने-अपने स्थान पर रहती थीं, जैसे जनता[4]। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सभी अपने घरों में रहते थे। इससे मकानों की कमी का बोध नहीं होता।

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१२.११ यं कामयेतानायतनवान्स्यादू ....अनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति।

२ तत्रैव -- यं कामयेताऽऽयतनवानस्यात्... आयतनवन्तमेवैनं तत्करोति

३ ऐ०ब्रा० १.४.७ अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधामहे.... वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत

४ ऐ०ब्रा० ५.२२.४ न वै देवा अन्योन्यस्य गृहे वसन्ति नर्तुर्ऋतो गृहे वसति... ऋतून् कल्पयन्ति यथायथं जनता:।

ओकस् -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि रात्रि में मनुष्य सब अपने कार्यों को त्याग कर स्वगृहाभिमान से रहित होकर निद्रा को प्राप्त करते थे[१]। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिनभर के कार्य करने के पश्चात् रात्रि में घरों में आराम से सोते थे। यहां गृह के लिए ओकस् शब्द का उल्लेख है। ओकस् शब्द गृह का पर्याय है। उल्लेख है कि ओकस् घर ही होता है, पुरोहित राजा द्वारा पूजित होकर अपने ही घर के समान उसके घर में प्रसन्न और निश्चिन्त होकर रहता है[२]।

दुरोण -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि अतिथि दुरोण (घरों) में विचरण करता है[३]। इसके अतिरिक्त ऐ०ब्रा० एवं शां०ब्रा० में एक मन्त्र में भी दुरोण शब्द का प्रयोग हुआ है[४]।

दुर्या-- ऐ०ब्रा० में सोमक्रय तथा यजमान के घर आनयन के प्रसंग में उल्लेख है, जैसे राजा के आने से गृह के सब जन परिचर्या त्रुटि से डरते हैं, इसी प्रकार सोम राजा के दुर्या (घर) में लाने पर यजमान के गृहवर्ती जन डरते हैं[५]। 'दुर्या' शब्द से ऐसे घर की प्रतीति होती है, जहां कठिनाई से पहुंचा जाय (दुःखेन दुष्करेण वा यातुम् योग्या दुर्या)।

गृह के लिए गृह, आयतन, ओकस् दुर्या, दुरोण, आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋ० में इनके अतिरिक्त हर्म्य, दमूना आदि भी है[६]। ये शब्द तात्कालिक भवनों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये पर्याय कदाचित् घरों की विधाओं के अनुसार रखे हों, किन्तु अब इनका प्रयोग वैसा स्पष्ट ~~नहीं है, किन्तु अब व्यापक है।~~ कदाचित् बड़े राजप्रासादों के लिए प्रयुक्त होने वाला 'हर्म्य' शब्द उस समय बाधाकार भवनों के लिए प्रयुक्त होता हो।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.३ रात्रे प्रलीना बवेन्यौकस इव शेरे मनुष्या

२ ऐ०ब्रा० ८.४० .३ ओकसि स्व इति गृहा वो ओकः स्वेष्वेव तद्गृहेषु सुहितो

३ ऐ०ब्रा० ४.१८.६ अतिथिर्दुरोणसद्

४ ऐ०ब्रा० २.१०.५ ,शां०ब्रा० १४.२

५ ऐ०ब्रा० १.३.२ गृहा वै दुर्या बिभ्यति वै सोमाद् राज्ञ आयतो यजमानस्य गृहाः

६ ऋ० १.६० द६ दमूना, ऋ० १० ४६.३ हर्म्येष

`दुर्या` कहे जाने वाला भवन कदाचित् अधिक दृढ़ एवं सुरक्षित बनाये जाते हों, जैसा कि उपर्युक्त इसके विग्रह से स्पष्ट होता है । आयतन भी अधिक फैलकर बने हुए मकान के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । `दुरोण` और `दुर्या` एक समान प्रतीत होते हैं ।

भवनों में द्वारपाल भी रखे जाते थे । विष्णु को देवों का द्वारपाल कहा गया है, जो सोम राजा के लिए द्वार खोलता था[1] ।

मार्ग

महापथ -- पृष्ठ्य षडह की प्रशंसा करते हुए उल्लेख है कि जिस प्रकार `महापथ` `पर्याणि` (गमनमार्ग) है, उसी प्रकार पृष्ठ्य षडह स्वर्ग गमन का साधन है[2] । सायण ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि महापथ प्रौढ़मार्ग दो नगरों के मध्यवर्ती चारों ओर गमन का जिस प्रकार साधनभूत है, उसी प्रकार पृष्ठ्य षडह स्वर्गप्राप्ति का[3] । यह महापथ भी मार्ग में कष्टकारी कंकड़ पत्थर से रहित `अंजसायन` सम्यग् गमनयोग्य होते थे[4] ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विविध नगरों में परस्पर आवागमन हेतु सुन्दर राजमार्ग बनाये जाते थे ।

पन्था, स्रुति एवं ऊतियां-- उल्लेख है कि इष्टिस्वरूप प्रौढ़ मार्ग और आहुतिरूप मार्गावयव `पन्था` और `स्रुति` हैं, वे `ऊति` स्वरूप मार्ग यजमान को स्वर्ग पहुंचाने वाले हैं[5] । अभिप्लवषडह की प्रशंसा करते हुए उल्लेख है कि कंकड़ पत्थर आदि से रहित सम्यग् गमन योग्य नगर का मार्ग, `स्रुति` जिस प्रकार गमन का

---

१ ऐ०ब्रा० १.५.४ विष्णुर्वै देवानां द्वारपः स एवास्मा एतद् द्वारं विवृणोति
२ ऐ०ब्रा० ४.१८.३ यथा महापथः पर्याण एवं पृष्ठ्यः षडहः स्वर्गस्यलोकस्य ।
३ ऐ०ब्रा०(क) (४.१८.३) यथा लोके महापथः प्रौढमार्गो नगर द्वयमध्यवर्ती पर्याणः परितोऽयनस्य गमनस्य साधनभूतो ... ।
४ ऐ०ब्रा० ४.१८.३
५ ऐ०ब्रा० १.१.२ ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्ता उ एवैतद् स्वर्गयाणा यजमानस्यमवन्ति ।

साधन होता है उसी प्रकार अभिप्लव षडह स्वर्ग लोक का[1]। इन उद्धरणों में नगर के अन्दर गमनागमन के लिए बड़े-बड़े मार्ग और छोटे-छोटे मार्गावयव बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। यहां पन्था शब्द को सायण ने प्रौढ़ मार्ग कहा है[2]। स्रुति को एक स्थान पर राजमार्ग[3] और दूसरे स्थान पर मार्गावयव कहा है[4]।

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि उस समय छोटे-बड़े सभी प्रकार के (पुर,महापुर) नगर थे। नगर परस्पर महापथों से संयुक्त थे। नगरों में भी गुपथ, सुपथ राजपथ तथा छोटे मार्गावयव,पन्था तथा स्रुति थे।

वेदियों का निर्माण

यज्ञों में विविध प्रकार की वेदियों का निर्माण भी वास्तुकला कौशल को प्रदर्शित करता है। शां०ब्रा० में उल्लेख है कि यूप और वेदी को नापकर बनाना चाहिए[5]। ऐ०ब्रा० के कई स्थलों को स्पष्ट करते हुए सायण ने टिप्पणी में सौमिकी वेदी का उल्लेख किया है[6]। इससे सोमयज्ञ में सोमिकी वेदी को बनाए जाने की प्रतीति होती है। ऋ०ब्रा० में वेदियों से सम्बन्धित और अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। शुल्वसूत्रों में वेदियों के निर्माण और उनके माप और आकार का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र में दार्शिक,सौमिक,महावेदि,सौत्रामणी,आश्वमेधिक, निरुढपशुबन्ध इत्यादि विभिन्न आकार-प्रकार व परिमाण की वेदियों का उल्लेख है। इनकी लम्बाई चौड़ाई,गहराई तथा आकृति का पूर्णमाप दिया

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१८.३ सा यथा स्रुतिरञ्जसायन्येवमभिप्लवः षडहःस्वर्गस्य लोकस्य।

२ ऐ०ब्रा०(क) १.१.२ ये केचित् पन्थान इष्टरूपाः स्वर्गस्य प्रौढमार्गाः।

३ ऐ०ब्रा०(क) ४.१८.३ लोकस्य प्रसिद्धा स्रुति राजमार्गरूपा।

४ ऐ०ब्रा०(क) १.१.२ याश्चस्रुतयस्तन्मार्गावयवरूपा आहुतयः।

५ शां०ब्रा० १०.१ नमिमीत यूपमपरिमित एव...तद् यूपस्य च वेदेश्चेति

६ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१ सौमिकेषा यष्टव्यासु...।
ऐ०ब्रा०(क) १.४.६ सौमिकवेद्याः प्राचीनवंशात्पूर्वः...।
ऐ०ब्रा०(क) ३.११.६ सौमिक्यां वेद्यां...।

गया है । इन विविध वेदियों का निर्माण विविध इष्टियों और यज्ञों में किया जाता था । श०ब्रा० में दर्शपौर्णमास,सौत्रामणी,निरुढ पशुबन्ध,सोमयाग,राजसूय, आदि अनेक इष्टियों और यज्ञों का उल्लेख है,जिनमें सम्बन्धित वेदियों का निर्माण किया जाता होगा । श०ब्रा० में नामत: इनका उल्लेख नहीं है । सम्भवत: प्रचलित यज्ञ परम्परा के कारण इनकी निर्माण परम्परा भी प्रचलित रही होगी और यज्ञों में उनका उल्लेख उतना आवश्यक न समझा जाता होगा । यद्यपि इनके निर्माण के विधान के लिए शुल्व सूत्र बने हुए हैं,जिनमें इनका विशद् वर्णन मिलता है । आपस्तम्ब शुल्वसूत्र में प्रारम्भ में भूमिका भाग में कहा गया है कि रथादि के निर्माण में रथादि के अंगों के नियत अंग प्रमाण हैं । एक भी अंग मात्रा से विहीन होने पर नहीं चलता,उसी प्रकार अग्नि की वेदियां भी मात्रा से विहीन होने पर साधनभाव को प्राप्त नहीं होती । अग्नि के आयतन के अनुसार यज्ञों की वेदियां नियत प्रमाण की होती थीं और निश्चित स्थान पर बनाई जाती थीं ।[1]

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से उन्नत वास्तुकला होने की प्रतीति होती है । वास्तुकला में गणित और ज्यामितीय ज्ञान का प्रयोग करके माप के अनुसार निर्माण कार्य किया जाता था ।

मनोरंजन के साधन

संगीत

शां०ब्रा० में नृत्य,गीत तथा वादित (वाद्य बजाने) को शिल्प कहा गया है[2] । शिल्पों को सायण ने आश्चर्य कर कर्म कहा है[3] । आश्चर्यकर

---

१ आपस्तम्ब शुल्वसूत्र १.१ (सायण टिप्पणी) यथा रथादयो नियतांगप्रमाणा एकस्मिन्नपि ऽपि मात्रया विहीयमाने सम्यक् न गच्छन्ति एवमग्न्यायतनादीन्यपि मात्रया विहीयमानानि साधनभावं न गच्छन्ति । उक्ता: यज्ञा: । तेषां अग्न्यायतनानि नियत प्रमाणानि नियतदेशानि ।

२ शां०ब्रा० २९.५ त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितम् ।

३ ऐ०ब्रा० (क) ६.३०.१

कर्म से स्पष्ट होता है कि नृत्य, गायन और वादन में उस समय उच्चकोटि की कलात्मक निपुणता प्राप्त की जाती होगी, जिसे आश्चर्यकर कहा जा सकता होगा। इनके विषय में ऋ०ब्रा० में अधिक विशद् वर्णन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अनेकशः आए हुए उल्लेखों एवं शब्दों से यह सुस्पष्ट होता है कि ये सुविदित थे और इनमें उच्च कौशल प्राप्त किया जाता होगा। साथ ही ये मनोरंजन के साधन भी रहे होंगे।

नृत्य -- ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में सोमयज्ञ के प्रसंग में अनेकशः 'नृत्य', 'निर्नृत्' 'पुनरानृत्' 'पुनर्निनृत' आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। ऐ०ब्रा० में अश्व के समान अन्न के समान बार-बार आवर्तन और पुनः पुनः नर्तन का उल्लेख है[1]। सोमयज्ञ के प्रसंग में कहा गया है कि (ताल-ध्वनि आदि के साथ आने के समान) दिवस पुनः पुनः आवर्तन और नर्तन करते हैं[2]।

गीत -- ऋ०ब्रा० में 'गायति', 'गायन्ति', 'गीयन्ते' आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। ऐ०ब्रा० में अग्निष्टोम की प्रशंसा करते हुए कहा है कि अग्निष्टोम सम्बन्धित प्रायणीय उदयनीय विषयक यज्ञगाथा सभी के द्वारा गाई जाती है[3]। अनेक स्थानों पर उल्लेख है कि यह यज्ञगाथा गाई जाती है[4], यह श्लोक गाये जाते हैं[5], इत्यादि। सायण ने यज्ञ गाथा को यज्ञविषयक वैदिक गीति, जो चारों और गाई जाती है[6], कहा है, शां०ब्रा० में सोमयज्ञ में साम गाये जाने के उल्लेख हैं[7]।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२४.१ यदश्ववद् यदन्नवद् यत्पुनरावृत्तं यत्पुनर्निनृत्तं।
२ ऐ०ब्रा० ५.२२.१० प्रतिपदहश्चाहश्चेति पुनरावृत्तं पुनर्निनृत्तं
३ ऐ०ब्रा० ३.१४.५ तदेषा भि यज्ञगाथा गीयते
४ ऐ०ब्रा० ५.२५.५,६;७.३२.८, तदेषाऽभि यज्ञगाथा गीयते
५ ऐ०ब्रा० ८.३६.७,८,९ तदप्येते श्लोका अभिगीताः
६ ऐ०ब्रा०(क) ८.३६.७ एषा वक्ष्यमाणा यज्ञविषया गीतिर्वैदिकैरभितो गीयते।
७ शां०ब्रा० ६.११ ऋजु सामानि गीयन्ते।

यथा ऋत्विक् के कार्यों के प्रसंग में आया है कि ऋचाओं में साम गाये जाते हैं[1]। इसी प्रकार बहिष्पवमान[2], छन्दों में मीमांसा[3], स्वरसामन में साम गाये जाने के उल्लेख हैं[4]। दशरात्र के अन्तर्गत आया है कि यज्ञ की ऋद्धि को गाता है। यज्ञ की ऋद्धि को गाते हुए यज्ञ की ऋद्धि को प्राप्त करते हैं[5]। चतुर्विंश में आया है कि संवत्सर की प्राप्ति के लिए वह गाया जाता है[6]। सात स्वरों के प्रयोग का उल्लेख है। लिखा है कि सात प्रकार की वाणी है (सप्तधा वै वाक्)[7]। सात प्रकार का अर्थ सायण ने षड्ज ऋषभ गन्धार, मध्यम, पंचम धैवत, निषाद आदि स्वरों से युक्त गान रूप वाणी किया है[8]। सप्त स्वरों से युक्त लौकिक वाणी के समान वैदिक वाणी भी साम में सप्तस्वरों को धारण करने वाली कही है[9]।

वाद्य -- ऋ०ब्रा० में वाद्यों के नामों के प्रसंग नहीं आते हैं। यद्यपि 'वादित' शब्द का प्रयोग वाद्यों की उपस्थिति को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करता है[10]। ऋ० में नाड़ी[11], बाण[12], कर्करी[13], दुन्दुभि[14] आदि वाद्यों के प्रसंग आए हैं। इससे पता त

---

१ तंत्रव

२ शां०ब्रा० १२.५

३ शां०ब्रा० २६.७-१७

४ शां०ब्रा० २८.३-६

५ शां०ब्रा० २७.६ समृध्दिं गायन्ति... तत्सत्रस्यर्द्धिमाप्नुवन्ति

६ शां०ब्रा० १६.३ संवत्सरस्यैवाऽऽप्त्यैतदुत्तेषाऽपि गीयते।

७ ऐ०ब्रा० २.७.७ सप्तधा वै वागवदत्तावद् वै वाग्।

८ ऐ०ब्रा०(क) २.७.७ लौके गानरूपा या वागस्ति सा सप्तधाऽवदत् षड्जऋषभादि-स्वरोपेता प्रवृत्ता

९ तंत्रव - तावदेव वैदिक वागप्यवदत् साम्नि क्रुष्ट प्रथमद्वितीयादीनां सप्तस्वराणामभिधीयमानत्वात्।

१० शां०ब्रा० २६.५

११ ऋ० १०.१३५.७

१२ ऋ० १०.३२.४

१३ ऋ० २.४३.३

१४ ऋ० १.२८.५

होता है कि भारतीय वाद्यों की परम्परा अतिप्राचीनकाल से चली आ रही है। ऋ०ब्रा०काल में भी वाद्यों का पर्याप्त प्रचलन रहा होगा । यद्यपि उनके आकार प्रकार में समय के साथ परिवर्तन होना सम्भव है ।

इन प्रसंगों से नृत्य, गीत और वादन के यज्ञों में प्रचलन का पता चलता है । दैनिक जीवन में उनका प्रयोग और उनमें कौशल ही यज्ञ में उनके प्रयोग को भी अभिव्यक्त करता है, क्योंकि मनुष्य अपने श्रेष्ठतम और सुन्दरतम को ही अपने देवता के सामने प्रस्तुत करता है ।

खेल

रथ-दौड़-प्रतियोगिता

ऋ०ब्रा० में दौड़ प्रतियोगिता का उल्लेख है । सोमयज्ञ में आश्विन शस्त्र के प्रयोग में उल्लेख है कि प्रजापति ने सूर्या को सोमराजा को देना चाहा । उसमें सहस्र शस्त्र को पढ़ने की शर्त रखा । देवता उसमें निश्चित न कर सके[1] । तब दौड़ से निश्चित करने का निर्णय किया । देवताओं ने विविध वाहनों के रथों में बैठकर दौड़ में भाग लिया । अश्वतरी के रथ से अग्नि ने बैलों के रथ से उषा ने, अश्वरथ से इन्द्र ने और गर्दभ रथ से अश्विनों ने भाग लिया[2] । इस प्रकार रथदौड़ मनोरंजन के साथ ही युद्ध के अभ्यास के लिए भी अपेक्षित होती होगी ।

दौड़ प्रतियोगिता -- ऋ०ब्रा० में दौड़ प्रतियोगिताओं का उल्लेख है । सोम राजा को पान करने में देवता लोग तय नहीं कर पा रहे थे कि कौन पहले[3] पिये । सभी पहले पीना चाहते थे। तब सबों ने दौड़ दौड़ने का निश्चय किया । शां०ब्रा० में

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१७.१ प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे... आजिमस्याऽऽयामहै स यो न उज्जेष्यति तस्येदं भविष्यति ।

२ ऐ०ब्रा० ४.१७.३ अश्वतरीरथेनाग्निराजिमधावत्...गोभिररुणैः उषा... अश्वरथेनेन्द्र...गर्दभरथेनाश्विना ।

३ ऐ०ब्रा० २.६.१ देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन् अहं प्रथमः पिबेयमेत्येवाकामयन्त...आजिमयाम स यो न उज्जेष्यति स: प्रथम: पास्यति ।

शां०ब्रा० में पृष्ठ्य षडह के प्रसंग में आया है कि स्वर्ग में ये(देवता) दौड़ दौड़ते हैं। षष्ठ दिवस तक जो इसे समाप्त कर लेता है, वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है[1]। सोमयज्ञ में प्रैष के प्रसंग में उल्लेख है कि देवताओं में दौड़ हुई और मित्रावरुण उनमें जीते। इसलिए मित्रावरुण को ही प्रैष दिया जाता है[2]। इन उल्लेखों से दौड़ प्रतियोगिताओं द्वारा निर्णय लेने का तो पता चलता ही है, मनोरंजन भी इनसे होता ही था। ~~क्योंकि भाग्य निर्णय तो 'गोटी उछालना' 'लाटरी निकालना' किसी पुरुष द्वारा निर्णय करा लेने जैसी युक्तियों द्वारा भी किया जा सकता था।~~

जुआ

ऐ०ब्रा० में कवष ऐलूष आख्यान है। ऋषियों द्वारा कवष ऐलूष को जुआरी आदि कहकर अपमानित किया गया। किन्तु उसके अपोनप्त्रीय सूक्त देखने पर ऋषिगणों द्वारा क्षमा मांगी गई[3]। इससे प्रकट होता है कि जुआ खेलना तो हेय दृष्टि से देखा जाता ही था, परन्तु विद्वत्ता के आगे नगण्य भी हो जाता था। ऋ० में एक पूरे अक्षसूक्त में जुआ खेलने के व्यसन से व्यसनी व्यक्ति के जुआ के आकर्षण और उसके कारण उसकी पत्नी तथा गुरुजनों की दुर्दशा का वर्णन किया गया है[4]। सब दुर्दशा को देखकर भी जुआरी अपनी इच्छा को रोक नहीं पाता। यहां तक कि उसके पिता, ज्येष्ठ भ्राता भी कह देते हैं कि इसे बांधकर ले जाओ, हम इसे नहीं जानते[5]। इन उद्धरणों से जुआ खेलना, जुआ खेलने का व्यसन, समाज में हेय देखा जाना, परन्तु फिर भी उसका

---

१ शां०ब्रा० २३.५ आजिं ह वा एते यन्ति स्वर्गं लोके षष्ठेना स यो नवानं समापयति स स्वर्गं लोकमज्जयति ।

२ शां०ब्रा० २८.१ एता ह वै देवता प्रैषाणामाजिंमीयुस्तान् मित्रावरुणा उज्जिग्यतुः... ।

३ ऐ०ब्रा० २.८.१

४ ऋ० १०.३४.१-१४

५ ऋ० १०.३४.४

प्रचलन प्रकट होता है। आज तक जुआ निन्दनीय माना जाता है, परन्तु छोटे-बड़े सभी स्तरों के लोगों के मनोरंजन का अब तक साधन बना हुआ है।

चिकित्सा और औषध सम्बन्धी शब्द

ऋ०ब्रा० में चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित अनेक शब्दों 'भिषक्'[1], 'भैषज'[2], 'भैषजानि'[3], 'भिषज्यति'[4], 'भिषज्यन्ति'[5], 'औषधय:'[6] 'औषधानि'[7], 'औषधा:'[8] इत्यादि का उल्लेख है। ऋ०ब्रा० के यज्ञों से संबंधित होने के कारण इन शब्दों का प्रयोग अधिकांशत: सीधे मानव रोगों की चिकित्सा के विषय में न होकर आलंकारिक रूप में यज्ञ से सम्बन्धित कार्यों, ब्रह्मा ऋत्विज आदि के लिए किया गया है। यज्ञ में होता, उद्गाता, अध्वर्यु के अतिरिक्त चौथा ऋत्विक् ब्रह्मा होता था, जो तीनों वेदों का ज्ञाता होता था[9]। वह यज्ञ की सम्पूर्ण त्रुटियों का ध्यान रखता था। यदि उसमें कोई त्रुटि दृष्टिगत होती थी, तो ब्रह्मा ऋत्विक् भिषक् के समान त्रुटि स्वरूप रोग का इलाज कर दूर

---

१ ऐ०ब्रा० १.४.१ ; ५.२५.६;शां०ब्रा० १८.१

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.६

३ ऐ०ब्रा० ३.१४.२

४ ऐ०ब्रा० १.४.२, ४ ;शां०ब्रा०६.१२, १४;१०.१; १६.८

५ ऐ०ब्रा० ३.१४.२

६ ऐ०ब्रा० १.२.१ ;५ , २४.४; ५ .२५.३;शां०ब्रा० २.७;३.४;६.५;७.६;१८.५;२०.१

७ ऐ०ब्रा० ८.३६.२

८ ऐ०ब्रा० ५.२५.२; ७.३२.२; ८.४०.४;शां०ब्रा० २.२;२०.१

९ ऐ०ब्रा० ५.२५.९, शां०ब्रा० ६.१०,१२

करता था[1]। इस प्रकार ब्रह्मा ऋत्विज को कई बार भिषक् कहा गया है[2]। यज्ञ की त्रुटि को दूर करने को अनेक स्थानों पर 'औषधि करता है' (भिषज्यति) कहा गया है[3] तथा औषधि करने के लिए 'भिषज्यायै' का उल्लेख है[4]। 'औषधय:', 'ओषधी:' 'औषधानि' आदि उपर्युक्त शब्दों का भी अनेक स्थानों पर उल्लेख है, किन्तु इसमें इनका प्रयोग जड़ी-बूटियों के लिए हुआ है। लाभप्रद एवं विशेष जड़ी बूटियों के लिए प्रयोग में आने वाला यह शब्द ही आगे जाकर उनसे बनाई गई तथा रोगों के उपचार में प्रयोग की जाने वाली दवाओं के लिए सम्भवत: प्रयोग किया जाने लगा।

देवताओं के वैद्य वैद्य अश्विनीकुमार एवं अन्य वैद्य

अश्विनी कुमारों के लिए 'भिषजौ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कहा गया है कि यह दोनों देवताओं के वैद्य हैं।[5] इनके लिए जो यज्ञ किया जाता है वह चिकित्सा स्वरूप माना गया है[6]।

उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रह्मा ऋत्विक् को भी यज्ञ का वैद्य कह दिया गया है[7]। इन प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि ब्रा० काल में विशेष वैद्य होते थे। ये विविध औषधियों से रोगोपचार करते थे।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ यज्ञस्य हैव भिषग्यद्ब्रह्मा यज्ञायैव तद्भेषजं कृत्वा हरति।

२ ऐ०ब्रा० १.४.२,४; ३.१४.२; ५.२५.६; शां०ब्रा० ६.१०,१२।

३ ऐ०ब्रा० १.४.२,४; ३.१४.२; शां०ब्रा० १८.८; ६.१२,१४; १३.८।

४ शां०ब्रा० ५.६; ६.१०; १८.६; २३.१।

५ ऐ०ब्रा० १.४.१ अश्विनौ वै देवानां भिषजौ, शां०ब्रा० १८.१ अश्विनौ वै देवानां-भिषजौ।

६ शां०ब्रा० १८.१ यत्पुरस्तादश्विनीयजति...भैषज्यमेव तत्कुरुते।

७ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ यज्ञस्यहैवभिषग्यद्ब्रह्मा।

प्राकृतिक चिकित्सा

जल -- ऐ०ब्रा० में जल को भेषज, कल्याणकारी बल, ओज को धारण कराने वाला अमृत आदि कहा गया है[1]। जल से प्रार्थना की गई है कि वह (प्रार्थी को) कल्याणकारी चक्षुओं से देखे और बल, ओज, वर्चस् धारण करे[2]। आतप वृष्टि (सूर्य की फैली हुई धूप में होने वाली वृष्टि) का जल तेज और ब्रह्मवर्चस से युक्त कहा गया है[3]। ऐ०ब्रा० में जल को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। जहां तक कह दिया गया है कि दधि, मधु, घृत आदि सब जो है वह जलों का रस है[4], क्योंकि जल ही ओषधियों के रस को यह रूप धारण कराता है[5]। इससे जल को स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण माने जाने का पता चलता है।

अग्नि और सूर्य -- ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि अग्निदेव जीवन प्रदान करने वाले, जीवन के लिए ओषधि एवं जीवन के रक्षक हैं[6]। यह अमृतत्व से अर्थात् मरणधर्मरहित देवता रूप से जन्म लेने वाले हैं[7], अतः यह अग्नि अमृतत्व को प्रदान करते हैं[8]। यह अग्नि ओषधियों को पकाकर तैयार करने वाले हैं, अतः ओषधियां आग्नेयी होती हैं[9]। वनस्पति तथा जड़ी-बूटियां आदि सूर्य की उष्णता से पकती हैं, अतः यहां अग्नि सूर्य के ताप की बोधक है। पृथ्वी पर अग्नि और द्यौ में सूर्य, दोनों से मनुष्य को जीवनदायक वस्तुएं एवं उष्णता प्राप्त होती है। इन उद्धरणों से अग्नि और सूर्य के महत्वपूर्ण स्थान होने के विषय में ज्ञात होता है।

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.३ इमा: आप: शिवतमा इमा: सर्वस्य भेषजी: । इमा राष्ट्रस्य वर्धनीरिमा राष्ट्रभृतोऽमृता: ।

२ ऐ०ब्रा० ८.३७.२ शिवेन मा चक्षुषा पश्यताऽऽप: ... मयि वर्चो बलमोजो निधत्त ।

३ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथ यदातपवर्ष्या आपो भवन्ति तेजश्च ह वै ब्रह्मवर्चसं चातपवर्ष्या आपस्तेज एवास्मिंस्तद् ब्रह्मवर्चसं च दधाति ।

४ ऐ०ब्रा० ८.३७.४ अथ यद्दधिमधुघृतं भवत्यपां स .... रस:

५ तत्रैव -- अपामेवास्मिंस्तदोषधीनां रसं दधाति ।

६ ऐ०ब्रा० १.५.२ देवो ह्येष एतज्जीवातवे कृतो यदग्नि:

७ तत्रैव अमृतादिव जन्मन

८ तत्रैव अमृतत्वमेवास्मिंस्तद्दधाति ।

९ ऐ०ब्रा० १.२ १ यदाग्निं यजति तस्मादक्षिणतोऽग्र ओषधय: पच्यमाना आयन्त्याग्नेय्यो ह्योषधय: ।

और बड़ा होने पर शिशु के विषय में कहा गया है कि शिशु ग्रीवा को साधता है, शिर को संभालता है[1]। इन सब के पश्चात् बालक इधर-उधर चलना प्रारम्भ करता है[2]। तदनन्तर कुमार बोलना आरम्भ करता है[3]। वाणी ही सरस्वती है[4]। इन उद्धरणों से गर्भस्थ तथा शिशु जीवन के क्रमिक विकास के ज्ञान का पता चलता है।

विविध रोग

ऐ०ब्रा० में कुछ बीमारियों का भी प्रासंगिक उल्लेख है। विलक्षण छन्दों के अनुष्ठान के विषय में कहा गया है कि ये विलक्षण छन्द उपसद में ग्रीवा स्थानीय गण्डमाला रोग के समान दोष उत्पन्न करने वाले हैं[5]। वरुण के प्रकोप से हरिश्चन्द्र का रुग्ण होकर पेट बढ़ गया[6]। सायण ने इस रोग को महोदर भी कहा है[7]। आजकल इसे जलोदर कहते हैं।

शिक्षा

ऋ०ब्रा० में शिक्षा के बारे में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती है। यत्र-तत्र कतिपय उद्धरणों से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

आश्रम व्यवस्था

यद्यपि जीवन के आश्रमों के के रूप में चतुर्विभाजन की स्पष्ट चर्चा ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में नहीं मिलती है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह मान्यता व्यवहार तथा विचारों में प्रचलित थी। ऐ०ब्रा० में पुत्र महिमा के प्रसंग में नारद कहते हैं--"मल, अजिन, श्मश्रु तथा तप से क्या? पुत्र की इच्छा करो"[8]।

---

१ तत्रैव--कुमारं जातं संवत्सरे प्रतिधारयति वै ग्रीवा अथो शिर इति।
२ तत्रैव-- कुमारो जातः पश्चैव प्रचरति
३ तत्रैव-- कुमारंजातं जघन्या वागाविशति
४ तत्रैव-- वाग्धि सरस्वती
५ ऐ०ब्रा० १.४.८ यद् विच्छन्दसः कुर्याद् ग्रीवासु तद्गण्डं दध्यात्।
६ ऐ०ब्रा० ७.३३.३ अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे... ।
७ ऐ०ब्रा०(क) ७.३३.३ एतेन परितप्युत्पन्नमहोदर नामकं रोगस्वरूपमुत्पन्नम्।
८ ऐ०ब्रा० ७.३३.१ किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं... ।

यहां अजिन ब्रह्मचर्याश्रम, मल गृहस्थाश्रम, श्मश्रु वानप्रस्थाश्रम तथा तप सन्यास का द्योतक है। कथन के ढंग से ऐसा लगता है कि यह कोई सामान्य बात रही होगी। हो सकता है प्रसंगाभाव के कारण आश्रमशब्द तथा उससे सम्बन्धित तथ्यों की चर्चा नहीं आई है। एक अन्य स्थान पर नाभानेदिष्ट के ब्रह्मचर्य काल में ही उसके भाइयों ने सम्पत्ति विभाजन कर लिया।[1] इससे प्रतीत होता है कि नाभानेदिष्ट उस समय घर से दूर कहीं शिक्षा ग्रहण हेतु गया होगा। इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक आयु विशेष होती थी और यह काल सुनिश्चित होता था।

शिक्षा की व्यवस्था

शां०ब्रा० में प्रशंसायुक्त वाणी में सिद्धहस्त होने के लिए उत्तर दिशा में जाकर शिक्षा ग्रहण करने को कहा गया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि शिक्षा के विशेष केन्द्र विकसित हो गये थे, जो संभवत: भिन्न-भिन्न विशेषों से सम्बन्धित होंगे। परिवारों में भी रहकर पिता तथा भाइयों से शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण भी हैं। विश्वामित्र के छोटे पुत्र उनके दत्तकपुत्र शुन: शेप से शिक्षा पाते हैं।[3] ऐतश जब अपने पुत्रों को मन्त्रों का ज्ञान देते हैं तो एक पुत्र पढ़ने का इच्छुक न होने के कारण उनका मुंह बन्द कर देता है।[4] एक स्थान पर तीव्र बुद्धि प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है,[5] जो शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता अनिवार्य करने का द्योतक है।

---

१ ऐ०ब्रा० ५,२२,६ नाभानेदिष्ठं... ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्

२ शां०ब्रा० ७,६ .. तस्मात् उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यते उदंच उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं... ।

३ ऐ०ब्रा० ७,३३,६ एष व: मद विश्वामित्र... यथा पुत्रेषु वायं स आता विधां यामु च विद्मसि....जह्नूनां यो धिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्

४ ऐ०ब्रा० ६,३०,७ शां०ब्रा० ३०,५ ऐतश प्रलापं... ।

५ ऋ० ८,४२,३, ऐ०ब्रा० १,३,२ ,शां०ब्रा० ७,१० धियं शिक्षमाणस्य

शां०ब्रा० में नृत्य, गीत तथा वादित(वाद्य बजाना) को त्रिविध शिल्प कहा गया है[1]। ऐ०ब्रा० में शिल्पों को "आत्मसंस्कृति" बताया है[2]। इन आश्चर्य कर्मों(रसायण) के लिए शिक्षा चाहिए[3]। "त्रयी विद्या" की चर्चा आई है[4], जिसका महत्व तो स्पष्ट ही है।

स्त्री शिक्षा

स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रचलन था। ऋ० में तो मन्त्र द्रष्टा स्त्री ऋषियों के नाम आये हैं[5]। यह उनके शिक्षित होने का परिचायक है, किन्तु ऋ० ब्रा० में गन्धर्वगृहीता[6] का नाम यज्ञों के विधानों के प्रसंग में आना एक अन्य दिशा की ओर संकेत करता है। स्त्रियों के यज्ञों में भाग लेने पर कुछ सीमायें लगाई गई हैं[7]। उनके ऋत्विज होने का प्रमाण नहीं मिलता है। इस दशा में कुमारी गन्धर्वगृहीता का याज्ञिक विधि-विधान के सम्बन्ध में संदर्भ व्यक्ति बन जाना एक विशेष तथ्य है[8]। यह स्त्रियों का प्रारम्भिक वैदिक काल में समाज में उच्चस्थान तथा सुशिक्षित होने का द्योतक है। यह प्रसंग स्त्रियों का दीर्घ काल तक अविवाहित रहकर शिक्षा-दीक्षा में संलग्न रहने का भी उदाहरण प्रस्तुत करता है।

---

1 शां०ब्रा० २९.५ त्रिविधं वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रम्।

2 ऐ०ब्रा० ६.३०.१ आत्मसंस्कृति र्वाव शिल्पानि

3 ऐ०ब्रा०(क) ६.३० १

4 ऐ०ब्रा० ५.२५.७,८, शां०ब्रा० ६.१०,११,१२

5 ऋ० ५.२८.१ विश्ववारा
ऋ० १०.४० घोषा पूरे सूक्त की रचयिता
ऋ० ८.९१.१ अपाला
ऋ० १.१७९.२ लोपामुद्रा
ऋ० १.७२.५; ५.२८.१; ५.४३.१५

6 ऐ०ब्रा० ५.२५.४ एतद्ध स्माऽऽह कुमारी गन्धर्वगृहीता...
शां०ब्रा० २.९ एतद्ध स्माऽऽह कुमारी गन्धर्वगृहीतावाच

7 शां०ब्रा० २७.४ अयज्ञिया पत्न्यो बहिर्वेदि हि ता इति।

8 ऐ०ब्रा० ५.२५.४, शां०ब्रा० २.९

सप्तम अध्याय

-0-

संस्कृति(२): अध्यात्म पक्ष

-0-

सप्तम अध्याय
-0-

संस्कृति(२) : अध्यात्म पक्ष

परिचय

मनुष्य के सामने भौतिक जीवन-यापन(खान-पान, मनोरंजन आदि) की समस्याओं से किसी प्रकार कम आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन की उलझन नहीं है। अध्यात्म के अनेक स्तर तथा रूप हो सकते हैं, किन्तु इनका सार्वनिष्ठ उद्देश्य स्वयं से परे अदृश्य की जानकारी करना है, जैसे जीवन-मरण की गुत्थी, भले-बुरे का साध्यवादिक (टीलियोलौजिकल) आधार, भय (अरक्षा) ग्रसित सांसारिक जीवन में परम आलम्ब तथा स्वभाव वश जिज्ञासा अथवा कौतूहल की निवृत्ति। रहस्योद्घाटन के हेतु समाधान के रूप में अनेकानेक अवधारणायें प्रस्तुत की जाती रही हैं। सफलता अथवा जनमानस में ग्राह्य होने पर ये अवधारणायें मत-मतांतरों के रूप में विकसित हुई हैं और इस प्रकार अनेक आचार अथवा लोकनीतियों का आधार बनी हैं। यह क्रम गतिशील है तथा इसमें अन्यान्य प्रकार के उतार-चढ़ाव भी आते रहे हैं। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि मानव की आध्यात्मिक तथा उससे विकसित मान्यताओं का ताना-बाना उसके जीवन के भौतिक विकास तक को रूपान्तरित करता है। यह अनेक प्रकार से आचरण का आलम्बन बनता है और इस प्रकार नीति, न्याय तथा अर्थ विषयक मान्यताओं को प्रभावित करता है। जब आध्यात्मिक कौतूहल रूढ़िगत हो जाता है तो जीवन के अन्य पक्षों पर ऐसी प्रतिच्छाया पड़ती है। अन्था कर्मकाण्ड का अतिचार होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ०ब्रा० काल सभ्यता के विकास के ऐसे चरण का द्योतक है, जिसमें अध्यात्म पक्ष एक रूढ़ि-बद्ध रूप ले रहा था।

आध्यात्मिक रहस्यों में पैठने के दो पक्ष होते हैं--(१) मानसिक अनुभूति एवं आह्लाद तथा (२) कर्मकाण्ड द्वारा तुष्टि। दोनों पक्ष साथ-साथ चलते हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि दोनों का आपेक्षिक महत्त्व तथा बीच का अन्तर घटता-बढ़ता रहता है। ऋग्संहिता का मंत्र द्रष्टा कर्मकाण्ड प्रेरित होते हुए भी मानसिक स्तर पर आध्यात्मिक आह्लाद तथा अनुभूति की उत्कृष्ट दशा में था

किन्तु ब्रा०ग्रा० काल में उसकी सर्जनाशक्ति इतनी अबाध न रह गई थी और कर्मकाण्ड की जकड़ दृढ़ हो रही थी।

मानसिक अनुभूतियों के लिए प्रतीक चाहिए, क्योंकि भाषा की अपनी सीमायें होती हैं। आध्यात्मिक अनुभूति का साधन बनाने में ज्ञात प्रत्ययों तथा सम्बन्धित शब्दावली को विशेष अर्थ देने पड़ते हैं, जिन्हें प्रतीक कहते हैं। वैदिक वाङ्मय ऐसे प्रतीकों से भरा पड़ा है। इन प्रतीकों को समझ पाना कठिन है, क्योंकि कर्मकाण्ड प्रयोग होने से उनके मूल अर्थों से दूरी बढ़ती गई। साथ ही साथ कर्मकाण्ड में प्रतीकात्मक अर्थ प्रक्रियाओं द्वारा दब जाते हैं और उनमें अभिचारात्मकता आ जाती है।

कर्मकाण्ड मानसिक अनुभूतियों का रूढ़िबद्ध बाह्य प्रतीक रूप है। यह बाह्यरूप ब्रा०ग्रा०काल में इतना प्रधान हो चुकता है कि मन्त्रगत आनुषंगिक मानसिक अनुभूतियों अथवा उनकी पृष्ठभूमि से कर्मकाण्ड की प्रक्रियाओं को जोड़ पाना दुष्प्रयास प्रतीत होता है। बाद के ब्राह्मणों में तो यह दूरी और भी अधिक बढ़ जाती है। यह भी प्रश्न उठता है कि कर्मकाण्ड तथा मानसिक अनुभूति विशेष, में कौन पूर्वापर है। इन सब कठिनाइयों के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित कर्मकाण्ड की पृष्ठभूमि तथा उसके पीछे गूढ़ार्थों को देख पाना सरल नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय ही कर्मकाण्ड है। फलतः तात्कालिक आध्यात्मिक परिवेश को जानने के हेतु याज्ञिक प्रक्रियाओं को समझना जरूरी है। इन्हें प्रवेश द्वार की भांति प्रयोग करना होगा। साथ ही साथ अन्य प्रासंगिक सामग्री का भी मूल्यांकन करेंगे, जैसे खगोल के रहस्य, वाणी और मनस् के बारे में धारणायें, देवकुल, मत-मतान्तरों की संरचना आदि।

यज्ञों का वर्गीकरण

वैदिक कर्मकाण्ड इतना विशद् तथा जटिल था कि उसका विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक था, किन्तु यज्ञों की संख्या इतनी अधिक थी कि सभी को विस्तृत रूप से वर्णित करना तथा उस वर्णन को याद रखना सम्भव नहीं था। फलतः जो योजना बनाई वह वास्तव में बड़ी ही युक्तमत् सिद्ध हुई। यज्ञों

को दो प्रकार से विभाजित किया गया--(क) विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से तथा (ख) प्रयोजन के अनुसार। प्रयोजन के आधार पर यज्ञों के प्रत्येक वर्ग से एक यज्ञ को सामान्य प्रकृति अथवा आदर्श रूप मानकर वर्णित किया गया। शेष के बारे में केवल विशिष्टतायें बता दी गई। अत: इन अन्य यज्ञों को विकृति यज्ञ की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसी योजना सम्भवत: ऋ०ब्रा०के समय तक ही निश्चित हो गई होगी, क्योंकि लगभग सभी श्रौत सूत्रों अथवा ब्राह्मणों में इसी प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है। उदाहरणार्थ अग्निष्टोम आश्वा० श्रौ०सू०, कात्या०श्रौ०सू०, आपस्तम्ब श्रौ०सू० आदि सभी में प्रकृति रूप में वर्णित है।

ऋ०ब्रा० में प्रकृति तथा विकृति यज्ञ

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऋ०ब्रा० में यज्ञों को प्रकृति तथा विकृति दो रूपों में वर्णित किया गया है[1]। काणे महोदय ने प्रकृतियज्ञ को 'आदर्शस्वरूप' यज्ञ कहा है[2]। विकृति रूप से वर्णित यज्ञों के बारे में विभिन्नताओं के प्रति संकेतमात्र किया गया है[3]। ये यज्ञ विशेषरूप से आयोजित होते थे और ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके प्रसंग में 'प्रकृति' कहे जाने वाले यज्ञों से जहां कहीं विभेद है, उन्हीं भिन्न देवता, द्रव्य, मन्त्र या विधियों के बारे में विशेष निर्देश मात्र मिलता है। उदाहरणार्थ, नैमित्तिक यज्ञों में दर्श और पौर्णमास यज्ञ का तो विशद रूप से वर्णन है, किन्तु ऋतु याग, वैमृध, चन्द्राभ्युदितां आदि के बारे में उन्हीं बातों की चर्चा है, जिनमें वे दर्श-पौर्णमास यज्ञ से भिन्न या विशेष है। इस प्रकार दर्श पौर्णमास प्रकृतिस्वरूप और अन्य विकृतिस्वरूप

---

१ ऐ०ब्रा०(क) १.१.१भूमिका भाग-प्रकर्षेण क्रियते साकल्येनानुष्ठेयं उपदिश्यते यस्यां सा प्रकृति.... अवशिष्टं तु सर्वमनुष्ठेयं प्रकृतिवद् विकृति: कर्तव्येति।

२ काणे-- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, पृ०५४५(हिन्दी रूपान्तर अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप)

३ ऐ०ब्रा०(क) १.१.८ विशेषस्यैव तत्र प्रत्यक्षा पिवेक्षेनसंपादितत्वात्।

यज्ञ समझे जा सकते हैं। इसी प्रकार सोमयागों में 'अग्निष्टोम' तो प्रकृति यज्ञ है, किन्तु अन्य जैसे अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी आदि विकृति यज्ञ हुए। इसी आधार पर गवामयन का प्रकृतिरूप में तथा उसके प्रसंग में अंगिरसामयन तथा आदित्यानामयन का विकृति रूप में उल्लेख है। द्वादशाह को प्रकृति रूप में मानकर उसके साथ भरत द्वादशाह एवं व्यूढ़द्वादशाह का विकृति रूपेण विवरण प्रस्तुत किया गया है। राजसूय यज्ञ के साथ न किन्हीं विकृति यज्ञों का विवरण है और न उसके किन्हीं विकृति रूपों की ओर कोई संकेत मिलता है।

आगे इन यज्ञों के प्रकारों तथा उनसे सम्बन्धित तथ्यों की चर्चा करेंगे।

यद्यपि ऋ०ब्रा० में यज्ञों के औपचारिक वर्गीकरण की कोई योजना नहीं मिलती है, किन्तु विवरण के क्रमादि में संकेत अवश्य मिलते हैं। मीमांसकों ने यज्ञों के त्रिवर्ग की चर्चा की है--नैत्य, नैमित्तिक तथा काम्य। अग्निहोत्र नित्य होने वाले तथा दर्श-पौर्णमास नैमित्तिक यज्ञों के उदाहरण हैं। काम्य यज्ञों की तुलना में कहा जाता है कि नैत्य तथा नैमित्तिक यज्ञों के करने से चाहे फल भले ही न मिले, किन्तु प्रत्यवाय हो सकता है।[1] यहां यह कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि नैमित्तिक यज्ञ के लिए कुछ निमित्त कुछ इष्टि पूर्ति चाहिए। ऋ०ब्रा० वर्णित यज्ञों से ऐसा आभास[2] मिलता है, कि कुछ दर्श-पौर्णमास यज्ञ इष्टिपूर्ति वाले थे और कुछ सामान्य। अतः स्पष्टीकरण हेतु एक सामान्य वर्ग-पाक्षिक यज्ञ प्रस्तावित है, जिसके अन्तर्गत दर्श-पौर्णमास तथा ऋतुयागों को समाहित किया है।

वर्गीकरण की स्पष्टता के लिए एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है :

---

1 श्रीकृष्णयज्वा--मीमांसा परिभाषा बनारस संस्कृत सीरीज़ १६, पृ०१४
नित्यनैमित्तिकयोरकरणे प्रत्यवाय एवं कृते फलं नास्तीति केचित्।

2 शां०ब्रा० ४.१-१४, शां०ब्रा० ३.१-६।

अग्न्याधान

वैदिक यज्ञों की सर्वसामान्य प्रक्रिया अग्न्याधान है। अत: इसकी चर्चा सबसे प्रारम्भ में ही कर रहे हैं। अग्न्याधान का तात्पर्य है: यज्ञ करने के लिए अरणियों के द्वारा यज्ञीय अग्नि को प्रज्ज्वलित करना और यज्ञ वेदी में उसकी स्थापना तथा यज्ञपर्यन्त उसे प्रज्ज्वलित रखना।

वैदिक कर्मकाण्ड में अग्नि का इतना महत्त्व है कि दोनों ही ऋ०ब्रा० अग्नि की प्रशंसा से प्रारम्भ होते हैं[1]। शां०ब्रा० तो अग्नि को मनुष्य के लिए उपयोगी बनाये जाने की एक आख्यायिका से ही प्रारम्भ होता है[2]। अग्न्याधान के प्रसंग में उल्लेख है कि स्वर्ग जाते हुए देवताओं ने अग्नि से कहा, " इस लोक में जो है, वह तुम्हारे द्वारा हमें प्राप्त हो। "अग्नि ने उत्तर दिया, " मैं तुम देवताओं में से एक हूं। मनुष्यों के लिए मैं घोर संस्पर्श अर्थात् भयानक स्पर्श वाला हूं, अत: जो मनुष्यों का है, वह तुम्हारा कैसे होगा। देवता बोले, " हम तुम्हारे घोर संस्पर्श को अलग करके तुम्हें शुभ और यज्ञ योग्य कर देंगे, जिससे मनुष्यों के लिये कल्याणकारी, सहायक और यज्ञयोग्य हो जाओगे। " देवताओं ने अग्नि की दहनशीलता को जल में, शुद्धकारिता को वायु में और तेजस्विता को आदित्य में धारण करा दिया, जिससे अग्नि फिर मनुष्यों के लिए कल्याणकारी, सहायक और यज्ञयोग्य हो गया। अग्नि के ये (उपर्युक्त) ही रूप हैं। मनुष्य देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करता है, जिससे अग्नि भी प्रसन्न होता है। देवता व तीन (प्रकार के) तीन लोकों में होते हैं। अग्नि इन तीनों लोकों को प्राप्त करता है[3]। यह एक बहुत ही उत्कृष्ट प्रतीकात्मक

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.१, शां०ब्रा० १.१

२ शां०ब्रा० १.१

३ शां०ब्रा०१.१अस्मिन्वै लोके उभये देवमनुष्या आसुस्ते देवा स्वर्गं यन्तोऽग्निमूचु:....
अथ येन शिवा शग्म्या यज्ञिया तनूस्तयेह मनुष्येभ्यो भविष्यसि...
त्रयोवा इमे लोका इमानेवतं लोकानाप्नोति।

विवरण है।

ऐ०ब्रा० में अग्नि को देवताओं में प्रथम कहा गया है[1]। अग्नि को सर्वदेवता भी कह दिया गया है[2]। यज्ञ में अग्नि की प्रसन्नता से ही ऋत्विज यज्ञ का विस्तार करते थे[3]।

अग्नि को अरणियों से प्रज्ज्वलित किया जाता था। अत:[4] अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाली अरणियों को अग्नि का "देवरथ" कहा गया है। उल्लेख है कि अग्नि इस देवरथ पर समारूढ़ होकर स्वर्ग तक भली प्रकार पहुंच जाता है[5]। उपर्युक्त उद्धरणों से यज्ञ में अग्नि की प्रमुखता और महत्ता का पता चलता है। इस प्रसंग में अग्नि के लिए जिन उपमाओं और रूपकों का प्रयोग किया गया है, वह रचयिताओं की मानसिक उड़ानों का परिचायक है।

नित्य यज्ञ--अग्निहोत्र

नित्य यज्ञ को दैनिक यज्ञ भी कहा जा सकता है। इसको प्रतिदिन करना होता था। इसके अन्तर्गत अग्निहोत्र को जीवन भर अनवच्छिन्न रूप से करने का विधान है[6], यहाँ तक कि पत्नी के मृत या नष्ट हो जाने पर[7] भी अपत्नीक व्यक्ति को अग्निहोत्र नित्य करना चाहिए।

अग्निहोत्र को प्रात:काल तथा सायंकाल दोनों समय प्रतिदिन करने के लिए कहा गया है[8], किन्तु प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व या पश्चात्

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.१ अग्निर्वै देवानामवमो, ऐ०ब्रा० १.१.४ अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्
२ ऐ०ब्रा० १.१.१ अग्नि वै सर्वादेवता
३ ऐ०ब्रा० १.१.४ त्वया यज्ञं वितन्वत
४ शां०ब्रा० २.६ अथ प्रदरण्यौरग्नीन्समारोहयते देवरथो वा अरणी...
५ तत्रैव--स एतेन देवरथेन... स्वर्गं लोकं समश्नुते।
६ ऐ०ब्रा० ५.२५.४,५,६; ३.१४.२
  शा०ब्रा० २.७;२.८; २.६
७ ऐ०ब्रा० ७.३२, ६, १०
८ ऐ०ब्रा० ३.१४.२; ५.२५.४-६; शां०ब्रा० २.७-६

तथा सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व या पश्चात् किस समय किया जाय, इसमें मत-मतान्तर हैं। शां०ब्रा० में प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व संधिकाल(तक) में तथा सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व संधिकाल(तक)में अग्निहोत्र करने का उल्लेख है। इसके लिए वृषशुष्म, कुमारी गन्धर्वगृहीता तथा कौषीतकि ऋषि के मत उद्धृत किये गये हैं।[1] कुमारी गन्धर्वगृहीता ने अहोरात्र को अगाध समुद्र कहा है, और सायं-प्रात: के दोनों सन्धिकालों को तीर्थ कहा है। इन दोनों संधिकालों में यज्ञ करना उसी प्रकार बताया गया है, जैसे तीर्थस्थान(घाट) से समुद्र को पार किया जाता है।[2] ऋषि कौषीतकि ने भी इसी प्रकार सन्धिकाल में यज्ञ करने का विधान किया है। कहा है कि प्रात:काल अन्धकार दूर हो जाने पर और सूर्योदय से पूर्व (संधिकाल) में तथा सायंकाल सूर्यास्त के समय और अंधेरा फैलने के पूर्व (संधिकाल में) अग्निहोत्र करना 'देवयान केतु' के समान है। इससे स्वर्ग लोक प्राप्त होता है।[3]

ऐ०ब्रा० में वृषशुष्म जातूकर्ण्य तथा कुमारी गन्धर्वगृहीता के मत को उद्धृत करते हुए प्रात: सूर्योदय के पश्चात् तथा सायंकाल सूर्यास्त के पश्चात् अग्निहोत्र करने का उल्लेख है।[4] कहा गया है कि अहोरात्र संवत्सर के दो चक्र हैं। उन्हीं से संवत्सर प्राप्त होता है। जो सूर्योदय से पूर्व होम करते हैं, वह एक चक्र (की गाड़ी) से जाने के समान है और सूर्योदय होने पर होम करना दो चक्रों (वाली गाड़ी) के समान है, जिससे शीघ्र मार्ग तय कर ले।[5]

---

१ तत्रैव

२ शां०ब्रा० २.९ एतदेव कुमारी गन्धर्वगृहीतोवाच... संधौ जुहुयात् समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्यैते ऽगाधे तीर्थे यत्संध्ये तद्यथा ऽगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमतीयात्तादृक्तद्यत्संधौ जुहोति।

३ शां०ब्रा० २.९ तदु ह स्माऽऽह कौषीतकि: वायमस्त मितेपुरा तमसस्तस्मिन् काले जुहुयात् स देवयान: केतु:।

४ ऐ०ब्रा० ५.२५.४ वृषशुष्मो ह वातावत उवाच जातूकर्ण्यो... एतदु स्मोवाच कुमारी गन्धर्वगृहीता... एतद् वा अग्निहोत्रमभ्युदितं यदस्तमिते सायं जुहोति अनुदिते प्रात:। तस्मादुदिते होतव्यम्।

५ ऐ०ब्रा० ५.२५.४ एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे ताभ्यामेव तत्संवत्सरमेति ... क्षिप्रमध्वानं समश्नुवीत।

नगरी जानश्रुतेय का मत उद्धृत करते हुए भी उदित होम[1] (अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् होम करना) की प्रशंसा की गई है । उदित होम की प्रशंसा करते हुए ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि सूर्योदय से पूर्व होम करना अनुत्पन्न कुमार को स्तनपान देने के समान है और सूर्योदय होने पर होम करना उत्पन्न हुए कुमार को दुग्धपानार्थ स्तन प्रदान करने के समान है[2] । सूर्योदय से पूर्व होम करना ऐसा ही है, जिस प्रकार बिना हाथ फैलाये पुरुष और हस्ती के हाथ में ग्रास आदि पदार्थों का रखना है । सूर्योदय के पश्चात् होम करना हाथ फैलाये व्यक्ति या हस्ती के हाथ में ग्रासादि पदार्थों के रखने के समान है[3] । जो व्यक्ति उदित होम करते हैं, उनको हवि स्वीकारार्थ फैले हुए हाथ से आदित्य ऊपर लाकर स्वर्ग लोक में पहुंचा देता है[4] । आदित्य उदित होने पर सर्व प्राणियों को प्राणपूर्ण अर्थात् सचेष्ट कर देता है । अत: इसको प्राण कहा जाता है । अत: जो व्यक्ति सूर्य उदित होने पर अग्निहोत्र करता है, वह प्राण रूप सूर्य में होम करता है[5] । जो व्यक्ति सूर्यास्त के समय सायंकाल और सूर्योदय के बाद प्रात:काल अग्निहोत्र करता है वह सत्य बोलते हुए सत्य में होम करता है[6] ।

ऐ०ब्रा०में सभी स्थानों पर सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के समय अग्निहोत्र का विधान किया गया है, जब कि शां०ब्रा० में सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् विधान है । इन दोनों ब्राह्मणों में कुमारी गन्धर्व गृहीता का मत

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.५... तद् विद्वान् नगरी जानश्रुतेय उवाच... तस्मादुदिते होतव्यम् ।

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ ... स योऽनुदिते जुहोति यथा कुमाराय.... यथा कुमाराय वा वत्साय वा जाताय स्तनं प्रतिदध्यात् तादृक् तत् ।

३ तत्रैव -- स योऽनुदिते जुहोति यथा पुरुषाय वा हस्तिने वा प्रयते हस्त आदध्यात् ....य उदिते जुहोति यथा पुरुषाय वा हस्तिने वा प्रयते हस्तआदध्यात् .... ।

४ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ तमेष स्वेनैव हस्तेनोर्ध्वं हृत्वा स्वर्गे लोक आदधाति य एवं विद्वानुदिते जुहोति ।

५ तत्रैव... उद्यन्नु खलु वा आदित्य: सर्वाणि भूतानि प्रणयति... य एवं विद्वानुदिते जुहोति ।

६ तत्रैव- एष ह वै सत्यं वदन् सत्ये जुहोति योऽस्तमिते सायं जुहोत्युदिते प्रात: ।

उद्धृत किया गया है, किन्तु दोनों ब्राह्मणों में इनके उद्धृत मत में अन्तर है।

अग्निहोत्र में गौ[1] का दूध, दधि, घृत और चावल आदि से तैयार हवि को प्रदान किया जाता था। अग्निहोत्र में दूध की आहुति के लिए प्रयोग किये जाने वाले दूध को देने वाली गौ अग्निहोत्री गौ कहलाती थी[2]। अग्निहोत्री गौ[3] से दूध प्राप्ति में प्रत्यवाय होने पर ऐ०ब्रा० में प्रायश्चित्तों के विधानों का उल्लेख है। अग्निहोत्री गौ के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि अग्निहोत्र करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को गोपालन आवश्यक हो जाता था, जिससे प्रतिदिन अग्निहोत्र के समय हवि के लिए दुग्ध, घृत, दधि आदि वस्तुएं सुलभ रहें। सम्भवतः यह गाय की पवित्रता के आधुनिक रूप का मूलाधार हो। अग्निहोत्री गाय को खिलाने-पिलाने, दूध निकालने आदि से सम्बन्धित जो विधि विधान बताये गये हैं, वे वास्तव में पशुओं पर ध्यान देने के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं[4]।

अग्निहोत्र की चर्चा शां०ब्रा० में व्यवस्थित रूप में की गई है, जब कि ऐ०ब्रा० में उसे छिटपुट करके दिया है। इससे अग्निहोत्र के महत्त्व के बारे में सन्देह होता है। जो प्रक्रियायें बताई गई हैं, उनको प्रतिदिन पालन करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए तभी सम्भव हो सकता है, जब कि उसने बिना ऋत्विजों की सहायता के अपनी जीवनचर्या को कर्मकाण्ड मय बना लिया हो।

कहा जाता है कि यह ऐसा कर्मकाण्ड है, जिसके करने से चाहे सुफल की प्राप्ति न भी हो, किन्तु न करने से अनर्थ हो सकता है[5]। शां०ब्रा० के अनुसार अग्निहोत्र करने से अन्न, आनन्द, स्वास्थ्य वाणी, अमृतमयता एवं स्वर्गसिद्धि आदि उपलब्धियां प्राप्त होती हैं[6]। ऐ०ब्रा० ने भी स्वर्ग तथा सत्य की प्राप्ति का आश्वासन दिया है[7]।

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.२ शां०ब्रा० २.१

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.२ यस्याग्निहोत्री उपावसृष्टा... ।

३ तत्रैव

४ ऐ०ब्रा० ७.३२.२,३; ५.२५.२

५ यस्य करणे फलं नास्ति अकरणे प्रत्यवाय ।

६ शां०ब्रा० २.७,८,९

७ ऐ०ब्रा० ५.२५.६

आधुनिक आर्यसमाजी अग्निहोत्र से कुछ अन्य लाभों को देखने की चेष्टा करते हैं, जो डा० सत्यप्रकाश इसे प्रधुमन(धुनी देना)[1] क्रिया समझते हैं जिससे घर का वातावरण शुद्ध करने का प्रयास किया जाता था । ऐ०ब्रा० में वर्णित तथ्यों से ऐसा निष्कर्ष निकालना सम्भव प्रतीत नहीं होता है । वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि घर में प्रयोगार्थ आग के बराबर जलाये रखने का प्रयोजन सिद्ध होता होगा ।

पाक्षिक यज्ञ

ऐ०ब्रा० में विभिन्न पर्वों पर यज्ञ करने का विधान किया गया है । इन पर्वों में अमावस्या तथा पूर्णिमा सर्वप्रमुख हैं । यह आजकल भी बहुत कुछ देखने में आता है । प्रत्येक दर्श(अमावस्या) तथा पूर्णिमा को पाक्षिक यज्ञ करने को कहा गया है,किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ दर्शपौर्णमास यज्ञ निमित्त विशेष के लिए भी बताये गये हैं,और इनके विशेष आयोजन का उल्लेख है । ऐ०ब्रा० की अपेक्षा शां०ब्रा० में इन यज्ञों की विशेष चर्चा मिलती है[2]।वास्तव में ऐ०ब्रा० में दर्श पौर्णमास के विकृति यज्ञों की चर्चा[3] ही नहीं है,केवल दर्शपौर्णमास के सामान्य (प्रकृति) यज्ञ का विवरण दिया गया है ।

इन दर्श पौर्णमास अथवा पाक्षिक यज्ञों के अतिरिक्त शां०ब्रा० में ऋतु सम्बन्धी यज्ञों का भी विधान है, जिन्हें चातुर्मास यज्ञ कहा गया है[4]। वास्तव में यह यज्ञ तीन होने चाहिए थे, किन्तु विधान ४ यज्ञों का है । ऐ०ब्रा० में चातुर्मास यज्ञों का विधान नहीं है । सम्भवत: इन यज्ञों का महत्व देश के सभी भागों के में एक समान नहीं रहा होगा । शां०ब्रा० प्रचलित प्रदेश में इन पर विशेष बल होगा ।

~~१ ऐ०ब्रा० ५.२६.३~~

१ सत्यप्रकाश -- अग्निहोत्र ऑर एन एन्शेंट प्रोसेस ऑफ फ्यूमीगेशन|द सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली,१६७०० ।

२ शां०ब्रा० ३.१-६, ४.१-१४

३ ऐ०ब्रा० ७.३२.६

४ शां०ब्रा० ५.१-१०

दर्श पौर्णमास यज्ञ

दर्श शब्द अमावस्या के लिए प्रयुक्त है, क्योंकि कहा जाता है कि उस दिन केवल सूर्य ही चन्द्रमा को देखता है[1]। इसे सूर्येन्दुसंगम भी कहते हैं, क्योंकि उस दिन सूर्य और चन्द्र के बीच की दूरी सबसे कम रह जाती है[2]। यह मास का मध्य दिवस होता है। पौर्णमास का महत्व तो स्पष्ट ही है। दर्श-पौर्णमास यज्ञ शुद्ध पाक्षिक तथा नैमित्तिक दोनों ही रूप में होते थे। प्रत्येक अमावस्या तथा पूर्णिमा अपने में महत्वपूर्ण दृष्टि ग्रवण्य तो है ही, उस दिन पुराने समय में निश्चय ही यज्ञ विधान होना आश्चर्य की बात नहीं है। चन्द्रमास माने जाने के कारण इनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है था। प्रारम्भ में चन्द्र का घटना-बढ़ना समुचित रहस्य की बात रही ही होगी। शुद्ध पाक्षिक यज्ञों के अतिरिक्त अन्य यज्ञों के लिए भी पूर्णिमा तथा अमावस्या ही अधिकांशत: उपयुक्त अवसर माने जाते थे। सभी वर्णित यज्ञों की जांच करने से ज्ञात होता है कि अधिकांश यज्ञ पूर्णमासी के अवसर पर होते थे, अमावस्या के अवसर पर तो कतिपय ही। यह स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। पूर्णिमा का दिन (रात) प्रकाशयुक्त तथा अधिक प्रफुल्लित होता है। वैदिक यज्ञ (तांत्रिक यज्ञों से भिन्न) आह्लाद के वातावरण में मनाये जाते थे। यह ध्यान देने की बात है कि अमावस्या के दिन होने वाले यज्ञों में जीवन मरण, शत्रु पर जीत, सन्तानोत्पत्ति आदि जैसे गुप्त निमित्तों पर अधिक बल होता था[3]। फलत: कौ०ब्रा० में दर्श पौर्णमास के सामान्य यज्ञ को प्रकृति रूप में वर्णित किया है, अन्य को विकृति रूप में। शां०ब्रा० में १२विकृति दर्शपौर्णमास यज्ञों की संक्षिप्त चर्चा है। इनमें एक (आग्रयण) के तीन उप-प्रकार भी बताये गये हैं[4]।

---

१ काणे --'धर्मशास्त्र का इतिहास', भाग१, पृ०५२४(हिन्दी रूपान्तर अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप)।

२ तत्रैव

३ शां०ब्रा० ४.१; ४.८

४ शां०ब्रा० ४.१.-१२; ४.१२-१४

दर्श-पौर्णमास यज्ञ(प्रकृतिवाच्य)

यहां दर्श और पौर्णमास के वर्ण्य विषयों का उल्लेख साथ ही किया जायगा। दर्शपौर्णमास यज्ञों के अनुष्ठानों में व्रत रखने के विषय में उल्लेख है कि व्रत न रखने वाले व्यक्ति की हवि देवता ग्रहण नहीं करते हैं।[1] देवता लोग हवि ग्रहण करें, इसके लिए इन यज्ञों में व्रत रखना चाहिए। व्रत किस समय करना चाहिए, इसके विषय में भिन्न मत हैं। ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० में पैंगय महर्षि का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि पूर्व पूर्णमासी,[2] जिसमें चतुर्दशी का अंश रहता है, जिसे 'अनुमति' कहते हैं, में व्रत रखना चाहिए। इसी प्रकार पूर्व अमावस्या जिसमें चन्द्र की कुछ कला[3] दिखलाई पड़ती रहती है, जो 'सिनीवाली' कहलाती है, में व्रत करना चाहिए। कौषीतकि महर्षि का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि उत्तरपूर्णमासी, जो 'राका'[4] कहलाती है, जिसमें चन्द्रमा पूर्ण कला के साथ उदित होता है, में व्रत करना चाहिए। इसी प्रकार अमावस्या, जिसमें चन्द्रमा की कला[5] बिलकुल दिखाई नहीं पड़ती है, जो 'कुहू' कहलाती है, उसमें व्रत रखने का उल्लेख है।

ऐ०ब्रा० और शां०ब्रा० में उत्तर अमावस्या और उत्तर पूर्णिमा में व्रत करने का विधान किया गया है। उल्लेख है कि व्रत के बाद ही सोम से यज्ञ करते हैं। सोम के साथ सभी देवता तृप्त हो जाते हैं। चन्द्रमा ही देव सोम[6] है। अतः सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल को अभिलक्ष्य करके उत्तरातिथि में व्रत करना चाहिए।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३२.६, शां०ब्रा० ३.१

२ तत्रैव --पूर्वां पौर्णमासीमुपवसेदिति पैंगयम्।

३ ऐ०ब्रा० ७.३२.६, शां०ब्रा० ३.१ या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली।

४ ऐ०ब्रा० ७.३२.६ उत्तरामिति कौषीतकं या उत्तरा सा राका।

५ ऐ०ब्रा० ७.३२.६

६ ऐ०ब्रा० ७.३२.६ | तेनोत्तरामुत्तरामुपवसेदुत्तराणि .... यच्चन्द्रमास्तस्मादुत्तरामुपवसेत्।
शां०ब्रा० ३.१ |

व्रत के सुनिश्चयपूर्वक निर्णय हेतु और यज्ञानुष्ठान के उपयुक्त तिथि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अमावस्या अथवा पूर्णिमा में जिसको प्राप्त करके सूर्य उदित तथा अस्त हो, वह सूर्योदय और सूर्यास्त को व्याप्त करने वाली कर्म के उपयुक्त तिथि कहलाती है[1]।

कदाचित् अमावस्या और पूर्णिमा के दिन व्रत करने तथा अन्य पूजा पाठ आदि धार्मिक कृत्यों की वर्तमान परम्परा उपर्युक्त प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण है।

इन यज्ञों में विविध देवताओं को हवि प्रदान करने के साथ पितरों को भी कुशा पर पुरोडाश रखकर स्वधा प्रवचन द्वारा पितरों को प्रसन्न किया जाता था[2]।

दर्शपौर्णमास यज्ञों को करने से सब ऋतुओं के अनुसार वस्तुओं[3] की प्राप्ति, स्वर्ग[4] की प्राप्ति, शान्ति[5] लाभ आदि सब फलों के प्राप्त होने के विषय में उल्लेख है।

दर्श पौर्णमास यज्ञ(नैमित्तिक)

शां०ब्रा० में दर्श पौर्णमास यज्ञ के प्रकृति स्वरूप के अतिरिक्त अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किये जाने वाले कुछ अन्य यज्ञों का भी उल्लेख है। ये यज्ञ फसलों के तैयार होने पर देवताओं को नये अन्न समर्पण के लिए शत्रु नाश के लिए, सन्तान प्राप्ति, पशु-प्राप्ति तथा सब इच्छाओं की पूर्ति आदि के लिए किए जाते थे।

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३२.६ यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सोऽतिथिः

२ शां०ब्रा०३.७ यदध्वर्युर्बर्हिषदं पुरोडाशं करोति पितॄनेव तत्प्रीणाति।

३ शां०ब्रा० ३.४

४ शां०ब्रा० ३.३ स्वर्गं लोकं समश्नुते

५ शां०ब्रा० ३.६;३.८

इन यज्ञों के बारे में एक विशेष तथ्य यह है कि इनकी चर्चा श०ब्रा० के अतिरिक्त बाद के ब्राह्मणों में नहीं मिलती है । शां०ब्रा० में इनके बारे में थोड़ा सा विवरण है । ऐ०ब्रा० में दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत इनकी कोई चर्चा नहीं है । केवल अग्निष्टोम के प्रसंग में इनमें से दो यज्ञों (इलादधा,दाक्षायण) के बारे में उल्लेख है कि इनसे अग्निष्टोम का फल प्राप्त किया जा सकता है । सायण ने अपनी टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह यज्ञ अति प्राचीन है,जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व बाद में न रह गया होगा। इन यज्ञों की प्रक्रियाओं को देखकर यह पता लगता है कि यह शुद्ध कर्मकाण्ड के अच्छे नमूने हैं, और इनमें किन्हीं अभिचारात्मक प्रतीकों का सन्देह नहीं होता है । यह बात नीचे दिए हुए विवरण से स्पष्ट हो जाती है ।

(१) वैमृध अनुनिर्वाप्य-- इसको अमावस्या अथवा पूर्णिमा को किया जा सकता था । शत्रुओं का नाश करने की इच्छा से इसको करने का विधान है[१] ।

(२) चन्द्र अभ्युदिता -- इसमें उपवास से पूर्व चन्द्रोदय का दर्शन किया जाता था । तीन बाणों के साथ धनुष इसकी दक्षिणा है[२] ।

(३) अभ्युदृष्टा -- इसमें उपवास के बाद चन्द्रदर्शन किया जाता था । इसमें दण्ड और जूते (उपानह) की दक्षिणा दी जाती थी[३] ।

(४) दाक्षायण -- यह फाल्गुन मास की पूर्णिमा को किया जाता था । फाल्गुन मास की पूर्णिमा को संवत्सर का मुख कहा गया है । सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति के लिए इसे किया जाता था[४] ।

(५) इलादधा -- अन्न और पशु की प्राप्ति की कामना से इसको पूर्णिमा में किया जाता था । दाक्षायण यज्ञ के समान ही इसमें व्रत आदि करने का विधान है[५] ।

---

१ शां०ब्रा० ४.१

२ शां०ब्रा० ४.२

३ शां०ब्रा० ४.३

४ शां०ब्रा० ४.४

५ शां०ब्रा० ४.५

(६) सार्वसेनि यज्ञ-- इसको पूर्णिमा में किया जाता था । सन्तान के लिए इसे करने का विधान था[1] ।

(७) शौनक -- पूर्णिमा के दिन इसको करने का विधान था । शत्रुओं को पराभूत करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के द्वारा इसको करने का विधान था[2] ।

(८) वसिष्ठ -- इस यज्ञ को फाल्गुन अमावस्या को किया जाता था । पौर्णमासी को ब्रह्म और अमावस्या को क्षत्र कहा गया है । यह यज्ञ क्षत्रियों के लिए उपयुक्त कहा जाता था ।हतपुत्र (मृत पुत्र) वसिष्ठ ने सन्तान और पशुओं को प्राप्त करने की तथा सौदासों(अपने शत्रुओं) को पराभूत करने की इच्छा की । उन्होंने इस यज्ञ को देखा, और किया । इससे सन्तान और पशुओं को प्राप्त किया तथा शत्रुओं को पराजित किया । अतः वसिष्ठ यज्ञ को करने वाला पुत्र और पशुओं से युक्त तथा शत्रुओं को नष्ट कर देने वाला कहा गया है[3] ।

(९) साकंप्रस्थ -- इसको अमावस्या के दिन श्रेष्ठता और पौरुष की कामना से किया जाता था ।कहा गया है कि इसमें साथ-साथ आगे बढ़ें, साथ-साथ यज्ञ करें,साथ-साथ भोजन करें[4] ।

(१०)मुन्ययन -- इसको पौर्णमासी में करने का विधान था । सब कामनाओं के लिए इसे किये जाने का उल्लेख है[5] ।

(११)तुरायण -- यह पौर्णमासी में किया जाता था । यह स्वर्ग की कामना से किया जाने वाला यज्ञ था । कृष्ण मृगचर्म को इसमें धारण किया जाता था । कृष्णाजिन को ब्रह्म कहा गया है । अतः

---

१ शां०ब्रा० ४.६

२ शां०ब्रा० ४.७

३ शां०ब्रा० ४.८

४ शां०ब्रा० ४.९

५ शां०ब्रा० १.१०

कृष्णाजिन को धारण करना ब्रह्म से यज्ञ की समृद्धि करना होता था । इसमें तीन हवियां दी जाती थीं । तीन लोक कहे गये हैं । इस प्रकार तीनों लोकों की प्राप्ति कही गई है[1] ।

(१२) आग्रयण -- यह कृषि कर्म से सम्बन्धित यज्ञ है । नवान्न के आने पर इसे किया जाता था । श्यामाक सस्य, वैणुयव और व्रीहिसस्य या यवसस्य के नवान्न के रूप में प्राप्त होने पर किये जाने वाले यज्ञों को आग्रयण कहा गया है[2] ।

(क) श्यामाक सस्य -- वर्षाकाल में श्यामाक सस्य के प्राप्त होने पर अमावस्या अथवा पूर्णिमा किसी में इसको किया जा सकता था[3] ।

(ख) वैणुयव -- वसन्त के आने पर वैणुयव के पकने पर इसको किया जाता था[4] ।

(ग) व्रीहि सस्य या यवसस्य -- जौ चावल आदि की फसल तैयार होने पर इसको किया जाता था । द्यावापृथिवी को फसल का क्रमशः बढ़ाने और धारण कराने वाला 'साधयिता' कहा गया है । इसमें अग्निहोत्री गौ को भी नवान्न खिलाकर उसके दूध से सायं प्रातः अग्निहोत्र करने का विधान किया गया है[5] ।

चातुर्मास्य (ऋतु सम्बन्धी) यज्ञ

चातुर्मास्य यज्ञ ऋतुओं से सम्बन्धित होते थे । ये ऋतुओं के सन्धिकाल में किए जाते थे । चातुर्मास्य यज्ञों के अन्तर्गत वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय का उल्लेख है । ऋतु सम्बन्धी ये यज्ञ ऋतुविशेषों में सम्पादित किये जाते थे । वैश्वदेव वसन्त ऋतु, वरुण-प्रघास वर्षा ऋतु, साकमेध शरद ऋतु में होता था । शुनासीरीय के विषय में किसी ऋतु विशेष का उल्लेख नहीं है । कात्यायन श्रौ०सू० तथा आपस्तम्बीय श्रौ०सू० में फाल्गुन चतुर्दशी तक शुनासीरीय यज्ञ करने का विधान है[6] ।

---

१ शां०ब्रा० ४.११
२ शां०ब्रा० ४.१२
३ शां०ब्रा० ४.१२
४ शां०ब्रा० ४.१३
५ शां०ब्रा० ४.१४
६ कात्या०श्रौ०सू०अ०५ कं ६.१; अ०५ कं ६ सू०१८; आप०श्रौ०सू०खं २२, सू०५.२४.२१६६ ।

वर्ष भर में होने वाले इन चातुर्मास्य यज्ञों को भैषज्य यज्ञ भी कहा जाता था[1]। ऋतु परिवर्तन के समय महामारियों का प्रकोप सभी के सामान्य अनुभव की बात है। अत: भैषज्य नाम अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

पूर्णमासी में यज्ञ करना ऋतुओं को प्रसन्न करना कहा गया है[2]। सम्भवत: चातुर्मास्य यज्ञ पूर्णिमा के दिन मनाये जाते होंगे।

वैश्वदेव यज्ञ

यह वैश्वदेव यज्ञ फाल्गुन पूर्णिमा में किया जाता था। फाल्गुन पूर्णिमा को संवत्सर का मुख कहा गया है[3]। कदाचित् इसी से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता रहा होगा। फाल्गुन पूर्णिमा उत्सवों की दृष्टि से आजकल भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें विविध देवताओं को आहुतियां दी जाती थीं[4]। प्रथम उत्पन्न गौ भी दिया जाता था। इसको प्रथम कर्म कहा जाता था[5]। इसमें वाजियों(अश्वों) के लिए भी यज्ञ किया जाता था, इससे अश्व सहित देवताओं के प्रसन्न होने का उल्लेख है[6]। ऋतुओं को इसमें अश्व कह दिया गया है[7]।

वरुण प्रघास

इस यज्ञ को पूर्णिमा के दिन किया जाता था। यद्यपि क०ब्रा० में स्पष्ट नहीं किया गया है, किन्तु वर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह ग्रीष्म तथा वर्षाकाल के संधिकाल का यज्ञ है। काणे ने भी ऐसा ही माना है[8] तथा कात्या०श्रौ०सू० तथा आप०श्रौ०सू० में भी इसे वर्षा में करने का

---

१ शां०ब्रा० ५.१ भैषज्य यज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि

२ शां०ब्रा० ५.२ ऋतनेव तत्प्रीणाति

३ शां०ब्रा० ५.१ मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी।

४ शां०ब्रा० ५.२ अथ यदग्नीषोमौ प्रथमौ देवतानां... सविता वै प्रसवानामीशे.... यत्सरस्वती यजति वाग्वै सरस्वती वाचमेव तत्प्रीणाति अथ यत् पूषणं यजति... अथ यन्मरुत:... द्यावापृथिवी... वैश्वदेवेनेष्टं भवति।

५ शां०ब्रा० ५.२ यत्प्रथमजं गां ददाति प्रथमकर्म हि एतद्

६ शां०ब्रा० ५.२ देवा: साश्वा: प्रीता भवन्ति

७ शां०ब्रा० ५.२ ऋतवो वै वाजिन:

८ काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास भाग१, पृ०५३५।

विधान है[१]।

वरुण पाश तथा अन्य पापों से मुक्ति के लिए इसको किया जाता था। इसके विषय में आख्यायिका है कि 'प्रजापति ने वैश्वदेव द्वारा प्रजा को उत्पन्न किया। उत्पन्न प्रजा ने वरुण के यवों को खा लिया। वरुण ने उन्हें वरुण पाश से बांध लिया। वह प्रजा प्रजापति के पास गई और उनसे कहा 'हमको उस यज्ञ आदि को बताये, जिसको करके वरुण पाशों और सब पापों से छूट जायं।' प्रजापति ने वरुण प्रघास यज्ञ को देखा और उसको किया। वरुण ने प्रसन्न होकर सब प्रजा को वरुण पाश से मुक्त कर दिया[२]। कहा गया है कि इसमें वरुण के लिए जल में यज्ञ किया जाता है, जिससे वरुण अपने 'आयतन' में ही प्रसन्न होते हैं[३]।

यहां जल को वरुण का निवास स्थान (आयतन) कहा गया है। वरुण को जलों का अधिपति माने जाने की परम्परा का उल्लेख इसमें दृष्टिगत होता है।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि इसमें कुछ अभिचारात्मकता के लक्षण विद्यमान हैं। बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है[४]।

साकमेधा

यह यज्ञ वर्षा के अन्त में शरद् काल में पूर्णिमा को किया जाता था। कात्या०श्रौ०सू० में इसे कार्तिकी पूर्णिमा में तथा आप०श्रौ०सू० में इसे शरद् काल में करने का विधान किया गया है[५]। यह इन्द्र सम्बन्धी यज्ञ कहा जाता था[६]। महाराजा के सामने मार्ग अभय करते हुए जाने के समान यह यज्ञ इन्द्र के लिए था[७]। सौमयाग में जिस प्रकार महाव्रत किया जाता था, उसी प्रकार

---

१ कात्या०श्रौ०सू०अध्या०५ कं०३ १
आप०श्रौ०सू० स०४सू०१३, ६७, १८६८

२ शां०ब्रा० ५,३

३ शां०ब्रा० ५,४ अथ यदप्सु वरुणं यजति स्वस्वैन तदायतने प्रीणाति।

४ शत०ब्रा० २,४,३,२०-२१ अथ प्रतिप्रस्थाता... पात्रेभ्यो ह्वयति।

५ कात्या०श्रौ०सू० अ०५ कं०६सू०१
आप०श्रौ०सू०स०४ सू० १३, ६७, १८६८

६ शां०ब्रा० ५,५ ऐन्द्रो वा एष यज्ञः

७ शां०ब्रा० ५,५ तद्यथा महाराजः पुरस्ताद्...पुरस्ताद्देवता यजति।

इस साकमेधा को कहा गया है[1]।

अपराह्ण में पितृ यज्ञ किया जाता था। प्रश्न किया गया है कि "पितर अपर पक्ष भागी होते हैं, उनको मास के पूर्वपक्ष में यज्ञ क्यों किया जाता है? उल्लेख है कि पितर देवताओं से सम्बन्धित होते थे, अतः उनको मास के पूर्वपक्ष में यज्ञ किया जाता है[2]। सोम को पितरों के साथ और पितरों को सोम के साथ आहूत किया जाता था और दक्षिण दिशा की ओर इनके लिए यज्ञ किया जाता है[3]। उल्लेख है कि साकमेधा के द्वारा यज्ञ को उत्तर दिशा की ओर कर देते थे[4]। उत्तर की ओर त्र्यम्बक को हवि प्रदान की जाती थी। कहा गया है कि इससे रुद्र को अपनी दिशा में प्रसन्न किया जाता था[5]। इस यज्ञ में एक बैल की दक्षिणा दी जाती थी[6]।

साकमेधा में पितृयज्ञ का प्रसंग आया है तथा इसको वर्षा के अन्त में शरद्काल में करने का विधान है। आजकल भी शरद काल में श्राद्ध इत्यादि के रूप में पितृ यज्ञ ज्यों का त्यों है।

शुनकर्णेष्टि

<u>शुनासीरीय</u>

शां०ब्रा० में उल्लेख है कि शुनासीरीय यज्ञ से त्रयोदश मास को प्राप्त किया जाता है[7]। त्रयोदश मास का ही इसमें संवत्सर भी कहा गया है[8]। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा के अनुसार चलने वाले वर्ष में अनुरूपता लाने के लिये जो अधिक मास मलमास पड़ जाता है, उसमें इसको किया जाता होगा। चूंकि यह अधिमास कुछ वर्ष अनन्तर आता था, अतः यह यज्ञ वार्षिक भी नहीं रहा होगा।

---

१ शां०ब्रा० ५.५ सोमस्य महाव्रतमेवमेतदिष्टिमहाव्रतम्।
२ शां०ब्रा० ५.६ अथ यदपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्त्यपक्षभाजो वै पितरस्तस्मादपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति।
३ शां०ब्रा० ५.६ मत्सोमं पितृमन्तं पितृन्वा सोमवतः पितृन् बर्हिषदः पितृन्।
४ शां०ब्रा० ५.७ दक्षिणासंस्थो वै पितृयज्ञस्तमेवैतदुदक्संस्थं कुर्वन्ति।
५ शां०ब्रा० ५.७ युदङ्ख परेत्य त्र्यम्बकैश्चरन्ति रुद्रमेव तत्स्वायां दिशि प्रीणन्ति।
६ शां०ब्रा० ५.५ अथ यद् ऋषभं ददाति।
७ शां०ब्रा० ५.८ त्रयोदशं ... एतावान् वै संवत्सरो यदेष त्रयोदशो मासः ...संवत्सर आप्तो भवति।
८ तत्रैव

इसके विपरीत आप०श्रौ०सू० तथा कात्या०श्रौ०सू० में साकमेधा यज्ञ के पश्चात् शुनासीरीय को करने का विधान है[१]। फाल्गुन चतुर्दशी में शुनासीरीय को करके प्रात:काल वैश्वदेव करने का कहा गया है,[२] जिससे इसका वार्षिक होना प्रकट होता है।

इसमें शुनासीरों के लिए यज्ञ किया जाता था। शुनासीर को शान्ति और भैषज कहा गया है[३]। इससे इसका ऋतुसन्धि का भैषज्य यज्ञ होना भी प्रतीत होता है। शुनासीर का अर्थ क्रमश: वायु और सूर्य भी कहा गया है। इसमें सूर्य के लिए एक कपाल में तैयार की हुई हवि प्रदान की जाती थी[४]। शत०ब्रा० में 'शुन' का अर्थ समृद्धि एवं 'शीर' का अर्थ 'सार' है। इस यज्ञ से यजमान को समृद्धि एवं सार की प्राप्ति होती थी, इसलिए इसे यह संज्ञा मिली है[५]।

अग्निमन्थन के पश्चात् अन्य सब कार्य वैश्य देव के समान ही किये जाते थे तथा अग्निमन्थन से पूर्व पौर्णमास के समान, अर्थात् पौर्णमास यज्ञ के समान व्रतादि किया जाता था[६]। इस यज्ञ में एक श्वेत गाय की दक्षिणा दी जाती थी[७]।

काम्य यज्ञ

काम्य यज्ञ विशेष कामनाओं की पूर्ति हेतु किये जाते थे। कुछ कामनायें सामान्य प्रकृति की, जैसे समृद्धि प्राप्ति, स्वर्ग की प्राप्ति इत्यादि हो सकती हैं, और कुछ विशेष जैसे राज्य प्राप्ति, पशुओं की वृद्धि आदि। सोमयाग का प्रथम प्रकार की कामनाओं की प्राप्ति के लिए विधान है, अन्य के लिए यज्ञ विशेषों का, जैसे राजसूय, अश्वमेध, पशुयाग।

---

१ आप०श्रौ०सूत्र २१.६.१६.२१६१, कात्या०श्रौ०सू०५.६.१ शुनासीरीय्यत:।
२ कात्या०श्रौ०सू० ५.६.१८ फाल्गुन्युपवसथे शुनासीरीयं प्रातर्वैश्वदेवम्।
३ शत०ब्रा० ५.८ शान्तिर्वै भैषजं शुनासीरौ
४ शत०ब्रा० ५.८ [illegible] अथ यद् वायुं यजति.. यत् सौर्य एक कपालोऽसौ।
५ काणे--धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, पृ० ५३६।
६ शत०ब्रा० ५.८ यद्वैश्वदेवस्य तन्त्रं तत्तन्त्रं... पौर्णमासमेव तन्त्रं भवति
७ तत्रैव -- अथ यच्छ्वेता।

अवधि के अनुसार भी यज्ञों में विभेद बताये गये हैं। सत्र वह यज्ञ है, जो दीर्घकालीन है। एक से बारह दिन तक चलने वाले अहीन कहलाते थे। बारह दिन वाली अवधि के बारे में ऋ०ब्रा० में कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त एक दिन/पांच दिन तक चलने वाले भी होते थे।

सोमयाग

सोम आर्यों का प्रिय एवं दिव्य पेय था। इसे देवत्व रूप भी प्रदान किया गया था। इन सोमयागों के तीन प्रमुख प्रकार कहे गये हैं, गोष्टोम, आयुष्टोम, ज्योतिष्टोम[1]। अग्निष्टोम के प्रसंग में एक स्थान पर एक अन्य यज्ञ चतुष्टोम का भी संकेतमात्र उल्लेख है[2]। गोष्टोम, आयुष्टोम के बारे में कोई चर्चा नहीं है। ज्योतिष्टोम को प्राथमिकता प्रदान की गई है[3]। ज्योतिष्टोम के नाम के बारे में कहा गया है कि अग्निऊपर जाकर प्रकाश का रूप धारण करता है अत: इसे परोक्ष रूप में ज्योतिष्टोम कहा गया है, क्योंकि देवता परोक्षप्रिय हैं[4]। ज्योतिष्टोम की सात संस्थायें मानी गई हैं-- अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोयाम[5]। इनमें अग्निष्टोम का सोमयज्ञों की प्रकृति के रूप में वर्णन किया गया है, तथा अन्य सब विकृति कहे गये हैं[6]। ऋ०ब्रा० में अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र का ही वर्णन है, शेष का नहीं[7]।

अग्निष्टोम

यह ५ दिन तक चलने वाला यज्ञ था। इसके बहुधा मुख्य कृत्य निम्नलिखित हैं-- पुरोहित का वरण, दीक्षणीयेष्टि(यजमान की दीक्षा),

----

१ ऐ०ब्रा० १.१.१(भूमिका) गोष्टोमायुष्टोमा... ।
२ ऐ०ब्रा० ३.१४.५
३ तत्रैव ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यम...
४ ऐ०ब्रा० ३.१४.५
५ तत्रैव --तस्य ज्योतिष्टोमस्य सप्तसंस्थापितस्याग्निष्टोम... ।
६ तत्रैव
७ तत्रैव

प्रायणीयेष्टि, सोमक्रय, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्य, उपसद, अग्निप्रणयन, अग्नीषोम प्रणयन, हविर्धानप्रणयन, पशुयज्ञ, सोमसवन, उदयनीय, अवभृथ। सोमयाग को अनेक इष्टियों का एक सामूहिक रूप कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक इष्टि को विविध अग्निहोत्रों का समूह। अग्निष्टोम का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें अग्नि की स्तुति से प्रारम्भ होता है[1] और अग्नि को इसमें महत्त्व प्रदान किया गया है[2]। अग्निष्टोम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार नदियां समुद्र को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार उक्थ्य, षोडशी आदि सब यज्ञ अग्निष्टोम को प्राप्त करते हैं[3]।

अग्निष्टोम को दर्श पौर्णमास में किया जाता था। दर्श पौर्णमास में इसको आरम्भ करने वाले की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो दर्शपौर्णमास में इसको आरम्भ करता है, वह सब यज्ञ आरम्भ कर देता है[4]। इससे प्रकट होता है कि अग्निष्टोम को दर्श पौर्णमास से भिन्न समय में भी किया जा सकता होगा।

सोमयाग करने वाले यजमान-ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को अपने देश के राजा से यज्ञ भूमि की याचना करनी होती थी, यहां तक कि राजा को भी यज्ञ करने पर आदित्य से भूमि याचना करनी पड़ती थी[5]। इस उक्ति से प्रकट होता है कि भूमि का परम आधिपत्य दिव्य था और राजा देवताओं के प्रतिनिधि के रूप में यज्ञ करने के लिए भूमि प्रदान करता था।

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.१ अग्निर्वै देवानाम वमो....।

२ ऐ०ब्रा० ३.१४.५ स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यद् ...ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते।

३ ऐ०ब्रा० ३.१४.२ तद (अग्निष्टोमं) यथा समुद्रं स्त्रोत्या एवं सर्वे यज्ञक्रतवोऽपि यन्ति।

४ ऐ०ब्रा० १.१.१ आरब्धयज्ञो वा एष आरब्धदेवतो यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत आमावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वा।

५ ऐ०ब्रा० ७.३४.२ अथातो देवयजनस्यैव याञ्चः ... एषां भूतानामधिपतिः।

दीक्षणीयेष्टि में यजमान को विधिपूर्वक सज्जित करके उससे गर्भस्थ बालक का प्रतीकात्मक व्यवहार कराया जाता था।[1] फलत: उसे एक विशेष रूप से तैयार किए हुए दीक्षित विमित कहलाने वाले स्थान में मुट्ठी बांधकर और चुपचाप रहना होता था।[2] यह यज्ञ के विविध स्तोत्रों और शिल्पों द्वारा यजमान को एक नया जीवन प्रदान करने का प्रतीकात्मक अभिनय था।[3]

सोमयाग में देवताओं को सोमरस की आहुति प्रदान करना प्रधान कृत्य होता था। इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका कही गई है, जिसके अनुसार देवताओं को भी सोम पान के लिए दौड़ प्रतियोगिता करनी पड़ती थी।[4]

सोम के पौधे के उत्पन्न होने तथा उसके क्रय-विक्रय के विषय में (संस्कृति (१) वाङ्मयपक्ष अध्याय(६) में कहा जा चुका है। सोम को लाने के लिए लकड़ी की बनी 'हविर्धान' नामक विशेष गाड़ियों का विधान किया गया है। इन्हें 'प्राचीन वंश' नामक विशेष रूप से बनाये हुए स्थान पर लाकर कपड़े से ढककर रखा जाता था।[5] इसका अभिनय सोमयाग की एक प्रक्रिया सी बन गई थी।

सोमानयन के पश्चात् सोम के आतिथ्य में पुरोडाश हवि द्वारा इष्टि की जाती थी।[6] तत्पश्चात् कुछ अन्य इष्टियां की जाती थीं, जिनका बहुत विशद् कर्मकाण्ड था।[7] प्रवर्ग्य इष्टि में देवताओं को दूध पान कराया जाता था, और उपसद इष्टि शत्रुओं को जीतने से सम्बन्धित होती थी।[8]

---

१ ऐ०ब्रा० १,१,३ अद्भिरभिषिञ्चन्ति ... आञ्जन्त्येनम् .... नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति .. मुष्टी कुरुते मुष्टी वै कृत्वा गर्भोऽन्त:शेते।

२ ऐ०ब्रा० १,१,३ दीक्षितविमितं प्रपादयन्ति, योनिर्वा एष दीक्षितस्य

३ ऐ०ब्रा० ६,३०,५ यजमानं ह वा एतेन सर्वेण यज्ञक्रतुना संस्कुर्वन्ति स यथा गर्भो योन्यामन्तरेवं संभवञ्छेते न सकृदेवाग्रेऽसर्व: संभवत्येकैकं वा अंगं सम्भवत: संभवति।

४ ऐ०ब्रा० ४,१७,१-२

८ ऐ०ब्रा० १.४.६,७ जितयो वै नामैता यदुपसदो ..... देवा विजितिं व्यजयन्त।

५ ऐ०ब्रा० १,५,३ हविर्धानाभ्यां प्रोह्यमाणाभ्याम् ... ।
ऐ०ब्रा० १,३,२; १,३,३ ; १,५,३ हविर्धानयो: संपरिश्रितयो: परिदधाति।

६ ऐ०ब्रा० १,३,४ हविरातिथ्यं निरुप्यते सोमे राजनि आगते।

७ ऐ०ब्रा० १,३,६, शां०ब्रा० ८,१-२

७ ऐ०ब्रा० १,४,५ तदेतद्देवमिथुनं यद् धर्म: ... आहुतिभ्य: संभवति।

इस यज्ञ में ३३ सोमपा और ३३ असोमपा देवता कहे गये हैं[१]। सोम से सोमपा तथा पशुओं से असोमपा देवताप्रसन्न होते थे[२]। सोमपा देवताओं में आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति, और वषट्कार का उल्लेख है,[३] और एकादश प्रयाज, एकादश अनुयाज एकादश उपयाज, असोमपा देवता कहे गये हैं[४]। इनके अतिरिक्त अग्नि, इन्द्र, पूषा, सरस्वती, वायु, वरुण, आश्विन, मरुत, देवियां आदि को भी यज्ञ के आदि से अन्त तक विविध इष्टियों में आहुतियां दी जाती थीं[५]।

अन्त में अवभृथ होता था। इसमें यजमान और उसकी पत्नी स्नान करते थे। इसके विषय में उल्लेख है कि जो प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन करके जल में प्रवेश करता है, वह वरुण हो जाता है[६]। इसलिए इसमें वरुण सम्बन्धी पुरोडाश समर्पित किया जाता था[७]।

यज्ञ में दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा का आधा भाग ब्रह्मा ऋत्विक का होता था, शेष आधा सभी ऋत्विजों का होता था[८], क्योंकि ब्रह्मा छन्द, रस, वेदों के सार प्रणव तथा मन्त्रादि से ऋत्विक् कार्य संपादन करता था[९]।

---

१ ऐ०ब्रा० २.७.८ त्रयस्त्रिंशद् वै देवा सोमपास्त्रयस्त्रिंशद् असोमपा।

२ तत्रैव- सोमेन सोमपान् प्रीणाति पशुनाऽसोमपान्।

३ तत्रैव- अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या प्रजापतिश्च वषट्कारश्चैते देवाः सोमपाः।

४ तत्रैव - एकादशप्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एतेऽसोमपाः।

५ ऐ०ब्रा० २.८.५; २.८.६; २.६.३, शां०ब्रा० १२.५; १३.२; १३.५; १५.१, २, ४; १६.१, २, ३, ६; १८.६।

६ शां०ब्रा० १८.६ अवभृथोऽमुमेव... स वा एषोऽपः प्रविश्य वरुणो भवति।

७ तत्रैव-- तस्माद् वारुणमेककपालं पुरोडाशं निर्वपति।

८ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ब्रह्माऽर्धभाग्य वा एष इतरेषाम.... अर्धमितरेषामृत्विजाम्।

९ ऐ०ब्रा० ५.२५.६ अथो भूमिष्ठेनैव ब्रह्मणा छन्दसां रसेनाऽऽर्त्विज्यं करोति यद् ब्रह्मा।

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक पक्ष में किये जा सकने वाले इस अग्निष्टोम यज्ञ की प्रक्रिया कितनी जटिल थी ।

उक्थ्य

सोमयाग के विकृतियागों में अग्निष्टोम के बाद उक्थ्य का उल्लेख है[1] । उक्थ्य के प्रसंग में असुरों के लिए एक आख्यान कहा गया है[2] । भरद्वाज के इस आख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्थ्य में असुर (आर्यों की एक शाखा) भाग लेते थे । इसकी अग्निष्टोम से कोई प्रतिस्पर्धा रही होगी । कहा गया है कि उक्थ्य का कोई उचित प्रारम्भ नहीं है और इसे "साकमश्व" और "प्रमंहिष्ठीय" से प्रारम्भ कर लेना चाहिए । सम्भवत: भारतीय आर्यों को इस यज्ञ के प्रारम्भिक विधि विधान का ज्ञान नहीं होगा । यह आख्यान आगे चलकर असुरों को उक्थ्य से पूरी तौर से निष्कासित करने की चर्चा करता है, जो सम्भवत: भारतीय आर्य तथा असुर आर्यों के बीच की किसी पुरानी स्पर्धा की स्मृति शेष है[3] ।

षोडशी

सोमयाग के विकृति यज्ञ षोडशी में अनुष्टुभ छन्द प्रयुक्त होता था, जिसे वज्र कहा जाता था[4] । उल्लेख है कि अनुष्टुभ रूपी वज्र से षोडशी में यजमान के पापों का नाश हो जाता है[5] । उक्थ्य के १५ स्तोत्र व शस्त्र के अतिरिक्त षोडशी में १ षोडशशस्त्र व स्तोत्र का पाठ होता था, अत: षोडशी कहा जाता था[6] ।

---

१ ऐ०ब्रा० ४ ३.१५.५-६, शां०ब्रा० १६.११

२ ऐ०ब्रा० ३.१५.५ अग्निष्टोमं वैदेवा .... साकमश्वादिति ।

३ ऐ०ब्रा० ३.१५.५-६

४ ऐ०ब्रा० ४.१६.१ वज्रो वा एष यत्षोडशी
शां०ब्रा० १७.१ आनुष्टुभो वा एष वज्रो यत्षोडशी ।

५ शां०ब्रा० १७.१ अनुष्टुभैव तद्वज्रेण यजमानस्य ...पाप्मानमपघ्नन्ति

६ ऐ०ब्रा० ४.१६.१-३; शां०ब्रा० १७.१-४

षोडशी रूपी वज्र शत्रुओं को नष्ट करने वाला कहा गया है[1]। षोडशी रूपी वज्र से अरण्य में गये हुए पशु सायंकाल लौटने के लिए नियन्त्रित होते थे[2]। उल्लेख है कि जिस प्रकार किसी मनुष्य से लौटने के लिए कह देने पर वचनबद्ध हुआ, वह लौट आता है, उसी प्रकार अश्व, पुरुष, गौ, हस्ती आदि सभी षोडशी रूप वज्र से स्वयं अपने स्थान पर लौट आते हैं[3]। इस यज्ञ में अभिचारात्मक तथ्य काफी स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

अतिरात्र

अतिरात्र का उल्लेख ऋ०(७.१०३.७) में भी आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऋ० के संहिता रूप धारण करने से पहले का हो। यह एक दिन व रात्रि में समाप्त हो जाता था। रात्रि में भी इसके किए जाने के कारण कदाचित् इसका नाम अतिरात्र है। इसमें भी असुरों के प्रसंग में आख्यान है कि रात्रि का आश्रय लिए हुए असुरों को देवताओं ने निकाला[4]। प्रजापति द्वारा सूर्या विवाह के सम्बन्ध में आश्विन शस्त्र पढ़े जाने की आख्यायिका का भी उल्लेख है[5]।

वाजपेय

वाजपेय के विषय में राजनैतिक स्थिति के अन्तर्गत राजसूय यज्ञ के वर्णन के प्रसंग में चर्चा की जा चुकी है।

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१६.१ वज्रमेव तत्प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं...

२ तत्रैव— वज्रेणैव षोडशिना परिगता मनुष्यानभ्युपावर्तन्ते

३ ऐ०ब्रा० ४.१६.१ तस्मादश्वो वा पुरुषो वा गौर्वा हस्ती वा परिगत एव स्वयमात्मने।

४ ऐ०ब्रा० ४.१६.५ अर्वं देवा अभ्यन्त... ।

५ ऐ०ब्रा० ४.१७.५ प्रजापति वै सोमाय राज्ञे... ।

आप्तोर्याम

ऋ०ब्रा० में सोमयाग के अग्निष्टोम उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र के विषय में ही चर्चा की गई है। सोमयाग की सात संस्थाओं में से अत्यग्निष्टोम, वाजपेय तथा आप्तोर्याम के विषय में उल्लेख नहीं है। सायण ने भी ज्योतिष्टोम की चार संस्थाओं का ही वर्णन करने का उल्लेख किया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि यह चार संस्थायें अधिक महत्वपूर्ण रही होंगी। काणे ने आप्तोर्याम को अतिरात्र का विस्तार मात्र कहा है,[2] तथा अत्यग्निष्टोम को अग्निष्टोम के समान।[3]

सत्र एवं अहीन

ऋ०ब्रा० में आये हुए सत्र एवं अहीन यज्ञों के विषय में चर्चा करेंगे। इनमें द्वादशाह तथा गवामयन को प्रकृति स्वरूप वर्णित किया गया है।

द्वादशाह

द्वादशाह यज्ञ सत्र एवं अहीन दोनों के अन्तर्गत आता है। द्वादशाह से तात्पर्य १२ दिन तक चलने वाला होता है। ३६ दिन का द्वादशाह भी कहा गया है।[4] द्वादशाह के विषय में आख्यायिका है, जिसके अनुसार प्रजापति ने द्वादशाह के द्वारा सन्तान और पशुओं को प्राप्त किया।[5] द्वादशाह को करने के लिए शिशिरकाल उपयुक्त कहा गया है।[6] व्यूढ द्वादशाह और भरत द्वादशाह इसी के समान हैं।[7] इनमें भरत द्वादशाह अति प्रसिद्ध था।

---

१ ऐ०ब्रा०(क)१.१.१ ज्योतिष्टोमस्य सप्त संस्थोपेतस्याग्निष्टोम उक्थ्य षोडश्यतिरात्रश्चेत्येतास्चतस्त्र: संस्था;ऐ०ब्रा०४.१७.६ अग्निष्टोम उक्थ्य षोडशी अतिरात्रश्चेत्येवं चतु:संस्थो ज्योतिष्टोम:।

२ काणे--धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, पृ०५५७

३ ,, ,, ,, ,, पृ०५५६

४ ऐ०ब्रा० ४.१९.२ षटत्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशाह:।

५ ऐ०ब्रा० ४.१९.१

६ ऐ०ब्रा० ४.१९.४ एतयोर्वै शैशिरयोर्मासयोरागतयोर्दीक्षेत।

७ ऐ०ब्रा० ४.१९.२

गवामयन

गवामयन दीर्घकाल तक चलने वाले सत्रों के अन्तर्गत आता है तथा सांवत्सरिक सत्रों के आधार रूप में वर्णित है।[1] गवामयन के प्रसंग में शफ, शृंग हेतु गौओं द्वारा यज्ञ करने की आख्यायिका है।[2] नमन साम्य के कारण गौओं को आदित्य कहा गया है।[3]

आदित्यानामयन तथा अंगिरसामयन नामक सत्र गवामयन की ही विकृति रूप है।[4]

राजकर्तृक यज्ञ

इसके अन्तर्गत उल्लिखित राजसूय और अश्वमेधादि के विषय में राजनैतिक अध्याय में चर्चा की जा चुकी है।

अन्य यज्ञ : पशुयज्ञ

ऋ०ब्रा० में केवल सोमयाग के अन्तर्गत पशुयाग का उल्लेख है, किन्तु अन्यत्र इस बात का उल्लेख है कि यह स्वतंत्र रूप से भी किया जाता था।[5] सम्भवत: यह बाद की परम्परा हो।

पशु याग में देवताओं को पशु की बलि दी जाती थी।[6] इस प्रसंग में मनोता का विशेष उल्लेख है,[7] जिसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१८.३

२ तत्रैव -- गावो वै सत्रमासत...

३ तत्रैव --गवामयनेन यन्ति गावो वा आदित्या आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति।

४ तत्रैव-- आदित्याश्च ह वा अंगिरसश्च स्वर्गे...तदादित्यानामयनम्.. तदंगिरसामयनम्

५ काणे-- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, पृ०५४१ हिन्दी रूपान्तर द्वारा अर्जुन चौबे काश्यप

६ ऐ०ब्रा० २.६.३-६, शां०ब्रा० १०.१

७ ऐ०ब्रा० ~~४~~ २.६.१० मनोतायै हवि शां०ब्रा० १०.६ अथ मनोता।

मनोता वह है, जिसमें देवताओं के मन ओतप्रोत होते हैं[1]। यह तीन हैं--अग्नि, वाणी तथा गौ[2]। अग्नि इनमें सर्वोपरि है[3]। यहां यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पशु बलि पशु(गौ) के लिए क्यों दी गई है। सम्भवत: गौ आर्यों के लिए समृद्धि का प्रधान साधन थी या इसे कोई अभिचारात्मक प्रतीक के रूपमें किया गया है।, जो स्पष्ट नहीं है। पशुओं को आग्नेय भी कहा गया है, क्योंकि अग्नि में इनकी हवि दी जाती थी[4]।

यूप का प्रयोग इस कृत्य का आवश्यक घटक है। यूप में बलि पशु को बांधा जाता था[5]। जिस लकड़ी से यूप बनाये जायं, उनका भी प्रयोजन के अनुसार विधान था, जैसे स्वर्ग की कामना होने पर खदिर, अन्न, प्रजा[6] तथा पशु की कामना होने पर बिल्व तथा तेज व ब्रह्मवर्चस की कामना होने पर[7] पलाश का यूप बनाने का विधान किया गया है[8]। व यूप को अष्टकोण का बनाया जाता था[9] और घृत से लिप्त किया जाता था[10]।

पशु के विशसन के समय देवताओं के वधिक(शमितारों) द्वारा भी विशसन करने के लिए प्रार्थना की जाती थी[11]। पशु को वध्य स्थान

---

१ ऐ०ब्रा० २.६.१० } तिस्रो वै देवानां मनोता तासु
शां०ब्रा० १०.६ } हि तेषां मनांस्योतानि भवन्ति।
२ ऐ०ब्रा० २.६.१० } तिस्रो वै देवानां मनोता... वाग्वै...गौर्वै... अग्निर्वै...।
शां०ब्रा० १०.६ }
३ ऐ०ब्रा० २.६.१० अग्नि: सर्वा मनोता
४ ऐ०ब्रा० २.६.१०, शां०ब्रा० १०.६
५ ऐ०ब्रा० २.६.१, शां०ब्रा० १०.१
६ तत्रैव
७ तत्रैव
८ ऐ०ब्रा० २.६.१, शां०ब्रा० १०.१
९ ऐ०ब्रा० २.६.१ वज्रो वा एष यूप:
१०ऐ०ब्रा० २.६.२ अञ्जन्ति यूपम्
११ऐ०ब्रा० २.६.६ दैव्या: शमितार:...। शां०ब्रा० १०.४

(शामित्र स्थान) पर ले जाया जाता था[१]। वध्यस्थल की ओर ले जाते हुए पशु के सामने जलती हुई लकड़ी लेकर चलने के विषय में एक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है[२]। पशु के आगे अग्नि लेकर चलने के इस कृत्य से यह प्रतीत होता है कि पशु को अभिचारात्मकरूप से अथवा अग्नि द्वारा नियंत्रित करते हुए वध्यस्थान की ओर ले जाया जाता था जिससे पशु सरलता से वध्यस्थान पर पहुँचा जाय, किन्तु जिस प्रकार से आख्यायिका कही गई है, उससे इसमें अभिचार की अधिक सम्भावना है।

गला घोंट कर मारने (संज्ञपित करने) से पहले वधिक (शमिता) बलि पशु के माता, पिता, भ्राता, सखा, सूयथ्यों से अनुज्ञा प्राप्त करता था[३]। इसके पश्चात् उस पशु को जिसका सिर पश्चिम की ओर और पैर उत्तर की ओर होते थे, शमिता बिना आवाज के गला घोंट कर संज्ञपित करता था[४]। मृतपशु के नेत्र सूर्य को, प्राण वायु को, जीव अन्तरिक्ष को, श्रोत्र दिशाओं को और शरीर पृथ्वी को प्राप्त होने के लिए प्रार्थना करता था[५]।

देवताओं में पशु के विशसन कर्ता (मारने वाले) को 'अध्रिगु' और निग्रहकर्ता (पकड़ने वाले) को 'अपाप' कहा गया है[६]। उनसे पशु को अच्छी तरह विशसन और निग्रह हेतु प्रार्थना की गई है, तथा पशु के विशसन में जो सुकृत हो, उसे प्राप्त कराने तथा जो दुष्कृत हो उसे दूर कराने की प्रार्थना की गई है।[७]

पशु के सर्वप्रथम निकले हुए रक्त में 'बर्हि' घास को भिगोकर उत्तर दिशा की ओर अभिचार रूप में फेंका जाता था[८]। इसे राक्षसों का

---

१ तत्रैव-- पशु वै नीयमान:

२ ऐ०ब्रा० २.६.६ पशु वै नीयमान: स मृत्युं....सोऽग्निमनुप्राच्यवत्

३ ऐ०ब्रा० २.६.६ अन्वेनं माता मन्यतामनुपिताऽनु भ्राता सगर्भ्यो सखा सयूथ्य इति

४ ऐ०ब्रा० २.६.६

५ तत्रैव-- चक्षुर्गमयतात् वातं प्राणं...अन्तरिक्षमसुं दिश: श्रोत्रं पृथिवीं शरीरम्

६ ऐ०ब्रा० २.६.६ अपापेति वाऽध्रिगु देवानां शमिता अपापो निग्रभीता। शां०ब्रा० १०.४ देव्या शमितार:

७ ऐ०ब्रा० २.६.७ शमितारो यदत्र सुकृतं कृणवथास्मासु तद्‌ यद् दुष्कृतमन्यत्र तद्।

८ तत्रैव --अस्ना रक्ष: संसृजतात्

भाग कहा गया है[1]। उल्लेख है कि यह इसलिए करना चाहिए कि राक्षस अपना भाग प्राप्त कर विघ्न न डालें और भाग जायें[2]। बताया गया है कि यज्ञ में राक्षसों का नाम नहीं लेना चाहिए तथा उनका भाग नहीं देना चाहिए[3]। कुछ अन्य के अनुसार उल्लेख है कि यदि उनका भाग न दिया गया तो वह यजमान को नष्ट कर देता है, और यदि उसको नष्ट न कर सका, तो उसके पुत्र-पौत्रों आदि को नष्ट कर देता है[4]।

पशु के विभिन्न भागों को विभाजित करके यज्ञ में हविरूप में देवताओं को उनकी आहुति दी जाती थी[5]। अवशिष्टांश विभिन्न ऋत्विजों और यजमान के होते थे। ऐ०ब्रा० में विभिन्न ऋत्विजों, यजमान और यजमान की पत्नी आदि में विभक्त करने के लिए बलि पशु के ३६ विभागों का उल्लेख किया गया है, उदाहरणार्थ जिह्वा सहित हनु प्रस्तोता, श्येनाकार वक्ष उद्गाता, कण्ठ व ककुद प्रतिहर्ता आदि[6]। पशु के गोबर से सम्बन्धित गुह्य भाग पृथिवी में गाड़ दिये जाते थे[7]।

आहुति के हेतु पशु की वपा को सबसे उत्तम माना जाता था। वपाहुति को अग्न्याहुति, आज्याहुति, सोमाहुति तथा अमृताहुति तक कहा गया है[8]। वपा को रेत:(वीर्य) भी कहा गया है[9], तथा इसके महत्व को प्रदर्शित करने के

---

१ तत्रैव --देवा हविर्यज्ञेभ्यो रक्षांसि निरभजन्नस्ना महायज्ञात्स यदस्ना रक्षः संसृजताद्

२ तत्रैव --रक्षांस्येव तत्स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते।
शत०ब्रा० १०.४

३ तत्रैव -- तदाहु नै यज्ञे रक्षसां कीर्तयेत।

४ ऐ०ब्रा० २.६.७ तद् वा आहुः कीर्तयेदेव। यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयते ऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते।

५ ऐ०ब्रा० २.६.६ श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू शलादोषणी... स्रेकपर्णा ऽ ष्ठीवन्ता...।

६ ऐ०ब्रा० ७.३१.१ अथातः पशोर्विभक्तिः... हनु सजिह्वे प्रस्तोतुः श्येनं वक्षः उद्गातुः ...ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदो [illegible] यज्ञं वहन्ति।

७ ऐ०ब्रा० २.६.६ ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादिति।

८ ऐ०ब्रा० २.७.४ सा वा एषा अमृताहुतिः.. अग्न्याहुतिः.. आज्याहुतिः.. अमृताहुतिः सोमाहुतिः...।

९ ऐ०ब्रा० २.७.४ रेतो वा एतदेव यद् वपा।

हेतु एक आख्यायिका भी कही गई है, जिसका निष्कर्ष है कि पशु के शरीर में जितनी वपा होगी, उतना ही मुख्य पशु होता है[1]।

ऐ०ब्रा० में बलि हेतु विभिन्न पशुओं के प्रयोग की चर्चा है[2]। जिसमें उनके आपेक्षिक महत्व का परिचय दिया गया है। इसमें पुरुष को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है[3]। शुनःशेप की कथा से भी स्पष्ट है कि पुरुषमेध यज्ञ होते थे जिनका प्रचलन समाप्त हो चला होगा। पुरुष के पश्चात् क्रमशः अश्व गौ, अवि, अज, उष्ट्र, शरभ आदि का उल्लेख है[4]।

पशु पुरोडाश के स्थान पर आगे जाकर व्रीहि, यव आदि का हवि रूप में प्रयोग किये जाने का उल्लेख है[5]। पशु और व्रीहि का हवि रूप में साम्य प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि व्रीहि आदि के रोम ही पशु के रोम हैं। तुष ही त्वक् है। अन्दर का फल असृक् है। पिष्ट भाग कीकस मांस है। कठिन सारभाग अस्थि है[6]। इस उद्धरण से पुरुष और पशुओं से क्रमशः व्रीहि आदि के हवि रूप में प्रयोग के विषय में ज्ञात होता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का सामान्य स्वरूप

यह तो सर्वमान्य है कि ऋ०ब्रा० काल में कर्मकाण्ड की प्रक्रिया धर्म अर्थात् अध्यात्म साधना का प्रधान अंग बन गई थी। ऐ०ब्रा० में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवता, पितर तथा मनुष्यों के प्रति दायित्वों को पूर्ण नहीं करता, वह अनद्धा (अमृत पुरुष) है[7]। ऋ०ब्रा० काल में याज्ञिक रूढ़ियाँ तथा अनगिनत

---

1 ऐ०ब्रा० २.७.३ देवा वै यज्ञेन श्रमेण... ध्यान यावदिव पशुपावती वपेति।
2 ऐ०ब्रा० २.६.८
3 ऐ०ब्रा० २.६.८ पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त।
4 ऐ०ब्रा० २.६.८
5 ऐ०ब्रा० २.६.९ स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः।
6 ऐ०ब्रा० २.६.९ तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि ये तुषाः सा त्वग् ये फलीकरणास्तदसृग् यत्पिष्टं किक्नसास्तन्मांसं यत्किंचित्कं सारं तदस्थि।
7 ऐ०ब्रा० ७.३२.८

प्राविधियों ने मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की "उत्कृष्ट आकांक्षाओं तथा प्रेरणाओं को ढांक सा लिया था[1]। कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वैदिक सभ्यता के आदिकाल में यज्ञों का कम महत्त्व था। बात उनके रूढ़िगत होने की है।

यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिच्छाप। आजकल के हिन्दू रीति-रिवाजों, पूजा-पाठों में परिलक्षित होती है, किन्तु यहां यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि सामाजिक कर्मकाण्ड तथा अभिचार ग्रस्त गुप्तोपासना दो अलग तथ्य हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में प्रतीकों का तो अतिशय प्रयोग है। छंदों के रूप तथा उनकी शक्तियों के बारे में बहुत कुछ कहा गया है[2]। छन्दों को विभिन्न देवताओं से जोड़ दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋत्विजों की वाग्धारा तथा विभिन्न छंदों तथा सूक्तों का शक्ति-प्रदर्शन कर्मकाण्ड का एक प्रमुख अंग बन गया था। कर्मकाण्ड की अनेक प्रक्रियायें अभिचारात्मक भी हैं। कोई भी कर्मकाण्ड हो, यह कहना कठिन है कि कहां शुद्ध कर्म काण्ड समाप्त होता है और कहां अभिचार प्रारम्भ होता है। यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय कर्मकाण्ड सामाजिक था। आनन्द, कल्याण तथा वैभव मुख्य उद्देश्य होते थे। ऋत्विज अपने चमत्कारिक प्रभाव हेतु अभिचारात्मक प्रक्रिया में जोड़ दिया करते थे। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ओसीरिस (मिस्त्र) की पूजा को शुद्ध कर्मकाण्ड का उदाहरण माना है[3]। ईरान में जरथुस्त्र को भी अधिकांशतः शुद्ध कर्मकाण्ड का समर्थक मानते हुए, कुछ जादूगरी (अभिचार) का सन्देह भी किया गया है[4]। यदि इनको अच्छे समाज निहित कर्मकाण्ड मा ना जा सकता है तो ऋ०ब्रा० वर्णित कर्मकाण्ड को इसी श्रेणी में रखा जायगा। ऋ०ब्रा० गत कर्मकाण्ड के नियम, प्रक्रिया निर्धारित है, "शुद्धी" है और उनके गुण-दोषों का भी विवेचन भी

---

१ मॉरिस ब्लूमफील्ड : द रिलीजन आफ द वेद, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली, पृ०२१३।

२ ऐ०ब्रा० ३,१२,१-४

३ जौर्जेस नगेल-- द मिस्ट्रीज़ आफ ओसिरिस इन एन्शेण्ट इजिप्ट (एक अध्याय "मिस्ट्रीज" में), बोलिंजन सिरीज़ सं०३०पैन्थियन बुक्स, पृ०१३४।

४ जीन डि मनास-- द मिस्ट्रीज़ एण्ड रिलीजन आफ ईरान (एक अध्याय "मिस्ट्रीज में) पृ०१४५-१४६ तथा देखिये--

ज़ैनिंग -- ज़ोरास्टर, पोलीटीशियन ऑर विच डाक्टर, आक्सफ़र्ड, १९५१९०

मिलता है। इसके प्रतिकूल घोर अभिचारात्मक गुप्तोपासना अथवा 'तान्त्रिक' कर्मकाण्ड में छिपाव होता है। रहस्यों में प्रवेश पाने के लिए गुरु-चेला परम्परा पाई जाती है। कोई भी यजमान उनके लिए पात्र नहीं बन सकता है। ये समाजविहित होती हैं। प्रक्रियाओं का व्याख्या अत्यन्त गुह्य होती है। ऋ०ब्रा० वर्णित कर्मकाण्ड के बारे में ऐसा दोषारोपण नहीं लगाया जा सकता है। वृष पीमिर आदि कुछ असामाजिक प्रक्रियायें प्रवेश पाने लगीं थीं, किन्तु उनको अपवाद ही समझना चाहिए। कीथ का भी विचार है कि "यह धारणा नितान्त भ्रामक होगी कि यज्ञ का अभिचार पक्ष आरम्भ है, और सम्पूर्ण यज्ञ वस्तुतः एक अभिचारिक अनुष्ठान है।[1]" एक अन्य मानदण्ड है कि जब धार्मिक कृत्यों में 'आचार शुद्धता' की अपेक्षा कर्मकाण्ड की यथातथ्यता (सहीपन) तथा इस यथातथ्यता में गूढ़ार्थ खोजने के प्रयास होने लगें तो 'जादूईपन' के तत्व स्पष्ट होने लगते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसा परिवर्तन ऋ०ब्रा० काल तक कुछ दिखाई देने लगता है।[2] यही नहीं, यह देखने में आता है कि देवता से बढ़कर कृत्य का महत्व हो जाता है और कृत्य से भी बढ़कर अस्तित्व का[3]। यह परिवर्तन क्यों और कैसे हुआ, एक अलग विषय है। जो भी हो, ऋ०ब्रा० में गुप्तोपासना(मिस्ट्री) के स्तर का अभिचार याज्ञिक कर्मकाण्ड में देखने में नहीं आता है। अभिचार के तत्व तो देखने को मिलते हैं किन्तु अभिचार हेतु यज्ञ रचा जाता था, यह सत्य नहीं है। बाद के ब्राह्मणों तथा श्रौत सूत्रों के लिए यह कथन इतना सत्य नहीं है, क्योंकि कुछ यज्ञ तो काफी अभिचारात्मक प्रतीत होते हैं, उदाहरणार्थ वरुणप्रघास का शांख्या०ब्रा० गत विवरण तथा शत०ब्रा० गत विवरणों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है। शत०ब्रा० में वर्णित इस चातुर्मास्य यज्ञ में पुरोहित यजमान की पत्नी से उसके प्रणयी

---

१ कीथ तथा सूर्यकान्त : वैदिक धर्म तथा दर्शन, भाग१, पृ०३२५, और भी देखिए पृ०३२२

२ ग्रिसवोल्ड-- दि रिलीजन आफ द ऋग्वेद, पृ०३३७-मोतीलाल बनारसीदास।

३ ऐ०ब्रा० ३,११,४ तदस्य तेनानुशंसति।

जनों के बारे में पूछता है और बरुण की आहुति देकर प्रार्थना करता है कि वह अपने स्तोताओं पर क्रोध न करे आदि आदि[1]। इसमें निःसंकोच अभिचार के स्पष्ट तत्व हैं। ऐसे उदाहरण ऋ०ब्रा० में वर्णित यज्ञों में देखने को नहीं मिलते हैं।

ऋग्वैदीय मन्त्र यज्ञों के अवसर पर गाये जाने के लिए वैदिक ऋषि-कवियों ने रचे थे। उनकी निश्छल भावाभिव्यक्ति और कल्पनाओं में आदिकालीन सभ्यता का सौन्दर्य, विमलता और ओज मिलता है। शालीनता तो वैदिक साहित्य की अपनी विशेषता है ही। ब्लूमफील्ड का विचार है कि ऋग्वेद को साहित्य के रूप में ही नहीं, वरन् दर्शन के रूप में महत्व देना उपयुक्त है। आंखों देखे तथ्यों को मानवीकरण करके उन्हें देवत्व प्रदान करने में सफलता पाना अद्भुत सर्जनात्मकता का द्योतक है[2]। ऐसा विचार अनेक विद्वानों का है, जिन्होंने शब्द व्युत्पत्ति आधारित व्याख्या के परे गहराई में पैठकर वैदिक मंत्रों के अर्थ को समझने का प्रयास किया है। लुई रेनू का यह कथन कि ऋग्वेद कर्मकाण्ड की सामग्री से कहीं अधिक महत्व का है, बड़ा सार्थक है। वह मंत्रों को उच्च कवि प्रतियोगिता का सुफल मानने को उद्यत है[3]। अतः यह निष्कर्ष निकालना कि वैदिक कर्मकाण्ड ऋ०ब्रा० के निर्माणकाल से पूर्व अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध होगा, उचित प्रतीत होता है। मंत्रों में जहां कहीं पहेलियां भी आई हैं वहां भी वैदिक ब्रह्म जैसे दार्शनिक तत्वों की ओर संकेत है न कि किसी जादुई तथ्य की ओर[4]। किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, ऋ०ब्रा० में इन मंत्रों को लेकर जिस प्रकार के कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया गया है, उससे सन्देह होता है कि इन ब्राह्मणों के निर्माण के बाद होता शायद ही अपने में स्वयं कवि होता होगा और पुराने

---

१ शत०ब्रा० २.५.२.२०

२ मॉरिस ब्लूमफील्ड : द रिलीजन आफ द वेद, इन्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली१९७२ई०,पृ०२६।

३ लुई रेनू : "रिलीजन्स आफ एन्शिएण्ट इंडिया", नई दिल्ली,पृ०१०

४ नासदीय सूक्त ऋ० १०.१२९.६ को अद्धा वेद... को वेद यत आबभूव।
ऋ० १.१६५.१,कया शुभा सवयसः...शुभं वृषणो नसया।
ऋ० १.१६४.४६ इन्द्रं मित्रं बरुणम्...यमंमातरिश्वानमाहुः।

ऋषि-कवियों के मन्त्रों को अपनी कवित्व शक्ति से प्रकाशित कर पाता होगा या उनके पूरक का कार्य करता होगा। नियम बंधे हुए से प्रतीत होते हैं,मंत्र भी निश्चित से हैं। मंत्र अध्यात्म के सौंदर्यपूर्ण अनुभूति का माध्यम न बनकर कर्मकाण्ड के निमित्तमात्र होने लगे होंगे। इस प्रकार वैदिक मंत्र द्रष्टाओं जैसी सर्जनाशक्ति केलिए प्रोत्साहन का अवसर समाप्त हो जाना सचमुच ही आर्य सभ्यता के विकास में एक बड़ी बाधा आ खड़ी हुई थी। ऋ०ब्रा० के रचयिता इस कमी से परिचित प्रतीत होते हैं और[1] समुचित चेतावनी देते हैं। यह प्रवृत्ति बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट होने लगता है और अन्त में बिना वेदों के पढ़े और उनकी आत्मा में पैठे ही उनकी दुहाई देने की सीमा तक पहुंच जाता है।[2]

विश्वोत्पत्ति तथा विश्वरूप

हेतु की खोज तथा उसके बारे में अवधारणायें प्रस्तुत करना आध्यात्मिक विचारों की एक प्रमुख प्रक्रिया रही है। इस सम्बन्ध में विश्व की उत्पत्ति तथा विश्व के रूप के प्रतिपादनों के बारे में चिन्तन-मनन होता रहा है। ऋ०ब्रा० में भी सृष्टि के बारे में कुछ व्याख्यायें दीगई हैं। इन व्याख्याओं के दो केन्द्रबिन्दु हैं-- प्रजापति तथा यज्ञ। ऋ० में प्रजापति एक साधारण देवता के रूप में आये हैं। ऋ० के दशम मण्डल में सृष्टिकर्ता जिस विराट् पुरुष की बात कही गई है,वह प्रजापति से भिन्न है। किन्तु उसी मण्डल में विश्वोत्पत्ति से सम्बन्धित एक अन्य सूक्त (ऋ० १०.१२१) 'क' देवता के प्रति है, जिसे प्रजापति कहकर संबोधित किया है(प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो)। वास्तव में यह शब्द उस प्रश्नसूचक सर्वशक्तिमान् देवता की सृजनशक्ति को व्यक्त करता प्रतीत होता है। दो अन्य स्थानों पर भी प्रजापति संज्ञा का यही कार्य है-- (क) सोम के प्रसंग में (ऋ० ९.५.९) तथा (ख) सवितृ के लिए (ऋ० ४.५३.२)। यहां पर यह पालनकर्ता का गुणबोधक है। ऋ०ब्रा० में स्वतंत्र रूप में प्रजापति का महत्व

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३७.७ अथ ह्यं... यमेवंविदो याजयन्ति।

२ देखिये--हरिप्रसाद रचनावली, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा 'इंडियन एथीज्म' (मनीषा ग्रन्थालय) में उद्धृत,पृ०३५।

समुचितरूपेण बढ़ व जाता है। प्रजापति विश्व के जनक हैं[1] किन्तु इस प्रसंग में आख्यायिकायें अस्पष्ट तथा क्रमहीन हैं। प्रजापति तप करके आदित्य, अग्नि, वायु आदि देवताओं को प्रादुर्भूत करते हैं, जब कि कुछ देवता पहिले से वर्तमान हैं। ये देवता उनके अनैतिक यौन व्यवहार से कुपित भी होते हैं[2]। सम्भवत: कुछ देवता प्राथमिक स्तर के हों, जिनमें से एक प्रजापति भी हों, किन्तु यह तथ्य स्पष्ट नहीं किया गया है।

प्रजापति द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति के दो स्वरूप हैं-- (क) यज्ञ-तप[3] तथा (ख) यौन व्यवहार। यज्ञ-तप द्वारा प्रजापति तीन लोक देवता, वेद आदि की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रसंग में श०ब्रा० में अनेक आख्यायिकायें हैं। शां०ब्रा० में कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करने की कामना से तप किया और इस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा उषा उत्पन्न हुए[4]। एक दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि प्रजापति ने तप करके प्राणों से इस लोक (पृथ्वी) अपान से अन्तरिक्ष तथा व्यान से द्यौ लोक की सृष्टि की। तत्पश्चात् इन लोकों को तप्त करके पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्यौ से आदित्य को उत्पन्न किया इत्यादि इत्यादि[5]। एक अन्य स्थान पर कहा है कि प्रजापति ने यज्ञ को उत्पन्न किया और फिर यज्ञ से देवताओं, मनुष्यों आदि को उत्पन्न किया[6]।

---

१ शां०ब्रा० ६.१० प्रजापतिस्तपोऽतप्यत...., शां०ब्रा० ६.१५ प्रजापतिर्यज्ञं ससृजे ..
ऐ०ब्रा० ५.२५.७ प्रजापति रकामयत...

२ ऐ०ब्रा० ३.१३.६ प्रजापतिर्वैस्वां दुहितरम्...

३ ~~[illegible]~~ ऋ० १०.१५४.२ सायण टिप्पणी में "तप" का स्पष्टीकरण व्रत, यज्ञ उपासना आदि तप में निहित

४ शां०ब्रा० ~~[illegible]~~ ६.१

५ शां० ब्रा० ६.१०

६ शां०ब्रा० ~~[illegible]~~ ६.१५

ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि प्रजापति ने सृष्टि की कामना करके तप किया और इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ को उत्पन्न किया, इत्यादि इत्यादि[1]। एक अन्य स्थान पर यज्ञ करके विभिन्न वर्णों को उत्पन्न करने का उल्लेख है, जो पुरुष सूक्त के समकक्ष पड़ता है[2]। किन्तु उपर्युक्त आख्यायिकाओं में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणिजगत की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं है। इस सम्बन्ध में ऐ०ब्रा० में एक अन्य आख्यायिका है, जिसमें प्रजापति के दुहितृ संसर्ग द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। अनैतिक कृत्य के कारण देवता प्रजापति को 'भूत वान्' द्वारा वध करा देते हैं, किन्तु रेत: सिक्त हो जाने के कारण कुछ देवगण तथा विभिन्न प्राणी पैदा हो जाते हैं[3]।

उपर्युक्त आख्यायिकाओं में कितनी प्रतीकात्मकता है, नहीं कहा जा सकता है। इतना तो स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में अनेकानेक अवधारणाएं प्रचलित थीं। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में उनको जैसे का तैसा ले लेने से विरोधाभास सा आ गया है। प्रजापति के रूप में सूर्यशक्ति (अग्नि, सवितृ, आदित्य, उषा आदि) को सृजन की मूल शक्ति के रूप में मूर्त रूप देने का प्रयास किया गया है, किन्तु यह सुगठित न हो सका है। इस सब के मूल में पूर्व कथित दो बातें हैं। सृष्टि की सामान्य उत्पत्ति तप द्वारा विचारी गई है तथा सामान्य प्राणियों के लिए यौन संसर्ग द्वारा उत्पत्ति व कर्मलौकिक कार्यों के अनुभव की यथार्थता का परिचायक है। रेतस् की शक्ति का प्रसंग, जिससे देव जगत् प्राणि जगत् तथा पृथ्वी के अन्य जीव पैदा होते हुए बताये गये हैं, उपर्युक्त दोनों प्रत्ययों को जोड़ता प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह प्रसंग यौन पुरुषत्व के प्रत्यय को महत्व को उस काल के कुलवाद प्रेरित जन मानस के संदर्भ में समझने का अवसर देता है। कठिनाई तब पड़ जाती है, जब कि इन सीधी

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२५.७

२ ऐ०ब्रा० ७.३४.१

३ ऐ०ब्रा० ३.१३.६,१०

और कुछ अभिचारयुक्त कल्पनाओं के पीछे ऊंचे आध्यात्मिक तथ्य खोजने के प्रयास किए जाते थे ।

ज्योतिर्विज्ञान

विश्वरूप के ज्ञान का एक प्रमुख पक्ष खगोलीय ज्ञान है । तारा तथा तारक समूहों पर आधारित कितनी ही आख्यायिकायें बन गई हैं । यह प्राचीन मानवों की कल्पना की विशेषता रही है । शां०ब्रा० में अग्न्याधान के प्रसंग में तथा ऐ०ब्रा० में प्रजापति द्वारा दुहितृ संसर्ग की आख्यायिका में कुछ नक्षत्रों के नाम आये हैं,[1] जैसे मृगशीर्ष, मृगव्याध, रोहिणी, पुनर्वसु, आषाढ्या (कदाचित् उत्तराषाढ़) आदि । इनमें से अधिकांश २७ नक्षत्रों में से हैं । कुछ जैसे मृग व्याध अन्य है । इससे प्रतीत होता है कि इस समय स-वृत खगोलीय विषुवत आदि को निर्धारित करके नक्षत्रों की स्थिति ज्ञात कर लेते थे । राशियों वाले नक्षत्रों का कोई संकेत नहीं मिलता है । अतः खगोलीय विषुवत १२ भागों में विभाजित करने की प्रथा नहीं प्रतीत होती।

नवग्रहों की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र, का तो उल्लेख है ही । बृहस्पति का भी प्रसंग आया है[2]। सूर्य को जल से उत्पन्न (अब्जा) कहा गया है[3]। उल्लेख है कि "जलों से यह(सूर्य) प्रातःकाल उदित होता है और सायंकाल जल में प्रवेश करता है[4]। इस आदित्य के नीचे ऊपर दोनों ओर जल है[5]। सम्भवतः सागर तट पर सूर्योदय तथा सूर्यास्त देखने के उपरान्त यह

---

१ शां०ब्रा० १.३ पुनर्वसु नक्षत्रमुदीयात्... ये मध्यावर्षे आषाढ्या

ऐ०ब्रा० ३.१३.६ तमेतं मृग(मृगशीर्ष) .. मृगव्याध.. रोहिणी

२ ऐ०ब्रा० ३.१३.९

३ ऐ०ब्रा० ४.१८.६ अब्जा इत्येष

४ तत्रैव-- अब्भ्यो ह्येष प्रातरुदेति अपः सायं प्रविशति

५ शां०ब्रा० २४.४ उभयतो ह्येतमादित्यो ऽवस्ताच्चोपरिष्टाच्च ।

धारणा बनी हो । ऐ०ब्रा० में विभिन्न लोकों की चर्चा की गई है[1] । इन लोकों में पृथ्वी को सबसे छोटा बताया है, अन्य लोक क्रमशः बड़े हैं[2] । सायण ने अपनी टिप्पणी में उनको पृथ्वी, द्यु, अन्तरिक्ष आदि सात लोक कहा है । वैसे अन्यत्र तीन लोकों के नाम आते हैं ।

सूर्य के प्रेक्षण पर आधारित ज्योतिष का ज्ञान समुचित था । पंचांग (कैलेण्डर) ज्ञान भी विकसित था । कहा गया है कि "सूर्य न कभी अस्त होता है और न कभी उदित होता है[3] । उसको जो कोई "अस्त होता मानता है(उचित नहीं है क्योंकि) वह दिन ही समाप्त होकर स्वयं बदलता है । अतीत देश में रात करता है, आगे आने वाले में दिन । सूर्योदय के लिए कहा है कि "रात्रि ही समाप्त होकर अपने को बदलती है[4] । इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि ब्रा० काल में सूर्य-पृथ्वीकी पारस्परिक गति का ज्ञान था ।

ब्रा० में वर्ष में छः ऋतुओं का उल्लेख है-- बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त तथा शिशिर । प्रत्येक ऋतु दो मास की होती थी[5] । कहीं पांच ऋतुओं का ही नामोल्लेख है और शिशिर को हेमन्त के साथ मिला दिया है[6], किन्तु हेमन्त की इस दशा में कालावधि की ओर कोई संकेत नहीं है । छः ऋतुओं को तीन प्रधान ऋतुओं-- ग्रीष्म, वर्षा तथा हेमन्त के रूप में भी संश्लिष्ट किया गया है[7] । चातुर्मास्य यज्ञ तीन प्रधान ऋतुओं पर ही आधारित थे ।

एक वर्ष (संवत्सर) में द्वादश मास होने का उल्लेख है[8] । त्रयोदश मास की भी चर्चा है[9] । यह मलमास या पुरुषोत्तममास था जो चन्द्रमा के अनुसार

---

१ ऐ०ब्रा०१.४.८ परो वरीयांसो वा इमे लोका अर्वाग्‌हीयांस:...
२ ऐ०ब्रा०(कं) १.४.८ इमे पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यु सप्त लोक ।
३ ऐ०ब्रा० ३.१४.६ स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति
४ तद्यदेनं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वा ऽथाऽऽत्मानं विपर्यस्यते रात्रीमेवा-
वस्तात् कुरुते ऽह परस्तात् ।
५ ऐ०ब्रा०४ १९.४ तां वासन्तिकाभ्यां मासाभ्यां ग्रैष्माभ्यां तां वार्षिकाभ्यां तां शारदाभ्यां तां हैमन्तिकाभ्यां तां शैशिराभ्यां मासाभ्याम् ।
शां०ब्रा० ५.७ षड् वा ऋतव:; शां०ब्रा० १४.५; १५.२
६ ऐ०ब्रा० १.१.१ ये चर्वाहेमन्तशिशिरयो: समासेन
७ शां०ब्रा०१४.५त्रय वा ऋतवस्ते ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त:
८ शां०ब्रा० ६.८ १; १४ ५; १९.६ द्वादश वै मासा संवत्सर:
ऐ०ब्रा० १.१.१, १.५.२ द्वादश वै मासा संवत्सर
९ ऐ०ब्रा० १.३.१ स त्रयोदशान्मासाद...त्रयोदशमास:; शां०ब्रा० ५.८; २५.११ ।

मास गणना के कारण प्रत्येक पांच वर्ष बाद मानना पड़ता होगा। इसके बारे में कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है। इतना अवश्य है कि व्यावहारिक (सिविल) वर्ष ३६० दिन का होता था। इसका स्पष्ट उल्लेख है[1]। इसका अर्थ यह भी है कि सौर वर्ष का भी ज्ञान था, क्योंकि चन्द्रमासों को सौर वर्ष में समीकृत करने में इसकी आवश्यकता पड़ती है। अत: कीथ महोदय का यह कथन कि यह सम्भव है कि नक्षत्र विद्या भारतीयों ने सेमैटिक स्त्रोत से ग्रहण की हो, एक जल्दबाजी का निष्कर्ष प्रतीत होता है[2]। त्रयोदश मास[3] को शुभ नहीं माना जाता था। उदाहरणार्थ इस मास में सोम का क्रय विक्रय अशुभ था।

प्रत्येक मास में दो पक्ष तथा वर्ष में २४ पक्षों का प्रसंग आया है[4]। फाल्गुनी पूर्णिमा से संवत्सर का आरम्भ होता था, शां०ब्रा० में इसे संवत्सर का मुख ठीक ही कहा गया है[5]। वर्ष में बारह महीने तो होते थे, परन्तु उन सब के नामों का उल्लेख नहीं आया है। प्रसंगवश माघ तथा फाल्गुन के नाम आये हैं[6]। इससे पता लगता है नाम तथा क्रम वही होगा जो आज तक प्रचलित है। अमावस्या को मास का मध्यभाग[7] तथा पूर्णिमा को मुख[8] अर्थात् मास का प्रारम्भ माना जाता था।

गवामयन यज्ञ एक वर्ष का बताया गया है[9]। इसके मध्य में विषुवान दिवस होता जो संवत्सर के मध्य में माना जाता था[10]। विषुवान दिवस की मनुष्य से समता की गई है। उल्लेख है कि "जिस प्रकार मनुष्य है उसी प्रकार विषुवान दिवस है, जिसके दाहिने, बायें दो भाग हैं और मध्य में उन्नत रूप शिर है।

---

१ ऐ०ब्रा० २.७.७.. त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानितावान्संवत्सर:
२ कीथ एवं सूर्यकान्त--वैदिक धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग, पृ०९९
३ ऐ०ब्रा० १.३.१
४ ऐ०ब्रा० ८.३६.४ चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सर:
५ शां०ब्रा० ४.४ मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी।
६ शां०ब्रा० १९.३ माघस्य, शां०ब्रा० ५.१ फाल्गुनी
७ शां०ब्रा० १९.३, ऐ०ब्रा० ८.४०.५
८ शां०ब्रा० ४.४ मुखं वा...पौर्णमासी।
९ ऐ०ब्रा० ४.१८.४; ४.१८.८
१० ऐ०ब्रा० ४.१८.४ विषुवन्तं मध्ये संवत्सर

उसी प्रकार[1] गवामयन में ६ मास विषुवान दिवस के पहिले और ६ मास बाद में होते हैं। अत: यह विषुवान दिवस शरद सम्पात के समकक्ष समझा जा सकता है, क्योंकि संवत्सर का प्रारम्भ वसन्त सम्पात से होता था। उपर्युक्त तथ्य इस बात से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सूर्य के उत्तरायन तथा दक्षिणायन होने का उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध कर्क तथा मकर संक्रान्तियों से है। कहा गया है कि सूर्य छ: मास उत्तर छ: मास दक्षिण रहता है[2]। शां०ब्रा० में सूर्य की दूरी का भी प्रसंग है। उल्लेख है कि सूर्य की १०१ स्तुतियां करें[3]। शतयोजन दूरी पर यह तप्त होता है[4]। सौ (स्तुतियों) से शतयोजन मार्ग पार करता है[5]। यह दूरी का अनुमान लगाने का प्रयास मात्र है।

ऐ०ब्रा० में शत्रु को नष्ट करने के लिए ब्रह्म परिमर नामक अभिचारात्मक कृत्य के प्रसंग[6] में अग्नि, आदित्य, विद्युत, वृष्टि, चन्द्रमा का उल्लेख है। लिखा है कि विद्युत चमक कर वृष्टि में प्रविष्ट हो जाती है, वृष्टि बरस कर चन्द्रमा में, चन्द्रमा अमावस्या के दिन आदित्य में आदित्य अग्नि में, अग्नि शान्त होकर वायु में अन्तर्हित हो जाते हैं। तथा वायु से अग्नि, अग्नि से आदित्य,..... वृष्टि से विद्युत उत्पन्न होते हैं[7]। इस प्रकार एक चक्र प्रस्तुत किया गया है जिसे दोनों दिशाओं में स्पष्ट किया गया है। यह मौसम (विशेषरूप से वर्षा) चक्र की व्याख्या करने का प्रयास है, जो उस काल के सीमित ज्ञान के कारण

---

१ ऐ०ब्रा० ४.१८.८ यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोऽर्ध एवं पूर्वोऽर्धे विषुवतो यथोत्तरोऽर्ध एवमुत्तरोऽर्धे विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रबाहुक्सत: शिर एव विषुवान्।

२ शां०ब्रा० १६.३ स षण्मासानुदङ्ङेति... स षण्मासान् दक्षिणेति।

३ शां०ब्रा० ८.३ तमेकशतेनाभिष्टुयात्

४ तत्रैव -- शतयोजने ह वा एष इतस्तपति

५ तत्रैव -- स शतेनैव तं शतयोजनम् अध्वानं समश्नुते

६ ऐ०ब्रा० ८.४०.५

७ तत्रैव -- विद्युतो वै विद्युत्य... वृष्टेर्वै विद्युत्।

सफल नहीं प्रतीत होता । किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्पना सजीव तथा सबल है । सूर्य से ताप, इस ताप(अग्नि) से वायु आदि उस समय के लिए नितान्त बेसिर पैर की बातें नहीं प्रतीत होती हैं,यद्यपि यह भी सच है कि इनमें कल्पना अधिक थी, यथार्थता कम ।

पुनर्जन्म

'विषुवन्त दिवस के अनुष्ठान न करने से अशन(क्षुधा) और पुनर्मृत्यु होती है,जो विषुवन्त दिवस का अनुष्ठान करते हैं, वे क्षुधा तथा पुनर्मृत्यु को जीत लेते हैं ।'[1] शां०ब्रा० के इस उद्धरण में पुनर्मृत्यु दो बार आया है । बार-बार मृत्यु से बार-बार जन्म स्वयं सिद्ध हो जाता है । ऐ०ब्रा० में दक्षिणीयेष्टि के प्रसंग[2] में यजमान का दीक्षित निमित्तशाला से बाहर आने को 'पुनर्जन्म' कहा गया है । बाहर आना नवजात कर्म के समान माना गया है[3] ।

सामान्यतया इन दो प्रसंगों से पुनर्जन्म की भावना की उपस्थिति का आभास होता है,किन्तु ऋ० में इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों के मिलने पर भी आधुनिक वेदज्ञ इस भावना के पाये जाने पर सन्देह प्रकट करते हैं[4] । नचिकेता यम सदन में जाता है, पुनः लौटता है[5] । पितरों के सम्बन्ध में उल्लेख है कि 'यम से मिलो... पाप को त्यागकर पुनः अपने घर जाओ । किसी शरीर से मिल जाओ जाओ और तेजस्वी रूप धारण करो[6] । यम के वह दोनों भूरे दूत.... ये दोनों हमें

---

१ शां०ब्रा० २५.१ स्त्यशनायाच पुनर्मृत्युश्चापाशनायां च पुनर्मृत्युं च जयन्ति ।

२ ऐ०ब्रा० १.१.३ पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति योनिर्वा एषा दीक्षितस्य यद्दीक्षित विमितं योनिमेवैनं तत्स्वां प्रपादयन्ति ।
शां०ब्रा० ७.२ देवगर्भो वा एष यद्दीक्षितो ।

३ ऐ०ब्रा० १.१.३ अद्भिरभिषिञ्चन्ति...कृष्णाजिनमुत्तरं भवति ।

४ ब्लूमफील्ड, द रिलीजन आफ द वेदाज़, पृ०२११, २५२-२५३ ।
तथा ग्रिसवोल्ड, द रिलीजन आफ ऋग्वेद, पृ०३४०।

५ ऋ० १०.१३५.५,६

६ ऋ० १०.१४.८ संगच्छस्व पितृभिः संयमेन...संगच्छस्वतन्वा सुवर्चाः

आज पुनः शुभ जीवन दें, जिससे हम सूर्य के दर्शन कर सकें[1]। पितरों के प्रसंग में उल्लेख है कि पूर्वकाल में या उसके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त पितर अथवा जो पार्थिव क्षेत्र में आ गये हैं अथवा जिन्होंने भाग्यवानों के मध्य जन्म ले लिया है, उन सब को नमस्कार[2]। एक मृतक के सम्बन्ध में अग्नि से कहा गया है कि इस मृतक को जब तुम दग्ध करने लगे तभी इसे पितरों को सौंप देना...[3]।' इस मन्त्र में 'असुनीति' शब्द का प्रयोग है। सायण ने इसका अर्थ प्राणों का ले जाना (प्राणस्य नयनः) किया है। उक्त प्रसंगों के आधार पर ब्लूमफील्ड, ग्रिस्वोल्ड तथा अन्य ऐसे वैदज्ञों की धारणा उचित नहीं प्रतीत होती है, किन्तु इतना अवश्य है कि ऋ० के दशम मण्डल में इस प्रकार के उद्धरण मिलते हैं। अतः यह भावना आर्यों में मूल रूप से न भी पाई जाती हो, किन्तु उपनिषद्काल तक यह भावना नीति तथा आचार का प्रमुख आधार बन गई थी। अतः वाद का विकास प्रतीत होता है किन्तु इसके स्रोत के बारे में स्पष्ट अनुमान नहीं मिलते हैं। प्राचीन मिस्र तथा यूनान में भी यह भावना विद्यमान थी।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के लिए आवश्यक है, पुनर्जन्म लेने वाले तत्व की परिकल्पना होनी चाहिए। ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में आत्मा तथा मनस् दोनों ही प्रत्ययों का 'जीव' के समानार्थी प्रयोग है। आत्मा अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। ऐ०ब्रा० में मनुष्य के २१ अवयवों में से एक आत्मा बताई गई है[4]। ऋ० में 'आत्मन वात: स्वसराणि गच्छतम्' का उल्लेख है[5]। 'मनस' का प्रयोग भी चेतना के अर्थ में हुआ है जो 'जीव' के समानार्थी है। ऋ०ब्रा० में मनस् को अपरिमित तथा सब प्राणों का अग्रणी बताया है[6]। ऋ० में प्रासंगिक कथन है कि 'धुधुर स्वर्ग में गये

---

१ ऋ० १०.५९.१२ उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौयमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्।

२ ऋ० १०.१५.२ इदं पितृभ्यो नमो अस्तु...सुवृजनासु विक्षु।

३ ऋ० १०.१६.२ शृतं यदा करसि जातवेदो अथेम.... अथ देवानां वशिनो भवाति।

४ ऐ०ब्रा० १.४.२ एकविंशोऽयं पुरुष...आत्मैकविंशस्तमिममात्मानमेकविंशं संस्कुरुते।

५ ऋ० १.३४.७

६ शां०ब्रा० २६.३ मनो वा अपरिमितम्,

तथा १७.३ मनो वा अग्रणीमित्येकं प्राणानाम्।

तुम्हारे मन को हम पुनः लौटाते हैं । तुम इस संसार में जीते रहने के निमित्त ही जीते रहना चाहते हो[1] । इसमें कोई सन्देह प्रतीत नहीं होता है कि शरीर के परे 'जीव' का होना सर्वमान्य था । पितरों का पारलौकिक जीवन भी इस संबोध पर आधारित है । फिर भी 'आत्म' अथवा 'जीव' का प्रत्यय पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अनायास पुष्ट करने में सहायक नहीं होता है, क्योंकि पितर अपनी चेतना तथा स्मृति को खोते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । इसके बिना पुनर्जन्म एक अव्यवस्था बन जायगी । कर्म के फल का साथ जाना स्मृति के साथ जाने से भिन्न है । ऋ० तथा ऋ०ब्रा० में इसके लिए किसी प्रक्रिया का विधान न मिलने के कारण यह स्वीकार करना पड़ता है कि पुनर्जन्म की भावना ऋ०ब्रा० के वातावरण में वर्तमान थी, किन्तु उसका अध्यात्म तथा आचार नीति के निर्माण में समुचित प्रयोग न हुआ था । हो सकता है कि यह सिद्धान्त आर्यों के पूर्व की विकसित सभ्यता में मौजूद हो, जो धीरे-धीरे प्रभावित कर रहा हो । यदि सिन्धु घाटी की सभ्यता के लोग सुमेर, फनीशियन, कैल्ट आदि के समजातीय सिद्ध हो जाते हैं, तब तो इसमें कम ही सन्देह होगा ।

मनस् तथा वाणी

मनस्

'मनस्' वैदिक साहित्य का एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रत्यय है, जिसके अनेक अर्थ लगाये गये हैं । इसके आत्मा अथवा जीव के समानार्थी प्रयोग के बारे में पहिले चर्चा हो चुकी है । वास्तव में मनस् चेतना का द्योतक प्रतीत होता है । कहा गया है कि इससे (मन) पूर्व कुछ नहीं है[2] और मन से प्रेरित होकर ही वाणी बोली जाती है[3] । जो वाणी अन्य मन से बोली जाती है, वह असुरों से सेवित 'आसुरी वाणी' हो जाती है[4] । मन और वाणी में सब कुछ निहित है[5] । यहाँ मन

१ ऋ० १० ५८ १-१२

२ ऐ०ब्रा० २ १० ८ मनसो हि न किञ्चनपूर्वमस्ति ।

३ ऐ०ब्रा० २ ६ ५ मनसा वा इषिता वदति ।

४ तत्रैव -- यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टा ।

५ शां०ब्रा० ६.३ वाचि च मनसि चेदं सर्वं हितम् ।

की शुद्धता को वाणी की शुद्धता का आधार माना गया है ।

मन तथा वाणी को देवों का मिथुन बताया गया है[1]। इन दोनों के मिलने से यज्ञ होता है[1(क)]। मन को प्रजापति तक कह दिया गया है[2]। मन को दीप्तिमान माना है,क्योंकि वह सब अर्थों को प्रकाशित करता है[3]। वाणी तथा मन को प्रवृत्ति मार्ग (वर्तन्यौ) कहा गया है[4]। अत: मनस् को भले-बुरे का निर्णय करने की शक्ति है,जिसे व्यक्त करने में वाणी सहायक होती है । उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि मनस् को विचारों का केन्द्रस्थल तथा भावों का स्रोत समझा जाता था । मनस् चेतना के रूप में विचारों का जन्मदाता है,फलत: वाणी द्वारा ही व्यक्त होता है ।

वाक्(वाणी)

ऋ०ब्रा० में होता पवित्र वाणी(वाङ्) का पूर्ण ज्ञाता तथा अधिष्ठाता माना गया है[5]। वाक् को होता तक कह दिया गया है[5]। ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि वाणी में माधुर्य की प्रतिष्ठा करने वाला एवं गम्भीर निनाद के साथ बाहर निकालते हुए ओजपूर्ण और प्रभावोत्पादक शक्ति उत्पन्न करने वाला प्राण विशेष सरस्वती देवता के नाम से प्रसिद्ध है[6]। वाणी को सरस्वती का स्वरूप कहा गया है[7]। वाणी को (दूसरा)वज्र रूप भी कहा गया है[8]। वाणी को पथ्या स्वस्ति

---

१ ऐ०ब्रा० ५.२४.४ वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्

१(क) ऐ०ब्रा० ५.२५.८ वाचा च हि मनसा च यज्ञो वर्तते ।

२ शां०ब्रा० २६.३ प्रजापति वै मन:

३ ऐ०ब्रा० २.१०.८ मनो वै दीदाय (दीप्तियुक्तं .... सर्वार्थप्रकाशकत्वात्)

४ ऐ०ब्रा० २.२५.८ वाक् च मनश्च वर्तन्यौ(प्रवृत्ति मार्गौ)

५ ऐ०ब्रा० २.६.५ वाग्यज्ञ होता ... वाचा देवेभ्यो हव्यं सम्पादयति ।

६ ऐ०ब्रा० ३.११.४ अथयत्कुर्वंश्च वाचमिव वदन् दहति तदस्य सारस्वतं रूपम् ।

७ ऐ०ब्रा० २.१ वाक्तु सरस्वती,शां०ब्रा० ५.२ वाग्वैसरस्वती ।

८ ऐ०ब्रा० ४.१६.१ वाग् हि वज्र:

९ शां०ब्रा० ७.६ अपाब्रवीत पथ्या स्वस्ति .... वाग्वै पथ्या स्वस्ति ।

भी बताया है । आख्यायिका है कि पथ्या स्वस्ति ने कहा, "मुझे एक आज्य की आहुति दो, मैं एक दिशा देखूंगी ।" उसको एक आहुति दी गई । उसने उत्तर दिशा को देखा । इसलिए उत्तर दिशा में अधिक प्रज्ञायुक्त वाक् प्रयोग होता है । उत्तर दिशा में लोग वाणी सीखने जाते हैं[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें वर्णित उत्तर दिशा से तात्पर्य वैदिक संस्कृति के उत्तरी क्षेत्र से है, जहां कुछ शिक्षा केन्द्र तब तक बन गये होंगे, जो तक्षशिला आदि जैसे विद्यापीठों का पूर्वापर रूप हो सकते हैं ।

जिस प्रकार लोहा गर्म करने से नम्र हो जाता है, उसी प्रकार (न्यूह्लख की विभूति से) वाणी विनम्रतापूर्ण हो जाती है[2] । विनम्र वाणी को अच्छा माना जाता था, इससे स्पष्ट होता है ।

वाणी को समुद्र कहा गया है[3], जैसे समुद्र जल से पूर्ण रहता हुआ क्षय नहीं होता है, उसी प्रकार वाक् भी (कवियों, विद्वानों को अक्षर प्रदान करती हुई) क्षीण नहीं होती है[4] । यज्ञ से वाक् को प्राप्त किया जाता है[5] । वाणी को सब प्राणी की राशी कहा गया है[6] । वाणी को देवताओं का मनोता कहा गया है[7] । मनोता से तात्पर्य है, जिसमें मन ओतप्रोत हो[8] । सरस्वती वाणी को आहुति देते हुए प्रार्थना की गई है, "हे वाग् सरस्वती, तुममें जो मधुरतम हो, वह हमें धारण कराओ[9] । वाक् को स्वयं दीप्तिमती और पुरोऽग् कहा गया है[10] ।

---

१ शां०ब्रा० ७.६ मह्यमेकाज्याहुतिं जुहुतामेकां दिशं प्रज्ञास्यामि.....उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शि

२ शां०ब्रा० २२.६ यथायस्तप्तं विनयेदेवं त द्वाचो विभूत्यै

३ ऐ०ब्रा० ५.२३.१ वाग्वै समुद्रो | ४ तत्रैव न व वाग्दीयते न समुद्रः

५ तत्रैव--- यज्ञं तन्वते वाचमेव तत्पुनरुपयन्ति ।

६ शां०ब्रा० २७.४ वाग्वै सर्पराज्ञी वाग्घि सर्पतो राज्ञी

७ शां०ब्रा० १०.६ वाग्वै देवानां मनोता

८ तत्रैव-तस्यां हि तेषां मनांसि ओतानि भवन्ति

९ तत्रैव--- वाक्सरस्वतीति वाग् यदे वाग् मधुमत्तमं तस्मिन्नो धधात् ।

१० शां०ब्रा० १४.५ रुचिता वै वागुस्वयम् पुरोरुग्वै वाक् ।

वाक् को उदयनीय, अनुष्टुभ और विश्वामित्र कहा है[1] तथा उल्लेख है कि वाणी से ही यज्ञ किया जाता है[2]। वाग् दीक्षा है[3]। वाक् से ही दीक्षित किया जाता है[4]। वाग् दीक्षा से दीक्षित देवता सब कामनाओं को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार यजमान भी वाग् दीक्षा से दीक्षित होकर सम्पूर्ण कामनाओं को धारण करता है[5]।

वाग् को विश्वामित्र (विश्व का मित्र, कल्याणकारी) कहा गया है[6]। वाग् पर संयम रखने वाले 'वाचंयम' पुष्ट वाणी को प्राप्त करते हैं[7]। प्राण अपान से युक्त वाणी वाङ्मय कही गई है[8]। जो आंखों से देखा, मुख से बोला और मन से संकल्प किया जाता है, सब वाग से युक्त वाङ्मय होता है[9]। अंगों से सुप्राप्य-दुष्प्राप्य जो कुछ स्पर्श किया जाता है, वह सब वाणी से कहा जाता है, अतः वह सब वाग् से युक्त होता है[10]। वाणी इन्द्र है, वाणी से रहित कोई धाम पवित्र नहीं होता[11]।

धेनु से जिस प्रकार दुग्ध प्राप्त होता है, उसी प्रकार इससे (वाग् से) यजमान के लिए सब कामनायें प्राप्त करता है[11अ]। वाग् को ब्रह्म[12], त्वष्टा[13], यज्ञ[14], राष्ट्री[15], शर्म[16], कहा गया है। वाणी को सात कहा गया है[17]। संगीत के सात स्वरों के

१- शां० ब्रा० ७.६ वागुदयनीय वागनुष्टुब । शां०ब्रा० १०.५ वाग्वै विश्वामित्रो ।

२ शां०ब्रा० ७.६; १०.५ वाचा यज्ञस्तायते ।

३ शां० ब्रा० ७.१ वाग् दीक्षा ।

४ तत्रैव-- वाचा हि दीक्षते ।

५ तत्रैव - वाचा वै दीक्षया देवाः प्राणेन दीक्षितेन सर्वान्कामानुभयतः परिगृह्याऽऽत्मन्नवधत तथा स्वैतद्यजमानो वाचैव दीक्षया प्राणेन दीक्षितेन सर्वान्कामानुभयतः परिगृह्याऽऽत्मन्धत्त ।

६ शां०ब्रा० १०.५, २६.३ वाग्वै विश्वामित्रः ।

७ शां०ब्रा० २७.६ वाचं ह वा एतदाप्याययन्ति यद् वाचंयमा आसत आपीनां वाचमभ्यासिचताम् अन्तत कथनवामिति ।

शां० ब्रा० ११.८ वाचं ह वा... प्रथमतः कथनवामिति

८ शां०ब्रा० २.७ सो यं पुरुषो यो प्राणिति वापानिति वा... वाचैव तदाह ।

९ शां०ब्रा० २.७ अथ यच्चक्षुषा पश्यति...अथ यच्छ्रोत्रेण शृणोति...यन्मनसा संकल्पते वाचैव तदाह ।

१० तत्रैव-- अथ यदंगैः सुशीमं वा दुःशीमं वा स्पृशति न तदंगैराहेति सुशीमं वा दुशीमं वा स्प्राक्षीमिति वाचैव तदाह तत्सैव आत्मा वाचमभ्येति वाङ्मयो भवति ।

११ तत्रैव-- वाग्वा इन्द्रो न ह्यृते वाचः पवते धाम किंचन ।

(अगले पृष्ठ पर देखें)

तिर सम्भवत: यह कहा गया है । तै०प्रातिशाख्य (२३.४-५) में उपांशुध्वनि व आदि सात प्रकार कहे गये हैं । पुरुष सब वाणियाँ को बोलते हैं और अन्य पशु एक एक को बोलते हैं[1]।पशु अक्षरों का उच्चारण नहीं कर पाते । अपने मनोभावों को अपने कण्ठ से स्फुरित होने वाले एक स्वर के उतार चढ़ाव आदि के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, जब कि मनुष्य अपने मुख के विविध स्थानों एवं कण्ठ से विविध प्रकार के स्वर एवं व्यंजनों का उच्चारण करते हुए वाणी को बोलते हैं । कण्ठ स्थानीय,तालु स्थानीय, मूर्धास्थानीय, दन्तस्थानीय, ओष्ठस्थानीय, अन्तस्थ तथा उष्म सात प्रकार से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों को बोलते हैं । इसी को कदाचित् सात प्रकार की वाणी कहा गया है । उपांशु रूप से बोली जाने वाली वाणी को तिरोहित के समान कहा गया है[2]।

दैववाक्य से उतर को असुर सम्बन्धिनी गिरा कहा गया है[3]।सत्य बोलने पर बल दिया गया है । सत्य को दीक्षा कहा गया है[4]। अत: दीक्षित व्यक्ति को सत्य ही बोलने का विधान है[5]। सत्य बोलने वाला देवता हो जाता है,और अनृत बोलने वाले मनुष्य होते हैं[6]। कहा गया है कि विचक्षणवती

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०११-१७)

११ ऐ०ब्रा० ६.२६.३ वाग्वै सुब्रह्मण्या ... यथाधेनुमुपह्वयेत तेन वत्सेन यजमानाय सर्वान्कामान् दुहे । सर्वान्हास्मै कामान् वाग् दुहे ।

१२ तत्रैव-वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति ।

१३ ऐ०ब्रा० २.६.४ वाग् वै त्वष्टा ।

१४ ऐ०ब्रा० ५.२४.५ वाग् वै यज्ञ:

१५ ऐ०ब्रा० १.४.२ वाग्वै राष्ट्री ।

१६ ऐ०ब्रा० २.१०.८ वाग्वैशर्म ।

१७ ऐ०ब्रा० २.७.७ सप्तधा वै वाग् अवदत

---

१ शां०ब्रा० ३०.७ पुरुष: सर्वा वाचो वदति स्वैकामितरे पशव:

२ ऐ०ब्रा० २.६.७ तिर इव वा एतद् वाचो यदुपांशु

३ ऐ०ब्रा० ३.१५.५ असुर्या ह वा इतरा गिर: ।

४ ऐ०ब्रा० १.१.६ सत्यं दीक्षा

५ तत्रैव-तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम् ।

६ तत्रैव-- ~~एतद्वै~~ सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या

शां०ब्रा० २.८ सत्यमया उ देवा ।

(चक्षु दृष्ट प्रत्यक्ष) सत्य वाणी को बोलना चाहिए[1]। इससे बोलने वाले की वाणी ही सत्य होने लगती है[2]। कहा गया है कि जो सत्य बोलता है वह सत्य स्वरूप या सत्यमय ही हो जाता है[3]। जो सत्य बोलता है, उसका वाङ्मय रूप आत्मा सत्यमय हो जाता है और वह सत्यमय और अमृतमय हो जाता है[4]। सत्य (वाक्) सत्य बोलने वाले की रक्षा करता है। अनृत उसको नष्ट नहीं करता[5]।

सत्य और अनृत को वाणी रूप स्त्री के दो स्तन कहा गया है[6]। वाणी सत्य और अनृत दोनों को आकार प्रदान करती है, जैसे स्तन अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के बालकों का पालन करते हैं[7]। घमण्डी तथा उन्मत्त व्यक्ति द्वारा बोली जाने वाली वाणी को राक्षसी वाक् कहा गया है[8]।

ऋ०ब्रा० गत देवता

ऋ०ब्रा० में सभी प्रमुख ऋग्वेदीय देवताओं का उल्लेख है। उदाहरणार्थ शुनःशेप के आख्यान में प्रजापति, सवितृ, वरुण, अग्नि, विश्वेदेवा, इन्द्र, अश्विनीकुमार तथा उषा की स्तुति की जाती है[9]। सोमपान के हेतु दौड़ में वायु, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी आदि भाग लेते हैं[10]। ३३ सोमपा तथा ३३ असोमपा देवताओं की चर्चा है[11]। यज्ञीय कर्मकाण्ड देवताओं की स्तुतियों तथा आख्यायिकाओं से भरा पड़ा है। विभिन्न अवसरों पर देवताओं के विभिन्न कृत्य दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋ०ब्रा० में ऋ० के अतिरिक्त कुछ नये देवता भी आ जाते हैं, जैसे पशुपति, उग्रदेव, भव आदि[12]। कुछ देवता ऋ० की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते

---

१ तत्रैव--विचक्षणवतीं वाचं वदेत

२ तत्रैव--तस्माद् विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत् । सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति

३ शां०ब्रा० ७.४ सत्यमेव स भवति य सत्यं वदति

४ शां०ब्रा० २.८ स सत्यं वदति तस्यायं वाङ्मय आत्मा सत्यमयो भवति... सत्य हैवास्योदितं भवति।

५ ऐ०ब्रा० ४.१६.१ अवत्येनं सत्यं नैनमनृतं हिनस्ति।

६ तत्रैव --वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते

७ ऐ०ब्रा०(क) ४.१६.१ सा वाचो... वाग्देवतायाः स्त्रीरूपाया... स्तनौ संपचेते। यदेतल्लो के सत्यवदनं यच्चानृतवदनं तदुभयमपि वाचः स्तनारूपम्।

८ ऐ०ब्रा० २.६.७ यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्

९ ऐ०ब्रा० ७.३२.४

१० ऐ०ब्रा० ४.१७.२-३

११ ऐ०ब्रा० २.७.६ त्रयस्त्रिंशद् वै देवा सोमपास्त्रयस्त्रिंशदसोमपाः

हुए भी देखे जा सकते हैं । इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ के महत्व में ह्रास भी हुआ है । यह अपने में एक रोचक विषय है । अधिक अच्छा हो, यदि ऋ० के अन्तर्गत भी यह उतार-चढ़ाव देखा जा सके, किन्तु यहां पर मन्त्रों में कालक्रम स्थापित करना सम्भव न होने के कारण इस अध्ययन में भारी कठिनाई है । ऐ०ब्रा० के प्रसंग में भी यह कठिनाई है कि यहां पर देवताओं का उल्लेख उनके कर्मकाण्डीय सम्बन्ध पर निर्भर है । फिर भी एक दृष्टिपात करने का प्रयास करेंगे ।

ऐ०ब्रा० में अग्नि को अवम तथा विष्णु को परम देवता कहा गया है[१] । स्थानगत आधार पर यह विभेद अग्नि को पृथ्वी के सबसे निकट तथा विष्णु के सर्वोच्च होने का द्योतक हो सकता है । चूंकि अब यह एक सामान्य धारणा है कि विष्णु के तीन पग सूर्य के पथ पर तीन स्थानों के परिचायक हैं, अत: इस दृष्टि से विष्णु का परम अथवा सर्वोच्च होना सार्थक प्रतीत होता है । किन्तु बात यहां तक ही समाप्त नहीं होती है । अग्नि तथा विष्णु को स्थिति के दो सिरे मानकर इनको सर्व देवता भी कहा गया है[२] । सोमयाग में अग्नि को आदि (प्रथम) तथा विष्णु को अन्त में मानते हैं । अत: अग्नावैष्णव पुरोडाश देकर अन्य देवताओं को प्राप्त हुआ मान लिया जाता है[३] । ऐसे अन्य स्थलों के देखने के उपरान्त यह प्रतीत होता है कि अग्नि का देवकुल में स्थान तो यथावत् रहा, किन्तु विष्णु का स्थान अवश्य उत्कर्ष की ओर है । बाद की प्रगति को देखकर कहा जा सकता है[४], कि इसका प्रारम्भ ऋ०ब्रा० में ही हो गया था ।

वैसे तो इन्द्र राजा है । प्रजापति उन्हें सबसे अधिक ओजस्वी, बलिष्ठ, सत् वाला कहते हैं । वायु, पूषन, वरुण, सवितृ आदि उनके कथाओं

---

१ ऐ०ब्रा० १.१.१ अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: परम:

२ ऐ०ब्रा० १.१.१ अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णु: सर्वा देवता:

३ ऐ०ब्रा० १.१.१ एते वै यज्ञस्य.... एव तद्देवानृध्नुवन्ति

४ सुधाकर चट्टोपाध्याय : इवोल्यूशन आफ दि थीस्टिक सेक्ट्स इन एन्शेण्ट इंडिया, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता, पृ०४४ ।

से बने सिंहासन को पकड़ते हैं[१]। किन्तु वह अग्नि तथा विष्णु के मध्यस्थ ही स्थान पाते हैं। सोमपान की दौड़ में वायु से हार जाते हैं तथा चतुर्थांश सोम से सन्तोष करते हैं। इसके लिए भी उन्हें वायु से याचना करनी पड़ती है[२]। ऐ०ब्रा० में अन्यत्र उल्लेख है कि जब इन्द्र असुरों को जीतने में असमर्थ रहे तो विष्णु का सहयोग प्राप्त किया और इन्द्र ने विष्णु का त्रिपदीय नाम वाला विभाजन स्वीकार किया[३]। इन्द्र को क्षात्रिय भी कहा गया है[४]। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि इन्द्र का यश तथा पराक्रम ऐ०ब्रा० वर्णित कर्मकाण्ड में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी संहिता की अपेक्षा कुछ धूमिल-सा पड़ता प्रतीत होता है। कारणों के पीछे जाना एक नया विषय होगा। अनुमानतः ऐसा लगता है कि विष्णु तथा प्रजापति का उत्कर्ष एवं ऋत्विजों द्वारा क्षात्रियत्व को मर्यादित रखना परोक्ष में इसके कारण हों।

प्रजापति एक ऐसे देवता हैं, जो ऐ०ब्रा० में एकदम उभर कर आते हैं। इससे पूर्व ऋ० के दशम मण्डल में सृष्टिकर्ता (१०.१२१.१०) के रूप में उनका उल्लेख है किन्तु अन्यत्र उनका स्थान गौण ही है। कहीं सवितृ (ऋ० ४.५३.२) तो कहीं सोम (ऋ० ९.५.९) की उपाधि के रूप में प्रजापति शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐ०ब्रा० में तो प्रजापति के कृत्यों तथा महत्त्व से ओत प्रोत है। सृष्टि सम्बन्धी सभी अवधारणाएं इन्हीं से जुड़ी हैं। प्रजापति को यज्ञ तक कह दिया गया है[५]। वे 'होता' हैं[६], छन्द प्रजापति के अंग हैं[७]। प्रजापति देवताओं में यज्ञ तथा छन्दों को विभाजित

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.१

२ ऐ०ब्रा० २.२५.१

३ ऐ०ब्रा० ६.१५.७

४ ऐ०ब्रा०(क) १.२.२ ; शां० ब्रा० १२.८ क्षत्रं वा इन्द्रः

५ ऐ०ब्रा० २.७.७

६ ऐ०ब्रा० २.७.६ प्रजापतिर्वै स्वयं होता ....।

७ ऐ०ब्रा० २.७.८ प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि

करते हैं[1]। इन्द्र ने वृत्र को मार कर तथा सम्पूर्ण विजय प्राप्त करके प्रजापति से कहा कि "मैं वह हो जाऊं जो आप हैं, मैं महान् हो जाऊं"। प्रजापति ने उत्तर दिया -- "मैं कौन(कः) होऊंगा ?" तत्पश्चात् इनका एक नाम "कः" हो गया। कहने का तात्पर्य है कि ऋ० के दशम मण्डल से प्रारम्भ होकर ऋ०ब्रा० में प्रजापति का महत्व अतिशय बढ़ जाता है। बाद के साहित्य में प्रजापति के साथ अनेक पुराकथायें जुड़ जाती हैं। इनका नाम ब्रह्मा के साथ समीकृत हो जाता है और इस प्रकार विष्णु और शिव के साथ त्रिदेवों में से एक हो जाते हैं। वास्तव में प्रजापति एक अमूर्त देव है जो किसी प्राकृतिक दृग्विषय का मानवीकृत रूप नहीं है। यह सृजनशक्ति के प्रतीक तथा यज्ञों के संरक्षक है।

मैकडोनल ग्रिसवोल्ड,ब्लूमफील्ड आदि ने ऋ० के बाद वरुण के महत्व में जो ह्रास आया है,उसको एक खेद जनक तथ्य माना है। वे वरुण को एक महत्तम देवता मानते हैं[2]। ग्रिसवोल्ड ने तो वरुण को ऋग्वेद का सबसे शालीन तत्व कहा है[3]। वास्तव में वरुण वैदिक देवकुल के प्राचीनतम विभूतियों में से है। इनकी भारतीय-इरानियन ही नहीं,भारोपीय पूर्वपीठिका है। यह ऋत के संस्थापक और यम की भांति राजा हैं। विश्व के अधिपति है तथा आचार पर नियंत्रण रखते हैं। वैदिक साहित्य के अन्त तक इनका एक क्षुद्र जल देवता रह जाना वास्तव में खेदजनक तथ्य है[4]। किन्तु ऋ०ब्रा० तक ऐसा नहीं हो पाया है। वरुण का जल से तो प्रधान सम्बन्ध जुड़ ही गया है[5],परन्तु अन्यत्र वरुण का अन्य प्रकार भी महत्व देखने को मिलता है। वह पवित्रता तथा नैतिक कठोरता के प्रतीक हैं[6]। आख्यायिका है कि असुरों से युद्ध करने के समय एक बार देवताओं ने अपने परिवारों को सुरक्षा हेतु वरुण के घर पर ही रक्खा था[7]। यही नहीं, वरुण के लिए "वरुण प्रघास"

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१२.२

२ मैकडोनल : वैदिक माइथोलोजी (अनु०रामकुमार राय),वाराणसी,पृ०४१

३ ग्रिसवोल्ड: द रिलीजन आफ ऋग्वेद, दिल्ली,पृ०३७२

४ ग्रिसवोल्ड: तत्रैव

५ शां०ब्रा० ५.४ अथ यदप्सु वरुणं यजति स्व स्वैनं तदायतने प्रीणाति

६ ऐ०ब्रा० ३.११.४ सर्वबग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् ।

७ ऐ०ब्रा० १.४.७

नामक चातुर्मास्य यज्ञ का भी विधान है । अतः वैदज्ञों का वरुण के महत्त्व के बारे में 'चिन्ता' के लिए क०ब्रा० तक कोई कारण विशेष नहीं है ।

क०ब्रा० में ऋग्वैदिक देवताओं के अतिरिक्त कुछ नवीन देवता भी सिर उठाने लगते हैं, जैसे पशुपति, उग्रदेव, भव तथा महादेव । महादेव तथा भव का प्रसंग क० में खि० सूक्तों में आया है, अन्यत्र नहीं । पशुपति तथा उग्रदेव तो नितान्त नवीन हैं । ये देवता एक नई परिपाटी का सूत्रपात करते प्रतीत होते हैं, जो रुद्रों के साथ मिलकर शैव मत के रूप में आगे के समय में विकसित होती है । प्रजापति को दण्ड देने के लिए जिस घोर तनुयुक्तवान की उत्पत्ति हुई है वह भयावह तथा अघोरी रूपधारी है, और देवताओं के घोरतम अत्युग्ररूप का एकीभूत रूप कहा गया है[1] । यहां पर यह एक चारित्रिक लक्षण है जो सब में किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहता है, उसके मानवीकरण का प्रयास है, लेकिन इस दैवीकृत रूप को वर इत्यादि देने की बात से प्रतीत होता है कि इसे अभिचारात्मक प्रक्रिया में प्रयोग किया जाता होगा[2] ।

यम तथा पितर

ऐ०ब्रा० में यम को 'पितरों का राजा' कहा गया है । यम सम्बन्धित 'यामी' के पूर्व पठन का विधान है,[3] क्योंकि राजा को पहिले पीना चाहिए। तत्पश्चात् पितरों के लिए ऋचायें पढ़ी जाती थीं[4] । पितरों को तीन कोटि में रखा है--[6] अवय, मध्यम तथा परम[5] । इन पितरों को 'स्वधा' द्वारा आहुति दी जाती थी । ऐ०ब्रा०

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.६ या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवोऽभवत्तदस्यैतद्भूतवन्नाम ।
२ ऐ०ब्रा० ३.१३.६ तं देवा... पशुमन्नाम
३ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३ यामीमेव पूर्वां शंसेत... राज्ञो वै पूर्वपेयं तस्माद् ।
४ तत्रैव
५ तत्रैव-- ये चैवावमा ये च परमा ये च मध्यमास्तान् सर्वान् अनन्तरायं प्रीणाति ।
~~६ तत्रैव-- बर्हिषदो वै स्वधया... पितृभ्योनमस्क्रियते ... एव पितृ यज्ञं संस्थापयति ...।~~

और इस प्रकार पितृ यज्ञ की स्थापना की जाती थी[1]। ऐ०ब्रा० तथा शां०ब्रा० दोनों ही में ही पितृयज्ञ का विधान है[2]। शां०ब्रा० में चातुर्मास्य यज्ञ में पितरों के लिए यज्ञ करने का उल्लेख है[3]। पितरों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। 'पंचजनों' में देवों तथा मनुष्यों के साथ पितरों का भी उल्लेख है[4]। ऋ० के अतिरिक्त यम तथा पितरों के बारे में कोई नवीन सामग्री नहीं मिलती है। यद्यपि मृत्यु तथा मरणोपरान्त जीवन कौतूहल का ही नहीं,वरन् चिन्ता का भी विषय होना चाहिए था, जैसा कि अन्य सभ्यताओं तथा उत्तरवैदिक कालीन साहित्य के देखने से ज्ञात होता है,किन्तु ऋ० की भांति ऋ०ब्रा० में भी इसके प्रति व्यग्रता तो है ही नहीं, उदासीनता सी प्रतीत होती है। यम का प्रसंग दोनों ऋ०ब्रा० में केवल चार बार आया है और वह भी महत्वपूर्ण परिस्थिति में नहीं।

यम तथा पितरों से सम्बन्धित ही स्वर्ग तथा नरक के प्रत्यय जुड़े होते हैं। स्वर्ग की चर्चा तो मिलती है[6]। उसकी दूरी को भी मंजिलों के रूप में व्यक्त किया है[5]। स्वर्ग सुख,प्रकाश तथा वैभव का द्योतक है। ओ३म् को स्वर्ग कहा है[7]। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ प्रमुख साधन है[8]। आश्चर्य की बात है कि नरक की ओर कहीं संकेत नहीं है। ऋ० की भांति ऋ०ब्रा० तक आर्यों का अध्यात्म स्वीकारात्मक था। नकारात्मकता तथा दुःखवाद के लिए स्थान नहीं था। यह एक अनूठी बात है।

---

१ तत्र-- बर्हिषदो ये स्वधया... पितृभ्यो नमस्क्रियते... एष पितृ यज्ञं संस्थापयति..

२ ऐ०ब्रा० ३.१३.१३, शां०ब्रा० ५.६,७
३ शां०ब्रा० ५.६-७
४ ऐ०ब्रा० ३.१३.७

५ ऐ०ब्रा० २.७.७ तथा शां०ब्रा० ८.६ ; २.८

६ ऐ०ब्रा० ५.२४.५ तथा अन्यत्र

७ ऐ०ब्रा० ५.२५.७ ओमिति वै स्वर्गोलोकः।

८ शां०ब्रा० ६.१५, शां०ब्रा० १४.१ स्वर्गो वै लोको यज्ञः।

ऋ०ब्रा० गत दार्शनिक विचारधारायें

ऋ०ब्रा० का दार्शनिक कलेवर अनेक प्रकार के रूपान्तरों का फल प्रतीत होता है । सचमुच ही यह वैदिक दार्शनिक परम्परा का एक प्रमुख संगमस्थल है,जहां पर कवितामयी ऋग्वेदीय अलौकिकता, अथर्वन तथा तंत्र शास्त्र के रूप में विकसित अभिचार ,रूढ़िगत कर्मकाण्ड तथा उपनिषदों में हिलोर लेता हुआ ब्रह्मवाद मिलते हैं । वैसे तो पूर्वगत ऋ० परम्परा में कोई एक निश्चित दार्शनिक विचारधारा परिलक्षित नहीं होती है,किन्तु यह चित्रवर्ण ऋ०ब्रा० के प्रसंग में और भी अधिक जटिल प्रतीत होता है । इसमें जीववाद(एनीमिज़्म),बहुदेववाद(पोलीथीज़्म), सर्वदेववाद (हिनोथीज़्म),विश्वदेववाद(पैन थीज़्म), मानव देववाद (एन्थ्रोमोर्फिज़्म) स्वभाववाद (नेचुरलिज़्म), एकत्ववाद (मोनिज़्म) एकेश्वरवाद (मोनोथीज़्म) आदि अनेक विचारधाराओं के लक्षण देखने को मिलते हैं । उदाहरणार्थ रैगोलिन को पितरों की पूजा में जीववाद,देवताओं की सर्वत्र व्यापकता में विश्वदेववाद,एक दैवी शक्ति के लिए विभिन्न नामों के प्रयोग में एकेश्वरवाद,प्रकृति के मानवीकरण में मानवदेववाद तथा प्रकृति के निश्छल वर्णन में स्वभाववाद देखने को मिला है[1]।

राधा कुमुद मुकर्जी ने ऋग्वेदीय विचारधारा में एकेश्वरवाद को ही प्रधान तत्व के रूप में पाया है,क्योंकि उन्हें अनेक स्तुतियां केवल एक ईश्वर की स्तुति प्रतीत होती है[2]। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक ही सत् है जिसको ऋषियों ने अग्नि, यम,मातरिश्वा, इन्द्र आदि के रूपों में कहा है[3]। इन्हें मुकर्जी ने प्रकृति देवता, गृह देवता ,भावात्मक देवता तथा क्षुद्र देवता के चार वर्गों में विभाजित किया है ।

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने भी ऋग्वेद में एकेश्वरवाद को ही पाया है और उनके इस निष्कर्ष का आधार भी डा० मुकर्जी के समकक्ष ही है[4]। इस प्रकार के प्रमाण ऋ०ब्रा० में भी मिलते हैं । कहा गया है कि

---

१ जे०ए० रैगोलिन : वैदिक इंडिया ,पृ०१३२-१३३ ।

२ आर०के० मुकर्जी : एंश्येण्ट इण्डिया,पृ०६२-६४ ।

३ ऋ० १.६४.४६ एकं सद्विप्रा ॰ बहुधा वदन्ति.... ।

४ दयानन्द ग्रन्थमाला(शताब्दी संस्क०)द्वितीय भाग,१६२५ई० वैदिक यन्त्रालय,अजमेर अनेनार्यैतिहासेनविज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्य स्योपासनं कुर्युः पृ०३४१ इत्यासन्निति।

जो यह सब देवता है वे अग्नि के ही रूप हैं[1]।

इससब के आधार पर ईश्वर अथवा एकेश्वरवाद के लिए उपर्युक्त स्पष्ट निष्कर्ष निकालना संदिग्धपूर्ण है। ईश्वरवाद में सृष्टि की उत्पत्ति तथा नियंत्रण के लिए एक ऐसी शक्ति का होना निहित है,जो स्वयं में पूर्ण तथा हेतु के परे है। दशम मण्डल का विराट् पुरुष इस विचार की पुष्टि के कुछ निकट अवश्य पहुंचता है,किन्तु अन्यत्र ऐसी सामग्री नहीं मिलती है। ऐ०ब्रा० वर्णित प्रजापति द्वारा सृष्टि तो इसके एकदम प्रतिकूल पड़ती है। प्रजापति तप तथा यज्ञ द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने का विधान करते हैं[2]। एक दूसरी जगह तो यौन व्यापार तथा रेतस् ही माध्यम बनता है[3]। अतः एकेश्वरवाद के सूत्र भले ही देखे जा सकें,किन्तु स्पष्ट निष्कर्षों के लिए सावधानी बरतने की जरूरत है। ब्लूमफील्ड की व्याख्या है कि ईश्वरवाद (थ्यौसोफी) के उत्कर्ष में कर्मकाण्ड से सहायता मिली,क्योंकि कर्मकाण्ड में राजन्य वर्ग के लोगों की शक्ति की अभिवृद्धि होती थी और उनको थियौसोफी की विचारधारा में अपनी स्थिति को पुष्ट करने में बल मिलता था। ब्रह्मवाद में उनकी विशेष रुचि का भी यही अर्थ लगाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार कर्मकाण्ड और थियौसोफी में सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है[4]।

ऊपर जो प्रमाण एकेश्वरवाद के समर्थन में दिये गये हैं, वे वास्तव में स्वभाववाद की पुष्टि करते हैं। स्वभाव किसी वस्तु की अन्तर्निहित प्रकृति होती है,जो उसके विशिष्ट कार्य-कारण गुण का परिचायक होती है। ऋ०ब्रा० गत कर्मकाण्ड में भी कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास सर्वत्र है; देवताओं तथा कृत्यों के गुण अथवा सामर्थ्य की ओर संकेत किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति

---

१ ऐ०ब्रा० ३.११.४ अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो य देता देवताः।

२ ऐ०ब्रा० ५.२५.७

३ ऐ०ब्रा० ३.१३.९-१०

४ मारिस ब्लूमफील्ड : `द रिलीजन आफ द वेद,पृ०२१३-२१५।

के प्रसंग में भी आकस्मिकता (यदृच्छा) अथवा किसी अदृष्टि शक्ति का हाथ नहीं है। ऋ० में स्वभाववाद के लिए समुचित अवसर तो है ही, क्योंकि वहां कवियों की विचारों की सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन है, किन्तु श०ब्रा० के कर्मकाण्ड में इसका समुचित रूप से पाया जाना विचारधारा की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सन्देह को अवसर नहीं देता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड को इच्छाओं का पूर्ति तथा पुष्टि तक का साधन मानता है। यज्ञ कृत्य हैं, उनकी प्रक्रियाएं हैं। स्वभाव के अनुसार परिणाम मिलते हैं।

स्वभाववाद के विस्तृत परिवेश में अन्य विचारधाराओं को आंका जा सकता है। एकेश्वरवाद के स्थान पर एकतत्ववाद (मोनिज़्म) को यदि सोचें तो उसके चिन्ह तो अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु वे भी स्वभाववाद के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं करते हैं। प्रकृति के मानवीकृत अथवा दैवीकृत स्वरूपों में एकात्मकता है। वैदिक देवगण एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें एक-दूसरे के प्रति नकारात्मक व्यवहार नहीं है। ऋ० में इन्द्र के व्यवहार में कुछ कुटिलता अवश्य पाई जाती है, किन्तु वह उसके गुणों से ढक जाती है। इन्द्र तात्कालिक नेतृत्व के दैवीकरण का एक यथार्थ उदाहरण है। यदि किसी देवता में कुछ चारित्रिक दुर्बलता भी देखने में आती है फिर भी वह हितैषी, स्वस्थ, सुरूप तथा उल्लासपूर्ण है। श०ब्रा० में प्रजापति जैसे प्रमुख देवता को दण्डित करने में भी कोई विवाद नहीं उठा। उनके अनैतिक व्यवहार के बारे में किसी को सन्देह नहीं था। ग्रीक देवतावों में इसके प्रतिकूल स्पर्धा तथा मानवों को अपने खिलवाड़ की सामग्री समझना पाया जाता है। इन सब तथ्यों के पीछे एक विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा होती है। वैदिक देववाद स्वभाव जनित मानव-कल्याण तथा एकात्मकता का ज्वलन्त उदाहरण है।

अन्य विचारधाराओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष निकलता है कि जीववाद से लेकर एकतत्ववाद सभी के लिए कुछ न कुछ प्रमाण दिये जा सकते हैं, किन्तु ये निष्कर्ष आंशिक ही होंगे। उदाहरणार्थ वैदिक देव प्रकृति के मूर्त तथा अमूर्त शक्तियों का मानवी अथवा दैवीकरण हैं। लेकिन बात यहीं तक नहीं रुक सकती है। सोचना पड़ेगा कि इससे आध्यात्मिक विचारधारा पर क्या प्रभाव पड़ता था। मैक्समूलर ने इन मानवीकृत देवतावों में सर्वदेववाद के लक्षण पाये। इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न देवतावों को अलग-अलग सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता

था । इसके अनुसार उनपर मन्त्र रचे जाते थे तथा उनके लिए यज्ञ होते थे । ऋ०ब्रा० गत विषयवस्तु इसकी पुष्टि करती है । देवता एक-दूसरे से स्वतंत्र तथा प्रभुता सम्पन्न है । ये अपनी-अपनी विशेषतायें रखते हैं ।

उपर्युक्त से पूरी बात स्पष्ट नहीं होती है, क्योंकि देवता में पृथकत्व नहीं है । विभिन्न देवता आपस में विभिन्न सम्पर्क स्थापित करके विभिन्न कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं । इन्द्र तथा विष्णु मिलकर असुरों से लड़ते हैं । कुछ देवता मिलकर प्रात:काल अग्निहोत्र में हवि ग्रहण करते हैं । कभी- कभी दो देव मिलकर एक मिश्रित शक्ति का मानवीकरण व्यक्त करते हैं, जैसे मित्रावरुण, इन्द्र-वरुण, इन्द्रवायु, ~~इन्द्राग्नि~~ इन्द्राग्नी, अग्नीषोम आदि । कभी-कभी सर्वशक्तिमान् देवता एक साधारण देवता पर निर्भर हो जाते हैं । अत: सर्वदेववाद के आधार पर वैदिक देवों की प्रकृति स्पष्ट नहीं की जा सकती है । यहां पर `विश्वदेव` को सम्बोधित सूक्तों की ओर ध्यान जाता है । देवों में विश्वव्यापी एकतात्मकता आवश्यक हो जाती है, जिसे विश्वदेववाद कहा जा सकता है ।

ऋ०ब्रा०काल में सर्वदेववाद से विश्वदेववाद की ओर भी समुचित प्रगति हुई प्रतीत होती है । देवताओं में एकात्मकता देखी जाने लगती है । देवताओं के पीछे ऐसी शक्ति प्रतीत होती है, जो उन्हें एकसूत्र में बांधे रहती है तथा एक उद्देश्य किये रहती है । ग्रिसवोल्ड का विचार है कि ऋग्वेद के बाद के भागों में विश्वदेववाद की एकात्मकता की ओर ठोस प्रगति हुई । उदाहरणार्थ विराटपुरुष (१०.९०) सब देवताओं को समाहित करने का प्रयास है[१] । ऋ०ब्रा० में यह कार्य कुछ सीमा तक प्रजापति करते हैं, जिन्हें यज्ञ कह दिया गया है[२] । इसके अतिरिक्त किसी एक प्रमुख देवता में अनेक देवताओं को भी समाहित करने के उदाहरण मिलते हैं । उदाहरणार्थ ऐ०ब्रा० में उल्लेख है कि जितने देवता है, वे सब अग्नि के ही शरीरभूत (तन्व:) अर्थात् रूप हैं[३] । यह जो अग्नि प्रकृष्टरूप से ज्वालायुक्त है, वह उसका वायव्य रूप है[४] । दो ज्वालाओं से युक्त होकर जलना, उसका इन्द्र वायु रूप है[५] । अग्नि का

---

१ ग्रिसवोल्ड : द रिलीजन आफ ऋग्वेद पृ०३४४-३४६
२ ऐ०ब्रा० २.७.७ प्रजापतिर्यज्ञ:
३ ऐ०ब्रा० ३.११.४ अग्ने वां एता: सर्वास्तन्वो यद्देता देवता: ।
४ ऐ०ब्रा० ३.११.४
५ ऐ०ब्रा० ३.११.४

जो यह उदर्ष और निहर्ष रूप है, वह मैत्रावरुण रूप है[1]। दाहव्य रूप को भी मित्र रूप कहा है, क्योंकि `ठंढ से व्याकुल व्यक्तियों की ठण्ड को तापने पर दूर करता है[2]। अत: मैत्रावरुण रूप से होता अग्नि का शंसन करता है। दो बाहुओं तथा दो अरणियों से मन्थन करके अग्नि की प्राप्ति उसका आश्विन रूप बताया है[3]। अग्नि का `ब ब ब' जैसा ऊंचा घोष करके जलना इन्द्ररूप कहा गया है[4]। अग्नि जो एक होते हुए बहुत प्रकार से विहरण करता है, यही उसका वैश्वदेव अर्थात् विश्व के सब देवताओं का रूप है। अत: वैश्वदेव में होता इसका शंसन करता है[5] आदि आदि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऋ०ब्रा० भी स्वयं विश्वदेवत्व की घोषणा करते हैं।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अदिति के प्रसंग में उपस्थित है, जहां कि अदिति को सब कुछ कहा गया है। उल्लेख है कि अदिति द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, पंचजना, जातम्, जनित्वम् आदि सभी कुछ है[6]। यहां पर देवता देवत्व से उतर मानवों के अति समीप आ जाते हैं, जिसे एकात्मकता का अति उत्कृष्ट रूप कहेंगे।

उपर्युक्त चर्चा ऋ० की विश्वदेवत्व की विचार धारा से सर्वथा मेल खाती है, जहां उल्लेख है कि एक सत् को ही विद्वान् अग्नि, यम, मातारिश्वा आदि कहते हैं[7]।

पहले संकेत किया जा चुका है कि ऋ०ब्रा०काल में त्रिदेव परम्परा--ब्रह्मा, विष्णु, शिव--का सूत्रपात हो गया था। प्रजापति के रूप में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के व्यक्तित्व का उद्भव होता है। विष्णु देवता के रूप में भली प्रकार पहिले से स्थापित है। उनका सूर्यरूप मन में, पादप्रक्षेप का ज्योतिषीय तथ्य पुराणों के

---

१ ऐ०ब्रा० ३.११.४

२ ऐ०ब्रा० ३.११.४

३ ऐ०ब्रा० ३.११.४

४ ऐ०ब्रा० ३.११.४

५ तत्रैव-- अथ यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपम्...तदस्य तेनानुशंसति।

६ ऐ०ब्रा० ३.१३.७ अदितिर्द्यौ.... माता सपिता सपुत्र...विश्वेदेवा अदिति:.. जातमदितिर्जनित्वम्।

७ऋ० १.१६४.४६ एकं सद् विप्रा बहुधा...मातरिश्वानमाहु:।

वामनावतार के आख्यान में तथा संरक्षक रूप पालनकर्ता तथा राजसी वैभव में परिणत हो जाता है ।

शिव तथा शैव मत के लिए भी कुछ स्पष्ट चिन्ह ऋ०ब्रा० में देखने में मिलते हैं । इस प्रसंग में दो आख्यान उल्लेखनीय हैं । ऐ०ब्रा० में प्रजापति के दण्डित करने के हेतु देवता अपने घोर रूप को मूर्त रूप देते हैं, जिसे 'भूतवत्' नाम दिया जाता है[1] । वर मांगने पर उसे 'पशुमत' कहकर पशुओं का आधिपत्य देते हैं[2] । सायण ने इसे 'रुद्र' कहा है जो उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रसंग में रुद्र से संबंधित ऋचायें पढ़ने का आदेश है[3] ।

शां०ब्रा० में प्रजापति द्वारा सहस्त्र अक्ष तथा पाद वाले व्यक्ति की उत्पत्ति का उल्लेख है[4] । नाम मांगने पर प्रजापति ने उसे क्रमश: 'भव', 'शर्व', 'पशुपति', 'उग्रदेव', 'महानदेव', 'रुद्र' 'ईशान', 'अशनि' इत्यादि कहा है[5] [6] । यद्यपि ब्रा०ब्रा० में इनके अर्थ कुछ और ही लगाये गये हैं, किन्तु बाद के साहित्य में यह सब शब्द शिव जी के पर्याय हैं । शां०ब्रा० में रुद्र या त्र्यम्बक को उत्तर दिशा का निवासी बताया है और उसी दिशा में आहुति दी जाती है[7] ।

पुनरावलोकन

ऋग्वेदीय आर्यजन प्रकृति प्रेमी थे । उसको मुक्तरूप से पूजा करते थे । उसमें अपनी और अपनी आकांक्षाओं की प्रतिच्छाया और उनको मूर्त रूप में देते थे । उनकी अवलोकन शक्ति अद्भुत थी । ऋ०ब्रा० में भी इस परम्परा का

---

१ ऐ०ब्रा० ३.१३.९ प्रजापतिर्वै....भूतवन्नाम ।
२ तत्रैव
३ ऐ०ब्रा०(क) ३.१३.९एष इतिविस्तेन प्रपश्यैतद्रौऽभिधीयते तस्मादेव कारणादस्य-
रुद्रस्य... ।
४ शां०ब्रा० ६.१
५ शां०ब्रा० ६.२-९
६ शां०ब्रा० ६.२-९ इसमें भव को 'आप:' ,शर्व को 'अग्नि'पशुपति को वायु,उग्रदेव को औषधियां,वनस्पतियां,महानदेव को आदित्य,रुद्र को चन्द्रमा,ईशान को अन्न और अशनि को 'इन्द्र' कहा गया है ।
७ शां०ब्रा० ५.७ यदुदञ्च ... तत्स्वायां दिशि प्रीणन्ति ।

सातत्य है,किन्तु उतना मुक्त तथा स्वाभाविक नहीं । रूढ़ियां बढ़ जाती हैं ।कोई मंदिर नहीं था । यज्ञ यजमान के घर पर ही होते थे,किन्तु कर्मकाण्ड सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित था । ऋग्वेद के मन्त्र प्रधानत: कर्मकाण्ड में प्रयोगार्थ रचे गये होंगे, किन्तु सभी इसी के लिए हों, स्वीकार नहीं होता है । उनमें ऐसी कविता है कि ऋ०ब्रा० में वर्णित प्रक्रियाओं में उसके आनन्द से विभोर होने के लिए कितना अवसर मिलता होगा,संदिग्धपूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ०ब्रा० के समय तक मन्त्रों तथा प्रक्रियाओं के सम्बन्ध की सहजता में समुचित कमी आ चुकी थी ।कर्मकाण्ड भी अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो गया था । यजमान तथा उसका परिवार एक मूक अभिनेता के रूप में दृष्टिगोचर होता है । ऋत्विज सर्वोपरि हुआ प्रतीत होता है । उसकी शक्ति को कहीं-कहीं तो मन्त्र तथा कृत्य से भी बढ़कर बताने की चेष्टा की गई है ।

ऋ० में नैतिक मान्यताओं पर समुचित बल दिया गया है । वरुण तथा ऋत का महत्त्व दिखाई पड़ता है, किन्तु[1] ऋ०ब्रा० में यज्ञ पर ऐसा बल दिया जाने लगता है कि इसे निर्नैतिकता का युग कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । यज्ञ को ही सब बातों में निर्णायक और आचार का मूल कहा गया है । पूरा जन-जीवन(यदि ऐसा वास्तव में होता होगा) ऐसा प्रतीत होता है कि क्रिया-कर्मों में ही फंसा सा रहता होगा । इतना अवश्य है कि आगे आने वाले समय की भांति इस समय अभिचार ने सामाजिकता की सीमा का विशेष उल्लंघन नहीं किया था, यद्यपि यह तो मानना पड़ेगा कि कर्मकाण्ड में अभिचार का अंश तो होता ही था ।

यज्ञों के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह देखने में आती है कि कहीं-कहीं अति अधार्मिक अथवा अनैतिक कृत्य भी कराये जाते थे, जिनकी प्रतीकात्मकता, यदि होगी भी,तो अति निम्न स्तर की होती थी ।अग्निष्टोम में सोम के खरीदने तथा स्वागत का अभिनय विशेष अर्थ नहीं रखता । अग्निहोत्र में गाय के दूध निकालने के कृत्य में बताये गये प्रायश्चित्त[2] तथा आहिताग्नि के लिए

---

१ लुई रेनु : रिलीजन्स आफ एन्शयेन्ट इण्डिया पृ०२८

२ ऐ०ब्रा० ७.३२.२-३

विहित अन्य प्रायश्चित भी तत्वहीन प्रतीत होते हैं[1]। प्रवर्ग्य में "महावीर"[2] कहलाने वाला पात्र जिसे यज्ञ का शिर कहा गया है, जिसमें दूध गरम किया जाता है, उसके अवयवों को शिश्न और योनि के रूप में वर्णित करना एक हास्यास्पद अभिचार है, ऐसा दृष्टिगोचर होता है। ऐसे और इससे भी अधिक अवर्णनीय कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

ऋग्वैदीय कर्मकाण्ड में सामान्यतया व्यक्तिगत स्तुतियों के लिए स्थान नहीं है। प्रारम्भिककाल में व्यक्तिगत हित तथा विशिष्टता के लिए कम अवसर होना स्वाभाविक है। यज्ञ के लिए दिन निश्चित है, दैनिक, पाक्षिक अथवा चातुर्मास्य। कुछ प्रयोजनार्थ यज्ञों का विधान है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन काम्येष्टियों का महत्व ऋग्वेद के उत्तरार्द्ध काल में विशेष रुप से बढ़ा होगा और यह श०ब्रा० में स्पष्ट हो जाता है। ऐ०ब्रा० में वर्णित राजसूय यज्ञ इस दिशा में परिवर्तन का परिचायक प्रतीत होता है। इन काम्येष्टियों के बढ़ते हुए महत्व में कुछ मत-मतान्तरों के विकास तथा सुगठन का भी योगदान प्रतीत होता है। सोमयाग, पशुयाग, आदि उपासना-पद्धतियाँ अथवा सम्प्रदायों विशेषों के साथ जुड़े कहे जा सकते हैं। राजसूय यज्ञादि राजनैतिक स्तर पर सामन्तशाही तथा क्षत्रिय वर्ग के बढ़ते हुए प्रभाव के प्रमाण हैं।

लेई रेनु का कथन है कि "वैदिक धर्म संज्ञाति रूपसे आशावादी है। प्रत्येक घटना का कारण जाना जा सकता है। आतंक से बचने के लिए कुछ याज्ञिक कृत्य किये जा सकते हैं[3]। यह स्वभाववादी दृष्टिकोण प्रदर्शित करता है, जिसका एक प्रमुख अस्त्र यज्ञ है। ऐसा श०ब्रा० में परिलक्षित होता है, किन्तु यज्ञों की सार्वभौमिकता इतनी बढ़ जाती है कि हेतु को खोजने की कमी होना स्वाभाविक है। राजन्यों की बढ़ती हुई सुदृढ़ सामन्त शाही की निरंकुशता की बाढ़

---

१ ऐ०ब्रा० ७.३२.४-८

२. शां. ब्रा. ८.३ ; ऐ. ब्रा. १.४.५ तदेतद्देवमिथुनं ... प्रजनने तेः सिच्यते ।

३ लेई रेनु : रिलीजन्स आफ एन्श्येण्ट इण्डिया पृ० ३६

में एकेश्वरवाद का भी सुत्रपात प्रारम्भ हो चला था । किन्तु साथ ही विश्वदेववाद की आगे की लड़ी के रूप में एकतत्त्ववाद के भी लक्षण प्रकट होते हैं, जो आगे चलकर ब्रह्मवाद के रूप में प्रस्फुटित हुआ । इसी समय में विष्णु की पदवृद्धि तथा उनसे अनेक
के महत्त्व को अपना तथा
उपासना पद्धतियों का जुड़ना, प्रजापति शिव रूप का विकास भी देखने में आता है, जो आगे के समय में त्रिदेवों के रूप में प्रकट होता है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि क०ब्रा०काल अनेक विचारधाराओं तथा सम्प्रदायों का ऐसा संगम काल था, जिसमें परिवर्तन स्पष्ट नहीं होता है, किन्तु आगे और पीछे के कालों को देखने से पता लगता है कि यह मध्यवर्ती समय सचमुच ही बड़े महत्त्व का रहा होगा । इसका विश्लेषण कर पाना सरल नहीं है ।

-0-

उपसंहार

वैदिक वाङ्मय में कालक्रम निर्धारण तथा उसके अनुसार विकास के चरणों को स्पष्टरूप से निश्चित कर पाना कठिन ही नहीं, सर्वथा संशयापन्न है । इसपर भी ऋ०ब्रा० काल को एक सीमा तक संधिकाल मानने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए । इस समय तक तीनों संहिताओं का संग्रह हो चुकता है, तथा इसके बाद मन्त्रों की रचना एक नई दिशा लेती है । यह सच है कि ऋ० ब्रा० काल में जिस कर्मकाण्ड का वर्णन है, उसके विकसित होने में भी समुचित समय लगा होगा, किन्तु जैसा भी यहां पर प्रस्तुत है, वह काल-विशेष (ऋ०ब्रा०काल) के लिए तो सत्य है ही । यह सन्धिकाल ऋ० के प्रथम तथा दशम मण्डल वर्णित परिस्थिति के अति निकट है । यज्ञों की निर्देशात्मक चर्चा से ऐसा लगता है मानों यह काल परिवर्तन रहित सुषुप्तावस्था में हो और लोगों में स्वतः प्रेरणा अर्थात् पहल की कमी हो । किन्तु इसके तुरन्त बाद ही अनेकानेक उपासना सम्प्रदाय ऋग्वेदीय एकात्मकता में से निकलने से लगते हैं । परोक्ष में विद्यमान ब्रह्मवाद स्पष्ट होने लगता है । ईश्वरवाद भी उभरता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ०ब्रा० की ऊपरी अचलता के नीचे हलचल छिपी पड़ी हो । फलतः ऋ०काल की परिस्थितियों की नियति तथा उत्तरवैदिक काल की उथल-पुथल के मूल को जानने हेतु इस संगमकाल का अनुवीक्षण अत्यावश्यक है । इसके अनेक पक्ष हो सकते हैं । वास्तव में तब इसके लिए एक 'टीम' चाहिए ताकि प्रत्येक पक्ष की गहराई में जाया जा सके ।

ऋ०ब्रा० काल के आगे तथा पीछे के समयों का तो समुचित अध्ययन हुआ है । जब कभी पूरे वैदिक काल का सामान्य अथवा किसी पक्ष विशेष के अनुसार अध्ययन हुए हैं, तब भी इस संधिकाल पर अध्येताओं की दृष्टि ठहरती प्रतीत नहीं होती है । यह सचमुच ही इस काल के प्रति न्यायोचित नहीं है । पाश्चात्य विद्वानों ने स्तुत्य प्रयास किए हैं, किन्तु वे अधिकांशतः अपनी सभ्यता, विशेष रूप से ईसाई मत की पृष्ठभूमि से ही मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं, जिसके कारण

दिग्भ्रम हो जाते हैं । कुछ तो अति कठोर आग्रहों से ग्रसित हो जाते हैं और यह कहने में भी नहीं हिचकते कि बिना सोम के ब्राह्मण ग्रन्थों के दश पृष्ठ नहीं पढ़े जा सकते हैं । एक शोधकर्ता के लिए वस्तुस्थिति ऐसी कैसे हो सकती है, स्पष्ट नहीं होता ।

इसकाल तक आर्यों की बस्तियों का पूर्व (प्राच्योग्रामता बहुलाविष्टा)[1] तथा दक्षिण(दक्षिणतोऽग्र ओषधय:)[2] की ओर काफी प्रसार[3] हो गया था । मध्य गंगा का काठा (ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि)तथा मालवा के पठार तक इनका प्रभाव फैल गया था । इनका अनेकानेक जनजातियों (अन्ध्र,पुण्ड्र, पुलिन्द,मूतिब आदि) से सम्पर्क हुआ । दशम मण्डल प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, जहां तक शूद्रों का सम्बन्ध है, अनेक रूप धारण करती प्रतीत होती है । दस्यु,पंचजन आदि को उसमें समाहित करने का एक अन्य प्रयास चाहिए जो दृष्टिगोचर नहीं होता ।

ऋत्विज समाज में अपने स्थान की सुरक्षा के लिए चिन्तित है,क्योंकि वह बार-बार अपने विशेषाधिकार तथा महत्व की घोषणा करता है, मानो वह किसी दिशा से पड़ने वाले दबाव से आतंकित हो । उसको दान लेने वाला(आदायी)मांगकर लाने वाला(अवसायी) तथा इच्छानुसार भेजा जाने वाला (यथा काम प्रयाप्य) भी कहा गया है । वह राजन्यों पर आश्रित है,किन्तु स्पर्धा करता है जो इस स्थिति में स्वाभाविक है । मुक्त चिन्तन का इसकाल में उसके लिए विशेष मूल्य नहीं है । अत: सब को कर्मकाण्ड,अभिचार तथा अन्धविश्वास में सराबोर रखना उसका प्रयोजन है । क्षत्रियों की शक्ति बढ़ रही है । उनको भी ऋत्विजों से मिलकर अन्य वर्गों पर प्रभुत्व के लिए कार्य करना पड़ता होगा ।वैश्य वर्ण एक सम्पन्न वर्ग के रूप में विकसित हो रहा है ।

ऋ०ब्रा०कालीन समाज पर तीन प्रमुख परिवर्तनों का प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है--कृषिकर्म की वृद्धि,सामन्ती परम्परा का संगठन तथा .

१ऐ०ब्रा० ३.१४.६

२ ऐ०ब्रा० (श) १.२.१

३ ऐ०ब्रा० ८.३८.३

कर्मकाण्ड की रूढ़िवादिता के साथ-साथ विभिन्न उपासना सम्प्रदायों का उदय । इन पक्षों के विकास का अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है ।

चारण प्रधान कृषि से निकलकर कृषि प्रधान समाज का वृद्धि काल है । इसका स्पष्ट प्रभाव परिवार पर पड़ता दृष्टिगोचर होता है । चारणयुगीय बड़े परिवारों का विघटन होने लगता है । ऋग्वैदीय रक्त संबंधित परिवारों के स्थान पर दाम्पत्तिक परिवारों का चलन बढ़ता है । पिता का स्थान परिवार में सर्वोपरि तो है,किन्तु उसके जीवित रहते सम्पत्ति का बंटवारा होने के उदाहरण मिलते हैं । ~~पारिवारिक सम्बन्धों में नये नाम प्रकट होते हैं~~ । पत्नी तथा माता की ओर के सम्बन्धों में भी विकास होता है ।

परिवार तथा सन्तान एक-दूसरे से अविभाज्य प्रत्यय से लगते हैं । सन्तान कामना तथा पुत्रों की अधिकाधिक संख्या पर काफी जोर है । यौन व्यवहार के बारे में एक अजीब विरोधाभास है । स्त्रियों के प्रति कठोरता है,किन्तु प्रजनन सम्बन्धी विवरणों में आश्चर्यजनक भोड़ापन है । जितनी शिष्ट तथा परिष्कृत भाषा अन्य कृत्यों के विवरण के लिए प्रयोग की गई है,उसके अनुरूप किंचित् मात्र ध्यान इस ओर नहीं है । प्रजापति के कृत्यों का विवरण तथा रेतस् के कारनामों में चाहे जो प्रतीकात्मकता हो, किन्तु उसमें शिष्टता के अभाव के बारे में कोई दो मत नहीं हो सकते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक पुरुष मनस् यौन व्यापार के प्रसंग में आजकल से काफी भिन्न होगा । इस सम्बन्ध में कम से कम भाषागत संयम तो कम है ही ।संस्कृतज्ञ मनोवैज्ञानिकों के लिए खोज का एक अच्छा विषय है ।

स्त्रियों का जीवन हर प्रकार से मर्यादित करने की चेष्टा है । वे बड़ों से लजाती हैं । प्रातः से सायंकाल तक परिश्रम करती हैं । गृहिणी होना आदर की बात है,किन्तु उनको हर स्तर पर पुरुषों के आश्रित होने का ही विधान है ।

परिवार में दायभाग के झगड़े पैदा होते दीख पड़ते हैं । भ्रातृत्व शब्द को शत्रु अर्थ ~~तक~~ में प्रयोग किया गया है । ऐसा होना आश्चर्य की बात

नहीं है,क्योंकि कृषि प्रधान समाज में सम्पत्ति का विभाजन एक कठिन तथा जटिल समस्या बन जाती है । इस काल तक इस सम्बन्ध में नियमों का परिष्कार न हो पाया होगा, क्योंकि एक स्थान पर बाहर गये हुए भाई को पैतृक सम्पत्ति का भाग नहीं दिया जाता है[1] ।

कृषि पर आधारित अनेक शिल्पों,व्यापार तथा व्यापार पद्धतियों का विकास हुआ है । यात्रियों के विश्राम स्थल होने का उल्लेख है । फलत: दूर-दूर तक व्यापार होता था । वस्त्रोद्योग--सूती,रेशमी (तार्प्य) तथा ऊनी उन्नतिशील था, जिससे इस सम्बन्ध में भारत की अति प्राचीन परम्परा का आभास होता है । अलंकरण की रुचि भी वैसी ही प्राचीन प्रतीत होती है । तौल-नाप के मानदण्डों से भी कुछ प्राचीन परम्परा आज तक विद्यमान प्रतीत होती है । वही अंगुल,वही वितस्ति । ऋ०ब्रा० कालीन ग्राम बहुत कुछ अबसे कुछ दशाब्द पूर्व के भारतीय ग्राम से अधिक भिन्न न रहा होगा । ऐसे तुलनात्मक विवेचनों तथा इतनी लम्बी कालावधि पर अपरिवर्तनशीलता का आवरण कैसे पड़ा रहा, जानने की आवश्यकता है ।

ऋ०ब्रा० काल में राज्यों के अनेक स्वरूप पाये जाते थे । इनका प्रदेशीय विभेद विशेष अर्थ रखता है । पूर्व में साम्राज्य,उत्तर में वैराज्य,पश्चिम में स्वाराज्य, दक्षिण में भोज्य तथा मध्यदेश में राज्य का होना बताया गया है । यह शब्द परवर्ती साहित्य में प्रयोग होते रहे हैं,किन्तु इनकी वास्तविकताओं पर प्रकाश नहीं डाला गया है । ऋ०ब्रा० के प्रसंग में ये विभेद आर्य जनों के प्रसार का रूप तथा तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन का द्योतक है । युद्धकला ,युद्ध की तैयारी तथा विविध प्रकार की विजयों(जिति,विजिति, अभिजिति,संजिति) से ज्ञात होता है कि सामन्तशाही का युग प्रारम्भ हो गया था। राष्ट्र धर्म स्थानीयता के रूप में पलने लगा होगा,क्योंकि पुरोहित पूरे `आर्यभारत` के संबोध से परिचित होते हुए भी अपने यजमान राजा से उसके सीमित राष्ट्रधर्म के हेतु यज्ञ कराता था ।

---

१ ऐ०ब्रा० ५,२२,६ नाभानेदिष्ठं संवति इति ।

राष्ट्रधर्म तथा उनके अनुरूप मान्यताओं के लिए ऋत्विज यज्ञ को ही आधार बताता है । वह अपने को राजा का शरीर(तनूरसि तन्वं मे पाहि), राष्ट्र रक्षक (राष्ट्र गोप: पुरोहित:) आदि घोषित करता है । सभा समितियों का भी उल्लेख है । यह स्पष्ट नहीं होता कि सभा,समितियों तथा पुरोहित वर्ग का पारस्परिक क्या सम्बन्ध होगा । अनुमान है कि यह दोनों एक दूसरे के देखने के लिए सम्पूरक अवश्य हों,किन्तु अन्त में सभा-समितियों की अवहेलना कराने में पुरोहित वर्ग ने राजा का साथ दिया होगा,क्योंकि यज्ञ की निरंकुशता राजा की निरंकुशता से मेल खाती है ।

ऋ०ब्रा० काल तक राजा की निरंकुशता सीमित दीखती है । राजा का उत्तराधिकार पूरी तौर पर वंशानुगत नहीं हो पाया था (अयं वै देवानामोजिष्ठो.... इममेवाभिषिंचामहै)[१] किन्तु चुनाव का अति सीमित अर्थ में ही प्रयोग होता था ।

ऋग्वेदीय आर्य भौतिक सुखों का आनन्द लेने के लिए सर्वथा उद्यत दृष्टिगोचर होते हैं । खाना-पीना,मनोरंजन,स्त्री में उनकी रुचि है । जीवन के प्रति ऐसा आशावन्त दृष्टिकोण कम देखने में मिलेगा । इस सब के अनुरूप भोज्य पदार्थ,भोजन के पात्र, वास्तुकला, चिकित्सा शास्त्र आदि सभी में प्रगति हुई प्रतीत होती है । इस सब का केन्द्रबिन्दु याज्ञिक कर्मकाण्ड है,जिससे जनजीवन ओत प्रोत दीख पड़ता है । किन्तु यह भी सत्य प्रतीत होता है कि समाज के सम्पन्न व्यक्ति ही याज्ञिक कर्मकाण्ड का नेतृत्व करते होंगे । ऋत्विज तथा सामन्त के अतिरिक्त अन्य तो समाजरूपी पहिये के आरों से अधिक मूल्य नहीं रखते होंगे । यज्ञों की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा-दीक्षा चलती थी । उनसे छोटी-मोटी हस्तकलायें भी प्रेरणा लेती थीं । ये नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के स्रोत थे ।

इसमें कोई मतभेद नहीं है कि जीवन में यज्ञों का जाल सा बिछा था । राजकर्तृक यज्ञों को छोड़कर अन्य यज्ञ जो तो व्यक्तिगत थे,जिनकी प्रक्रिया में देखकर कहना पड़ेगा कि सम्पन्न गृहस्थ ही करा पाते होंगे । ऋत्विज जिस प्रकार बढ़-चढ़कर अपनी और यज्ञों की प्रशंसा करता है, उससे सन्देह होता है

---

१ ऐ०ब्रा० ८.३८.१ अथात: ऐन्द्रो महाभिषेक: ।

कि वह और उसके यज्ञ स्वयं में अति लोकप्रिय होंगे ।

यज्ञों की प्रक्रियाओं की जटिलता तथा प्रतीकों में अभिचार के तत्व विद्यमान हैं,किन्तु इनकी गहराई तथा बहुलता के बारे में मतभेद है । इतना अवश्य है कि ऋ०ब्रा० वर्णित अभिचार(जहां कहीं पाया जाता है) गुप्तोपासना की परिधि में नहीं आता है और बाद के श्रौतसूत्रों तथा ब्राह्मणों की अपेक्षा काफी खुला तथा समाज की मर्यादा में ही है । यहां पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक कर्मकाण्ड में अभिचार में अघोरी रूप किसी अवैदिक स्रोत से आया है,क्योंकि यदि वैदिक होता, तब तो उसका सबसे घोर रूप प्रारम्भ अर्थात् ऋ०ब्रा० में होता और बाद के समय में तो उसका परिष्कार होता दीखता । किन्तु हुआ इसका उलटा ही ।

देवताओं के नाम तथा स्वभाव वैदिक जनों की कल्पना तथा मानवीकरण शक्ति के परिचायक हैं । ऋ०ब्रा० काल में इस शक्ति में प्रसार होता नहीं दिखाई पड़ता । यही नहीं, नवीन देवता जैसे भव,पशुपति,उग्रदेव तो सचमुच निम्नकोटि की कल्पनायें प्रतीत होती हैं । वरुण का उदात्त रूप देखने में नहीं आता है । इन्द्र में भी ऋग्वैदिक सबलता दृष्टिगोचर नहीं होती । प्रजापति एक नवीन देवता के रूप में दशम मण्डल में उभरते हैं,किन्तु ऋ०ब्रा० में उनकी रहस्यात्मकता समाप्त होकर "जन सम्पर्क" में लौ से प्रतीत होते हैं । ऋ०ब्रा० में अनेक उपासना सम्प्रदायों के सूत्रपात देखे जा सकते हैं । ऐसा मालूम पड़ता है कि इनमें (विशेषरूप से ऐ०ब्रा० में) विभिन्न सम्प्रदायों के उपास्यों को संग्रहीत सा कर दिया है,जिसके कारण विरोधाभास सा आ गया है । उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० में प्रजापति अनेक प्रकार से सृष्टि प्रजनन का कार्य करते दिखाये गये हैं ।

वास्तव में देखा जाय तो प्रधान देवता उपासना पद्धतियों के द्योतक से प्रतीत होते हैं, जैसे इन्द्र,वरुण,सोम आदि । कुछ देवता प्रमुख होते हुए भी सभी पद्धतियों में सम्मिलित होंगे , जैसे अग्नि,सूर्य आदि । इन देवताओं का एक संश्लिष्टीकरण सम्भवत: संहिता के सम्पादनकाल से पूर्व हुआ होगा, जिसके कारण विश्वदेववाद के एकात्मरूप ने जन्म लिया । ऋ०ब्रा० काल में सोम

से सम्बन्धित कर्मकाण्ड इस अवधारणा को बल देता है । इसके पश्चात् प्रजापति को विकसित करके ब्रह्म, विष्णु के उत्कर्ष से विष्णुवाद तथा पशुपति रुद्र आदि के संयोग से शैवमत [illegible] अवधारणा का पुनर्मूल्यांकन करने में सहायक होते हैं । इसी प्रकार यज्ञ की सर्वप्रमुखता से एकेश्वरवाद तथा देवताओं के विश्वदेव स्वरूप से उपनिषद् के ब्रह्म में एक तत्ववाद के अंकुर देखे जा सकते हैं ।

अन्त में यह कहना समीचीन होगा कि श०ब्रा० में प्रस्तुत सामग्री पर विशेष ध्यान देते हुए उपासना सम्प्रदाय, देवताओं का विकास, प्रतीकवाद, स्त्रीपुरुष सम्बन्ध, अभिचार, वर्णों का विकास आदि विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित वैदिक साहित्य पर आधारित विकासात्मक अध्ययनों की एक शृंखला दृष्टिगत होती है ।

-o-